मुनि श्रीअनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रन्थ-मालाका द्वितीय ग्रन्थ।



श्रीपरमात्मने नमः।

श्रीमदमितगति आचार्यविरचित

श्रावकाचार।



पं० भागचंद्रजीकृत वचनिका सहित।

श्रावण, वि० सं० १९७९।

ग्रंथकर्ता ।



इस ग्रंथके मूल कर्ता माथुरसंघके आचार्य अमितगति हैं। उक्त नामके दो आचार्य हुये हैं। जिनमेंसे एक तो मुंजराजाके शासनकाल विक्रमसंवत्‌की ११ वीं शताब्दीमें। जिन्होंने धर्मपरीक्षा, सुभाषितरत्नसंदोह, पंचसंग्रह तथा इस श्रावकाचार आदि ग्रंथोंकी रचना की है। ये अमितगति माथुरसंघके आचार्य माधवसेनके शिष्य थे इसबातका उल्लेख उक्त आचार्यप्रवरने प्रायः अपने सभी ग्रंथोंमें किया है। इनकी विशेष प्रशस्तिका वर्णन सुभाषितरत्नसंदोह, आदि प्रायः सभी ग्रंथोंमें है। इसलिए जिज्ञासु महोदयोंको वहांसे जानना चाहिये यहां विस्तारके भयसे और सुभाषितरत्नसंदोहमें प्रशस्तिके मुद्रित होजानेसे विशेष वर्णन नहीं किया गया है।

दूसरे अमितगति आचार्य इन्हीं अमितगतिके गुरुके गुरु आचार्य नेमिषेणके गुरु तथा देवसेनके शिष्य हुये हैं। योगसार नामक जो अमितगति कृत अध्यात्मविषयक ग्रंथ है उसके कर्ता शायद ये ही अमितगति हैं। क्योंकि योगसारकी शब्दार्थरचना तथा धर्मपरीक्षादि ग्रंथोंकी रचनामें विभिन्नताके अतिरिक्त एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि धर्मपरीक्षादि ग्रंथोंमें माधवसेनके शिष्य अमितगतिने अपने नामका उल्लेख प्रायः सभी अध्यायों परिच्छेदोंके अन्तमें अन्य शब्दोंके विशेषणरूपमें किया है। परन्तु योगसारके किसी अधिकारमें ऐसा नहीं है, सिर्फ एक अंतिम श्लोकमें अपना नाम स्पष्ट प्रकट किया है,—जैसेः—

> दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानं
> निःसंगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम्।
> ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृत स्वेषु चात्मप्रतिष्ठं
> नित्यानंदं गलितकलिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यम्॥

* अतिरिक्त धर्मपरीक्षादि सभी ग्रंथोंमें अमितगतिने अपने गुरुका स्मरण किया है परन्तु योगसारमें नहीं। इसलिये योगसारके कर्ता देवसेनशिष्य अमितगति ही होने चाहिये।

भाषाटीकाकार ।

इस ग्रंथकी हिन्दीभाषाटीकाके कर्ता पंडित श्री भागचन्द्रजी हैं । आप ईसागढ़ ज़िला ग्वालियरके रहनेवाले ओसवाल जैन थे । परन्तु आप दिगम्बर जैनधर्मके ही कट्टर अनुयायी थे । आप बीसवीं शताब्दीके अच्छे गण्यमान्य जैनविद्वानोंमेंसे हैं । आप संस्कृत एवं हिन्दीभाषाके प्रतिभाशाली विद्वान् एवं कवि थे। संस्कृतमें आपका बनाया हुआ महावीराष्टक स्तोत्र है। जो सर्वत्र प्रचलित है। आपने अमितगतिश्रावकाचार, उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला, प्रमाणपरीक्षा, नेमिनाथपुराण और ज्ञानसूर्योदयनाटक इन ग्रंथोंकी भाषा वचनिका की है । और उत्तमोत्तम अनेक भावपूर्ण पद भजन बनाये हैं । जिनका संग्रह छप भी चुका है । आप प्रतिभाशाली, प्रौढ़, धर्मिष्ठ एवं अनुभवी विद्वान् थे ।

हिन्दीभाषा ।

इस ग्रंथकी हिन्दी भाषा जैसी थी वैसी ही रक्खी गई है। नवीन बोलचालकी हिन्दीमें परिवर्तित नहीं की गई है क्योंकि भाषा परिवर्तन करदेनेसे भाषाटीकाकारकी कृतिका ज्योंका त्यों आस्वादन नहीं होता और स्वाध्यायप्रेमी सज्जनोंको यथापूर्व भाषासे ही विशेष आनन्द होताहै ।

निवेदक,
राजमल बड़जात्या,
मंत्री
मुनि श्रीअनंतकीर्ति दि॰ जैन ग्रंथ माला ।

आषाढ़ शुक्ला अष्टमी
वि॰ संवत् १९७९



जे पंचविध आचार निर्मल पंच अग्नि सु साधने,
पुनि द्वादशांग समुद्र अवगाहन सकल भ्रम वाधने।
वर सूरि संत महंत विधिगण हरणको अतिदक्ष हैं,
ते मोक्षलक्ष्मी देहु हमकों जहां नांहि विपक्ष हैं ॥ ३ ॥

जो घोर भव कानन कुअटवी पापपंचानन जहां,
तीक्षण सकलजन दुःखकारी जासकों नरगण महा।
तहं भ्रमत भूले जीवकों शिवमग बतावें जे सदा,
तिन उपाध्याय मुनींद्रके चरणारविंद नमूं सदा ॥ ४ ॥

विन संग उग्र अभंग तपतें अंगमें अति छीन हैं,
नहिं हीन ज्ञानानंद ध्यावत धर्मगुरु प्रवीन हैं।
अतितपोकमलाकलित भासुर सिद्धपद साधन करें
ते साधु जयवंतो सदा जे जगतके पातिक हरें ॥ ५ ॥

दोहा।

जिनवर सिद्धाचार्य पुन उपाध्याय मुनिराय।
नमस्कार गुरु पंचकों होउ सदा सुखदाय ॥ १ ॥
जयवंतो जिनधर्म सो वीतरागपरिनाम।
दुर्गतिपातनतें जीवकों काढि धरें शिवधाम ॥ २ ॥
वंदूं पुन जिनवचनकों जाके स्यात्पद केतु।
[illegible] प्रनासें भ्रम हरें भवजनकों सुख हेतु ॥ ३ ॥
भवन भवन गतादिविन जिनप्रतिमा अभिराम।
[illegible] अकृत्रिम हैं जहां तहं नित करूं प्रनाम ॥ ४ ॥
[illegible] नागपुर जिम कृत्रिम पावनहार।
[illegible] जिनगेहकूं वंदूं [illegible]

इम नय देव:प्रणाम करि निजमतके अनुसार ।
ग्रंथ श्रावकाचारकी रचूं वचनिका सार ॥ ६ ॥

ऐसें मंगल करि श्री अमितगत्याचार्यकृत श्रावकाचारकी वचनिका करिये है । तहाँ जो ज्ञानकी मंदतातैं हीनाधिक अर्थ होय ताकौं विशेषज्ञानी सुधार लीज्यो, मोकौं मंदबुद्धी जानि हास्य मति कीज्यो यह विशेषज्ञानीनतैं मेरी परोक्ष प्रार्थना है ॥

उपजातिछंद ।

नाशाकृतानि प्रभवंति भूयस्तमांसि यैर्दृष्टिहराणि सद्यः ।
ते शाश्वतीमस्तमयानभिज्ञा जिनेंदवो वो वितरंतु लक्ष्मीम् ॥१॥

अर्थ—ते श्रीजिनरूप चंद्रमा तुम्हारे शाश्वती जो मोक्षलक्ष्मी ताहि विस्तारहु । कैसे हैं जिनचंद्र अस्तकिये है अज्ञानी परवादी जिननें । बहुरि जिनकरि शीघ्र ही दूरि किये सम्यक्दृष्टिके हरणेवाले मोह अंधकार ते फेर न होय हैं ॥ १ ॥

विभिद्य कर्माष्टकशृंखलं ये गुणाष्टकैश्वर्यमुपेत्य पूतम् ।
प्राप्तास्त्रिलोकाग्रशिखामणित्वं भवंतु सिद्धा मम सिद्धये ते ॥ २ ॥

अर्थ—ते श्री भगवान मेरे सिद्धिके अर्थ होऊ । जे सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप सांकलकूं छेदि करि अर सम्यक्त्वादि अष्ट गुणरूप पवित्र ऐश्वर्यकौं प्राप्त होय तीन लोकके चूडामणिपनेकौं प्राप्त भये हैं ॥ २ ॥

ये धारयंते चरितं विचित्रं स्वयं चरंतो जनमर्चनीयाः ।
आचार्यवर्या विचरंतु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविंदे ॥ ३ ॥

अर्थ—ते आचार्यवर्य कहिये आचार्यनिविषैं प्रधान आचार्य आनंदका देनेवाला जो मेरा हृदयकमल ता विषैं विचरहु । कैसे हैं आचार्य -

जे नानाप्रकार चारित्रकौं आचरन करते संते लोककौं आचरन करावैं हैं याहीतैं पूजनीक हैं। भावार्थ—वीतरागरूप धर्मकौं आचरण करैं हैं अर दयालु होय औरनिकौं आचरन करावैं है तेही वीतराग भावनिके वांछकनि करि पूजनीक हैं अर ते ही ज्ञानानंदके कारन हैं। बहुरि इनतैं विपरीत अन्यरागद्वेषभावसहितहैं ते आचार्य नांहीं ॥ ३ ॥

येषां तपःश्रीरनघा शरीरे विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धिः।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनंतु तेऽध्यापकपुंगवा वः ॥ ४ ॥

अर्थ—ते उपाध्यायनिविषैं प्रधान उपाध्यायभगवान तुमकौं पवित्र करहु। कैसे हैं उपाध्याय, जिनके शरीरविषैं पापरहित तपोलक्ष्मी तिष्ठै है, अर जिनके चित्तविषैं भेदविज्ञान करनेवाली तत्वबुद्धि तिष्ठै है, अर मुखकमलविषैं सरस्वती कहिये जिनवाणी तिष्ठै है।

भावार्थ—मन वचन कायरूप तीनों योग जिनकैं निर्मल भये हैं ॥४॥

कषायसेनां प्रतिबंधिनीं ये निहत्य धीराः शमशीलशस्त्रैः।
सिद्धिं विबाधां लघु साधयंते ते साधवो मे वितरंतु सिद्धिम् ५

अर्थ—ते साधु हमारे अर्थि सिद्धि जो मोक्ष ताहि देहु। कैसे हैं ते साधु, जे धीर समशीलरूप शस्त्रनिकरि सिद्धिकी रोकनेवाली क्रोधादिकषायनकी सेनाकौं शस्त्रनितैं नाशकरि अपनी सिद्धिकौं साधैं हैं तैसें साधु कषायनिकौं क्षमादिभावनितैं नाशकरि परमनिराकुल अवस्थाकौं साधैं है ॥ ५ ॥

विभूषितोऽलंकारं यया शरीरे विमुक्तिकांतां विदधाति वश्याम्।
सा दर्शनज्ञानचरित्रभूषा चित्ते मदीये स्थिरतामुपैतु ॥ ६ ॥

अर्थ—सो दर्शन ज्ञान चारित्ररूप भूषण मेरे चित्तविषैं सदा स्थिरताकौं प्राप्त होहु। जिस आभूषणकरि भूषित जो जीव है सो शीघ्र ही मुक्तिस्त्रीकौं वश करै है।

भावार्थ—जैसें सुंदर शृंगारसहित पुरुषके स्त्री वशी होय है तैसें दर्शन ज्ञानसहित आत्माके ज्ञानानंदस्वरूप अवस्था प्राप्त होय है ॥ ६ ॥

मातेव या शास्ति हितानि पुंसो रजः क्षिपंती दधती गुणानि ।
समस्तशास्त्रार्थविचारदक्षा सरस्वती सा तनुतां मतिं मे ॥७॥

अर्थ—सो सरस्वती मेरी बुद्धिको विस्तारहु। कैसी है सरस्वती, जो पुरुषकौं माताकी ज्यों हित जे कल्याणके कारण तिनहि सिखावै है, अर रज जो अज्ञान ताहि दूरावै है, अर गुणनिकौं पुष्ट करै है, अर समस्त शास्त्रनिके अर्थके विचारविषैं प्रवीण है।

भावार्थ—अनेकांतमयी जो जिनवाणी ताका नाम सरस्वती है। सो जैसें चतुर माता पुत्रकौं लौकिक हिताहितके कारण सिखावै है, अर अंगकी धूलि झारै है अर सुख बढावै है। तैसें जिनवाणी मोक्षमार्गविषैं हिताहित सिखावै है अर अज्ञान दूरि करै है अर ज्ञानानंद पुष्ट करै है ऐसा जानना ॥ ७ ॥

शास्त्रांबुधेः पारमियर्ति येषां निषेवमाणः पदपद्मयुग्मं ।
गुणैः पवित्रैर्गुरवो गरिष्ठाः कुर्वंतु निष्ठां मम ते वरिष्ठाम् ॥८॥

अर्थ—जिनके चरणकमलकौं सेवता संता पुरुष शास्त्रसमुद्रके पारकौं प्राप्त होय है, ते पवित्र गुणनि करि गुरुवे ऐसे श्री गुरु मेरे श्रेष्ठ निष्ठाकूं करहु ॥ ८ ॥

उपासकाचारविचारसारं संक्षेपतः शास्त्रमहं करिष्ये ।
शक्नोति कर्तुं श्रुतकेवलिभ्यो न व्यासतोऽन्योऽपि कदाचनापि ॥९॥

अर्थ—मैं जो हूं शास्त्रकार सो श्रावकाचारके विचारका सारभूत शास्त्रको संक्षेपतै करूंगा। जातैं श्रुतकेवलिनितैं अन्य दूजा पुरुष विस्तार करनेकूं कदाचित् समर्थ नहीं है।

भावार्थ—विस्तारसहिततो श्रुतकेवलीके सिवाय दूजा कौन कहै; मैं सो संक्षेपरूप श्रावकाचार कहूंगा ॥ ९ ॥

क्षुद्रस्वभावाः कृतिमस्तदोषां निसर्गतो यद्यपि दूषयंते ।
तथापि कुर्वंति महानुभावास्त्याज्या न यूकाभयतो हि शाटी ।१०।

अर्थ—जो पुनः नीचपुरुष निर्दोष कार्यकौं स्वभावहीतैं दूषन लगावैं है तौ भी महान पुरुष कार्यकौं करैं हैं, जातैं यूकानके भयतैं साडी त्यागने योग्य नांही ।

भावार्थ—दुष्टनिके भयतैं सज्जन उत्तम कार्यकौं न त्यागैं जैसैं लोक यूकानके भयतैं वस्त्र न त्यागैं ऐसा जानना ॥ १० ॥

संसारकांतारमपास्तसारं बंभ्रम्यमाणो लभते शरीरी ।
कृच्छ्रेण नृत्वं सुखशस्यबीजं प्ररूढदुःकर्मशमेन भूतं ॥ ११ ॥

अर्थ—साररहित संसारवनविषै अतिशयकरि भ्रमता यहु जीव है सो कष्टकरि मनुष्यपना पावै है । कैसा है मनुष्यपना, नित्यही सुखरूप धान्यका बीजसमान, अर फैल रह्या जो पापकर्म ताके उपशम करि उपज्या ऐसा है ।

भावार्थ—इस असारसंसारविषै मनुष्यपना दुर्लभ है बड़े पापके उपशम करि होय है, जातैं इस ही करि मोक्षका कारन तपश्चरणादि होय सकै है ॥ ११ ॥

नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसें मनुष्यनिविषैं चक्रवर्त्ती प्रधान है, अर देवनिविषैं इंद्र प्रधान है, अर मृगनिविषैं सिंह प्रधान है, अर व्रतनिविषैं प्रशमभाव प्रधान है, अर पर्वतनिविषैं मेरु प्रधान है; तैसैं भवनिविषैं मनुष्यभव प्रधान है ॥ १२ ॥

त्रिवर्गसारः सुरनरत्नखानिर्धर्मः प्रधानो भवतीह येन।
सम्यक्त्वशुद्धाविव धर्मलाभः प्रधानता तेन मताग्य मद्भिः॥१३॥

अर्थ—जैसैं सम्यक्त्वकी शुद्धिता होतैंसतैं धर्मका लाभ होय है तैसैं इस नरभवविषैं त्रिवर्ग जे धर्म अर्थ काम तिनविषैं सार अर सुरनरत्नकी खानि ऐसा प्रधान धर्म होय है; ता कारण करि इस नरभवकी प्रधानता संतनि करि मानी है।

भावार्थ—साक्षात् मोक्षका कारण धर्म नरभवविषैं ही होय है तातैं नरभव उत्तम कह्या है॥ १३॥

यथा मणिर्मायमणोप्यनर्घ्यो यथा कृतज्ञो गुणवत्सु लभ्यः।
न सारवत्त्वेन तथांगिवर्गः सुरेन मानुष्यभवो भवेषु॥ १४॥

अर्थ—जैसैं पाषाणनिके समूहविषैं अमोलक रत्न सुलभ नांही तथा जैसे गुणवाननविषैं कृतज्ञ सुलभ नांही, तैसैं सारवानपनैं करि सुरकरि सहित भवनिविषैं मनुष्यभव सुलभ नांही।

भावार्थ—सर्व संसारविषैं तपश्चरणादिकके साधनपनैं करि सारभूत मनुष्यभव पावना अति कठिन है॥ १४॥

शमेन नीतिर्विनयेन विद्या शौचेन कीर्तिस्तपसा सपर्या।
विना नरत्वेन न धर्मसिद्धिः प्रजायते जातु जनस्य पथ्या॥१५॥

अर्थ—जैसैं शमभावविना नीति न होय, अर विनयविना विद्या न होय, अर शौच करिये निर्लोभपना ताविना कीर्ति न होय, अर तपविना पूजा न होय; तैसैं मनुष्यपनें विना जीवकै, हितरूप धर्मकी सिद्धि कदाचित् न होय है॥ १५॥

अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं नयेन राज्यं लवणेन भोज्यम्।
धर्मेण हीनं बत जीवितव्यं न राजते चंद्रमसा निशीथं॥ १६॥

अर्थ—जैसें अन्न करि हीन शरीर, अर नेत्रनि करि हीन मुख, अर नीतिकरि हीन राज्य, अर लवण करि हीन भोजन, अर चंद्रमा करि हीन रात्रि न सोहै; तैसें धर्मकरि हीन जीवितव्य नहीं सोहै है ॥१६॥

शस्येन देशः पयसाब्जखंडं शौर्येण शस्त्री विटपी फलेन।
धर्मेण शोभामुपयाति मर्त्यो मदेन दंती तुरगो जवेन ॥ १७॥

अर्थ—जैसें धान्यकरि देश, अर जलकरि कमलनिका वन, अर शूरवीरपनें करि शस्त्रधारी, अर फलकरि वृक्ष, अर मद करि हस्ती, अर वेगकरि घोड़ा शोभाकों प्राप्त होय है तैसें मनुष्य धर्मकरि शोभाकों प्राप्त होय है ॥ १७ ॥

मानुष्यमासाद्य सुकृच्छ्रलभ्यं न यो विबुद्धिर्विदधाति धर्मम्।
अनन्यलभ्यं स सुवर्णराशिं दारिद्र्यदग्धो विजहाति लब्ध्वा १८

अर्थ—जो बुद्धिरहित पुरुष कष्टकरि पावने योग्य जो मनुष्यपना ताहि पाय करि धर्मकों न धारैहै सो दारिद्र्य करि पीडित नर अन्य करि न पावने योग्य ऐसी पाई जो सुवर्णकी राशि ताहि तजैहै। भावार्थ—न ग्रहैहै ॥ १८ ॥

अनादरं यो वितनोति धर्मे कल्याणमालाफलकल्पवृक्षे।
चिंतामणिं हस्तगतं दुरापं मन्ये स मुग्धस्तृणवज्जहाति ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष कल्याननिकी माला जो पंगति सोही भये फल ताके देनेकौं कल्पवृक्षसमान जो धर्म ता विषैं अनादरकौं विस्तारैहै, सो मूढ दुःखकारी पावनें योग्य हस्तविषैं आया जो चिंतामणि ताहि तृणकी ज्यों तजैहै, ऐसी मैं मानूं हूं ॥ १९ ॥

दुःखानि सर्वाणि निहंतुकामैर्निःपीडितप्राणिगणानि धर्मः।
उपासनीयो विधिना त्रिधिज्ञैरग्निर्हिमानीव दुरुत्तराणि॥ २० ॥

अर्थ—पीडित किये हैं जीवनिके समूह जिननैं ऐसे जे समस्त दुःख तिनहि नाश करनेंकी है इच्छा जाकें ऐसे पुरुषनि करि विधिसहित विधिके जाननेवालेनि करि धर्म सेवना योग्य है; जैसें दुःख करि उत्तरे जाय ऐसे जाडेनकों नाश करनेके वांछकनि करि अग्नि सेवन योग्य है तैसें।

भावार्थ—जैसें शीत मेटे चाहत हैं तिनकरि अग्नि सेवना योग्य है, तैसें मिथ्याज्ञानजनित परद्रव्यनिकी तृष्णारूप दुःखकों दूर करे चाहैं हैं तिन करि धर्म सेवना योग्य है ॥ २० ॥

शस्यानि बीजं सलिलानि मेघं घृतानि दुग्धं कुसुमानि वृक्षं।
कांक्षत्यहान्येष विना दिनेशं धर्मं विना कांक्षति यः सुखानि २१

अर्थ—जो पुरुष धर्म विना सुखनिकों चाहे है सो यहु बीज विना धान्यनिकों चाहे है, अर मेघविना जलनिकों चाहे है, अर दुग्धविना घृतनिकों चाहे है, अर वृक्ष विना फूलनिकों चाहे है, अर सूर्य विना दिनकों चाहे है।

भावार्थ—जैसें बीजादिक हैं ते धान्यादिकनिके कारण हैं तैसें धर्म सुखनिका कारण है, अर कारण विना कार्यकी उत्पत्ति चाहे है सो होय नांही तातैं पुरुषार्थीनिकरि धर्मका संग्रह करना योग्य है ॥ २१ ॥

आयांति लक्ष्म्यः स्वयमेव भव्यं धर्मं दधानं पुरुषं पवित्राः।
प्रसूनगंधप्रथिताखिलाशं सरोजिनीखंडमिवालिमाला ॥ २२ ॥

अर्थ—फूलनिकी सुगंध करि व्याप्त करी है समस्त दिशा जानैं ऐसा जो कमलनीनिका वन ता प्रति जैसें भौंरानिकी पंकति स्वयमेव आय प्राप्त होय है तैसें धर्मकों धारन करता जो भव्यपुरुष ता प्रति पवित्र लक्ष्मी स्वयमेव आय प्राप्त होय है ॥ २२ ॥

निषेवते यो विषयं निहीनो धर्मं निराकृत्य सुखाभिलापी।
पीयूषमत्यस्य स कालकूटं सुदुर्जरं खादति जीवितार्थी॥ २३॥

अर्थ—जो नीच पुरुष धर्मका निराकरण करि सुखका अभिलाषी विषयनिकों सेवै है सो अमृतकों त्यागि करि जीवनेका अर्थी प्रबल कालकूट विषकूं खाय है॥ २३॥

भोगोपभोगाय करोति दीनो दिवानिशं कर्म यथा सयत्नः।
तथा विधत्ते यदि धर्ममेकं क्षणं तदानीं किमु नैति सौख्यम् २४

अर्थ—जैसैं यहु दीन भया संता यत्नसहित रातदिन भोगोपभोगके अर्थ कर्म करै तैसैं जो क्षणमात्र भी धर्मकों धारै तौ कहा सुखकौं प्राप्त नहीं होय, होय ही होय॥ २४॥

ये योजयंते विषयोपभोगे मानुष्यमासाद्य दुरापमज्ञाः।
निकृत्य कर्पूरवनं स्फुटं ते कुर्वंति वाटीं विषपादपानां॥ २५॥

अर्थ—जो अज्ञानी दुःख करि पावनें योग्य जो मनुष्यपना ताहि पाय करि विषयभोगनि विषैं लगावै हैं, ते प्रगट कर्पूरके वनकूं काटि करि विषवृक्षनिकी वाडी करैं हैं॥ २५॥

गृह्णंति धर्मं विषयाकुला ये न भंगुरे मंक्षु मनुष्यभवे।
प्रदह्यमाने भवनेऽग्निना ते निःसारयंते न धनानि नूनं॥ २६॥

अर्थ—जे विषयनि विषैं आकुलित जन क्षणभगुर जो मनुष्यभव ता विषैं शीघ्र धर्मका ग्रहण न करैं हैं, ते निश्चयतैं अग्नि करि घर जलते संतैं धननिकौं न निकासैं हैं॥ २६॥

सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽमी भवंति धर्मेण विना न पुंसः।
तिष्ठंति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः कालं कियंतं खलु मूलहीनाः॥२७॥

अर्थ—पुरुषके ये सुखकारी सब ही पदार्थ धर्म बिना न होय हैं, जैसें फल फूलनि करि सहित वृक्ष जडरहित निश्चयकरि कितने काल तिष्ठै? तिष्ठै भी रहै नांही ॥ २७ ॥

मोक्षावगानस्य सुखस्य पात्रं भवंति भव्या भवभीरवो ये ।
भवंति भव्या जिननाथदृष्टं धर्मं निरास्वादमदूषणं ते ॥ २८॥

अर्थ—जे संसारतें भयभीत भव्यजीव जिननाथ करि उपदेश्या जो धर्म ताहि भक्तिसहित सेवै हैं, ते मोक्षपर्यंत सुखके भाजन होय हैं। कैसा है धर्म, नांही है इंद्रियजनित विषयनिका आस्वाद जाविषैं, अर रागादि दूषन करि रहित ऐसे।

भावार्थ—जे पुरुष विषयरहित निर्दोष धर्म सेवै हैं ते चक्रवर्त्ती इंद्र अहमिंद्र मोक्षपर्यंत सुख पावैं हैं ॥ २८ ॥

लक्ष्मीं विधातु सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं ।
परीक्ष्य गृह्णंति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वंचनभीतचित्ताः ॥ २९ ॥

अर्थ—समस्त लक्ष्मीके रचनेंकूं समर्थ, अर महादुर्लभ, अर समस्तका हित उपजावनें वाला ऐसा जो धर्म ताहि विचार विषैं प्रवीन अर ठिगायवे करि भयभीत हैं चित्त जिनके ऐसे पुरुष हैं ते सुवर्णकी ज्यों परीक्षा करि ग्रहण करैं हैं।

भावार्थ—धर्म धर्म सब ही कहैं हैं परंतु परीक्षाप्रधान है ते असाधारण लक्षणतें परखि ग्रहण करैं हैं ॥ २९ ॥

स्वर्गापवर्गामलसौख्यखानिं धर्मं ग्रहीतुं परमो विवेकः ।
सदा विधेयो हृदये प्रविष्टैर्बुधैस्तु तं रत्नमिवापदोषं ॥ ३० ॥

अर्थ—स्वर्ग मोक्षके निर्मल सुखनिकी खानि जो धर्म ताहि ग्रहण करनेंकौं पंडित जन करि हृदयविषैं परम विवेक सदा करने योग्य है। बहुरि ज्ञानवान तिस धर्मकौं निर्दोष रत्नकी ज्यों ग्रहण करैं हैं ॥३०॥

तं शब्दमात्रेण वदंति धर्मं विश्वेपि लोका न विचारयंते ।
स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभिद्यते क्षीरमिवार्चनीयं ॥ ३१ ॥

अर्थ—तिस धर्मको शब्दमात्र करि सब ही लोक कहैं हैं, अर विचार न करै है। बहुरि सो पूजनीक धर्म शब्दकी समानता होतैं भी नानाप्रकारके भेदनि करि भेदरूप कीजिये है।

भावार्थ—जैसैं आकका दूध गायका दूध नाममात्र तौ समान है, परंतु गुणनि करि बड़ा भेद है, तैसैं धर्म धर्म तौ सब कहै है, परंतु वीतरागभावरूप जिनधर्मविषैं अर अन्य धर्म विषैं बड़ा अंतर है ॥ ३१ ॥

हिंसानृतस्तेयपरांगसंगग्रंथग्रहा दत्तदुरंतदुःखाः ।
धर्मेषु येष्वत्र भवंति निंद्यास्ते दूरतो बुद्धिमता विवर्ज्याः ॥३२॥

अर्थ—इहां जिन धर्मनिविषैं निंदनीक अर दिये हैं महादुःख जिनने ऐसे हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रहरूप पिशाच हैं ते धर्म बुद्धिवान करि दूरितैं त्यागने योग्य हैं ॥ ३२ ॥

निहन्यते यत्र शरीरिवर्गो निपीयते मद्यमुपास्यते स्त्री ।
घेसूद्यते मांसमनर्थमूलं धर्मस्य मात्रापि न तत्र नूनं ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस विषैं जीवनिके समूह हनिए है, अर मदिरा पीइये है, अर परस्त्री भोगिए है, अर अनर्थका मूल मांस भखिये है, तहां निश्चय करि धर्मका अंश नाहीं है ॥ ३३ ॥

घरादय कल्मषदंनरो ये न सेवितास्ते वितरंति धर्मम् ।
न कोद्रवा क्वापि वसुंधरायां निर्धायमाना जनयंति शालीन् ३४

अर्थ—जे पापके कारण हिंसादिक ते सेये संते धर्मको न विस्तारै हैं। जैसे कोद्रू पृथ्वीविषै बोये संते कहूं भी धान्य न उपजावै है तैसैं ॥ ३४ ॥

हिंसापरस्त्रीमधुमांससेवां कुर्वंति धर्माय विबुद्धयो ये।
पीयूषलाभाय विवर्द्धयंते विपद्रुमांस्ते विविधैरुपायैः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जे दुर्बुद्धि धर्मके अर्थ हिंसा परस्त्री मधु मांसका सेवन करै हैं ते अमृतके अर्थि नाना उपायनि करि विषवृक्षनिकौं बढावैं हैं ॥ ३५ ॥

यैर्मद्यमांसांगिवधादयोऽपि निर्माणयुक्ताः कुशलाय शास्त्रैः।
आकर्णनीयानि न तानि दक्षैः शत्रूदितानीव वचांसि जातु ॥३६॥

अर्थ—जिन शास्त्रनि करि मद्य मद्य मांस जीवहिंसादिक करि रचेभये मंगलके अर्थ कहे, ते शास्त्र शत्रुके वचननिकी ज्यौं पंडितनि करि कदाचित् सुनना योग्य नांही ॥ ३६ ॥

पठंति शृण्वंति वदंति भक्त्या स्तुवंति रक्षंति नयंति वृद्धिं।
ये तानि शास्त्राण्यनुमन्यमानास्ते यांति सर्वेऽपि कुयोनिमज्ञाः ३७।

अर्थ—जे पुरुष तिन पापरूप शास्त्रनिकौं नमते संते भक्ति करि पढै हैं सुनै हैं कहै हैं स्तुति करै हैं रक्षा करै हैं वृद्धिकौं प्राप्त करै हैं, ते सर्व ही अज्ञानी कुगतिकौं प्राप्त होय हैं, नरक तिर्यंचादि गतिनमें अनंतकाल भ्रमै हैं ॥ ३७ ॥

धर्मं ददंतेऽगिवधादयोऽमी विधीयमाना यदि नाम तथ्यं।
सांसारिकाचारविधौ प्रवृत्ता न पापिनः केऽपि तदा भवंति ३८

अर्थ—ये जीवहिंसा आदि करि भये जो प्रगटपनें सत्यार्थधर्मकौं देय हैं तौ लौकिक आचारकी विधि विषै प्रवर्त्तते कोई भी पापी न होय।

भावार्थ—जो हिंसादिक ही धर्म होय तौ कसाई भील धीवर इत्यादिक सर्व ही धर्मात्मा ठहरैं। तातैं हिंसादिक हैं ते धर्म नांही ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

महाभयानक है नक्रादिकके समूह जा विषैं ऐसे समुद्रकूं नाव विना तैरना चाहे हैं ॥ ४५ ॥

येषां प्रसादेन मनःकरींद्रः क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः।
भजंति ये तान् गुणिनो न भक्त्या तेभ्यः कृतघ्ना न परे भवंति ४६

अर्थ—इहां लोकविषैं जिनके प्रसादकरि मनरूप गजेंद्र क्षणमात्र करि वश होय है, तिन गुणवान गुरुनिकौं जे भक्तिसहित न सेवैहैं तिनतैं सिवाय और कृतघ्नी कौन है ? ॥ ४६ ॥

कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः प्रपद्यते धर्मपरायणत्वम्।
चामीकरस्येव सुवर्णभावं सुवर्णकारेण विशारदेन ॥ ४७ ॥

अर्थ—गुरु नैं करया है उपकार जापै ऐसा जो मनुष्य है सो धर्मविषैं परायणपनाकैं प्राप्त होय है। जैसैं चतुर सुनार करि सुवर्णकै भले वर्णका भाव होय तैसैं।

भावार्थ—जैसैं सुनारकी संगति करि सोना सोलहवानीका होय है तैसैं श्रीगुरुके प्रसादकरि जीव धर्मकौं प्राप्त होय है ऐसा जानना ॥ ४७ ॥

विवर्त्तमानो भवतो गुरुभ्यो न शक्यते वारयितुं परेण।
व्यलीकवादी व्यवहारकार्ये साक्षीहृतैरेव निपात्यते हि ॥ ४८ ॥

अर्थ—भवतैं पराङ्मुख होता जो पुरुष सो गुरु बिना और करि रोकनेकूं समर्थ न हूजिये है। जैसैं व्यवहारकार्य विषैं झूठ बोलने वाला पुरुष जे साक्षी करें हैं तिन करि ही निश्चय करि रोकिए है तैसैं ॥ ४८ ॥

दुग्धेन धेनुः कुसुमेन वल्ली शीलेन भार्या सरसी जलेन।
न भूरिशा भाति विना प्रजाप्या शमेन विद्या नगरी जनेन ॥४९॥

अर्थ—दुग्धसैं गाय सोहै है, अर फूलनिसैं बेलि सोहै है, अर शीलसैं स्त्री सोहै है अर जलसैं तलाई सोहै है, आचार्यके विना मतकी स्थिति नहीं होय है, शांतभावसैं विद्या सोहै है, मनुष्यनितैं नगरी सोहै है ॥ ४९ ॥

विधीयते सूरिवरेण सारो धर्मो मनुष्ये वचनैरुदारैः।
मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्यं निरस्ततापैरिव सस्यवर्गः॥ ५०॥

अर्थ—जैसैं दूरकिया है ताप जिननैं ऐसे जलनि करि फलसहित देशमें मेघकरि धान्यका समूह उपजाइए है तैसैं उदार वचननि द्वारा आचार्यकरि मनुष्यविषैं सारभूत धर्म उपजाइए है ॥ ५० ॥

लब्ध्वोपदेशं महनीयवृत्तेर्गुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः।
पापस्य भव्यो विदधाति नाशं व्याधेरिव व्याधिनिपूदनस्य॥५१॥

अर्थ—जैसैं रोगी वैद्यका उपदेश ग्रहण करि वाकी बताई औषधिकों लेकरि व्याधिका नाश करैहै तैसैं विनययुक्त है चित्त जाका ऐसा भव्य, पूज्य है आचरण जाका ऐसे गुरुके उपदेशकों प्राप्त करि अर वाकूं अनुष्ठान करि पापका नाश करै है।

भावार्थ—जैसैं रोगी वैद्यके उपदेशतैं रोगकूं मारैहै तैसैं भव्य गुरुके उपदेशतैं पापकौं मारै है ॥ ५१ ॥

सर्वोपकारं निरपेक्षचित्तः करोति यो धर्मधिया यतीशः।
स्वकार्यनिष्ठैरुपमीयतेऽसौ कथं महात्मा खलु बंधुलोकैः॥५२॥

अर्थ—जो आचार्य विनास्वार्थके धर्मबुद्धिकरि सर्वका उपकार करै है सो यह महात्मा अपने अपने कार्यसाधने विषैं तत्पर ऐसे बंधुलोकनि करि कैसैं बराबर कूजिए है ॥ ५२ ॥

निषेव्यमाणानि वचांसि येषां जीवस्य दुर्वारजरामरत्वम्।
नाराधनीया गुरवः कथं ते विभीरुणा संसृतिराक्षसीतः॥ ५३॥

अर्थ—जिन आचार्यनके वचन सेवन किये भए जीवकैं अजरामरपना करिए है वे गुरु संसाररूप राक्षसतैं डरे भए पुरुष करि कैसें आराधना न किये जाय हैं, अपि तु आराधना किये ही जाय हैं ॥५३॥

माता पिता ज्ञातिनराधिपाद्या जीवस्य कुर्वंत्युपकारजातम्।
यस्सूरिदत्तामलधर्मनुन्नास्तेनैष तेभ्योतिशयेन पूज्यः ॥ ५४ ॥

अर्थ—माता पिता जाति राजा आदिक जे हैं ते आचार्य करि दिये हुए निर्मल धर्मसैं प्रेरित हुए थके जीवके उपकारनिके समूहकौं करै हैं अर आचार्य बिना प्रेरे हुए ही करै है तातैं या अतिशय करि गुरु जो है सो माता पिता जाति राजादिक करि भी पूज्य है ॥५४॥

निषेवमाणो गुरुपादपद्मं त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम्।
प्ररूढसंसारवनक्षयाग्निं निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य ॥ ५५ ॥

अर्थ—छोडे हैं अन्य कार्य जानैं ऐसा गुरुके चरणकमल कौंही सेवन करै ऐसा जो पुरुष, अंकुरित ऐसा जो संसार वन ताके नाश करनेमें अग्निसमान ऐसे धर्मकौ न करै है वा पुरुषका जन्म निरर्थक है॥५५॥

यं सूरयो धर्मधिया ददंति यं बांधवः स्वार्थधिया जनानाम्॥
अर्थं तयोरंतरमत्र वेद्यं सदाणुमेर्वोरिव जायमानम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जा अर्थकौं आचार्य तौ धर्मबुद्धिकरि मनुष्यनिकौं देवैं हैं अर भाई बंधु जन स्वार्थबुद्धिकरि देवैं हैं सो यहां सत्पुरुषनिकरि इन दोऊनि में परमाणु अर मेरु में होय ऐसे अंतर समान अंतर जानना योग्य है।

भावार्थ—आचार्य अर भाई बंधुनिमें इतना अंतर है जितना सुमेरु अर परमाणुमें है ॥ ५६ ॥

लक्ष्मीं करींद्रश्रवण-स्थिरत्वां
तृणाग्रतोयस्थिति जीवितव्यम् ।
विसृत्वरीं यौवनिकां च दृष्ट्वा
धर्मं न कुर्वंति कथं महांतः ॥ ५७ ॥

अर्थ—लक्ष्मीकूं हाथीके कानसमान चंचल देखि करि अर तृणनिकी अनीपर लाग्या जलकी स्थिति समान जीवितव्य देखकरि अर यौवन अतिशयकरि जानेवाला देखि करि महंत पुरुष धर्म कैसे न करै है ? करैंही हैं ॥ ५७ ॥

अनर्घ्यां यो विदधाति लक्ष्मीं
विधूय सर्वां विपदं क्षणेन ।
कथं स धर्मः क्रियते न सद्भि-
स्त्याज्येन देहेन मलालयेन ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो धर्म क्षणमात्रमें सब विपदानिकूं दूरि करि अविनश्वर लक्ष्मीकूं करै है सो धर्म सत्पुरुषनिकरि मलका घर अर त्यागने योग्य ऐसे देहकरि कैसे न करिये है ॥ ५८ ॥

पिंडं ददाना न नियोजयंते
कलेवरं भृत्यमिवात्मनीने ।
कार्ये सदा ये रचितोपकारं
ते वंचयंते स्वयमेव मूढाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—जे पुरुष भोजन देते संते अर शरीरको चाकरकी ज्यों सदाकाल करया है उपकार जानैं ऐसे अपने हितरूप कार्यविषै न लगावै हैं ते मूढ स्वयमेव ठिगावै हैं ।

भावार्थ—जैसे कोई चाकरकूं भोजनादि सामग्री तो देवै अर अपने हितरूप कार्यविषै न लगावै तब वो स्वच्छंद होय है अर स्वामीका

ठिगाया जाय है तैसैं शरीरकौं भोजनादि सामग्रीनै तौ पोषिऐं अर हितरूप तपश्चरणादि कार्यमें न लगावैं हैं ते ठिगाये जायहैं ऐसा जानना ॥ ५९ ॥

गृहांगजापुत्रकलत्रमित्र-
स्वस्वामिभृत्यादिपदार्थवर्गे ।
विहाय धर्मं न शरीरभाजा-
मिहास्ति किंचित्सहगामि पथ्यम् ॥६०॥

अर्थ—इस लोकमें गृह पुत्री पुत्र स्त्री मित्र धन स्वामी चाकर आदि पदार्थनिके समूहविषैं धर्मकौं छोड और किछू जीवनिके साथ जानेवाला हितकारी नाहीं।

भावार्थ—इस जीवका साथी धर्मही है और पदार्थ साथी नाहीं ॥ ६० ॥

घातिक्षयोद्भूतविशुद्धबोध-
प्रकाशविद्योतितसर्वतत्वाः ।
भवति धर्मेण जिनेन्द्रचन्द्रा-
स्त्रिलोकनाथार्चितपादपद्माः ॥ ६१ ॥

अर्थ—घातिया कर्मनिके क्षयतैं उपज्या जो निर्मल केवलज्ञान ताके प्रकाश करि प्रकाशे हैं सर्व पदार्थ जिनने अर तीनलोकके नाथ जे इंद्र धरणेंद्र चक्रवर्ती तिन करि पूजित है चरणकमल जिनके ऐसे जे जिनेंद्रचंद्र तीर्थंकर भगवान हैं ते धर्मकरि होय है ॥ ६१ ॥

आराध्यमानस्त्रिदशैरनेकै-
र्विराजते स्वैः प्रतिबिंबकैर्वा ।
धर्मप्रसादेन निलिंपराजः
सुरांगनावक्त्रसरोजभृङ्गः ॥ ६२ ॥

अर्थ—धर्मके प्रसादकरि अपने प्रतिबिंब समान अनेक देवनि करि सेव्यमान देवनिका राजेंद्र होहै है, कैसा है इंद्र देवांगनानिके मुख कमलनिविषै भ्रंगसमान है।

भावार्थ—इंद्रपद धर्म करि मिलै है ऐसा जानना ॥ ६२ ॥

द्वात्रिंशदुर्वीशसहस्रमूर्द्ध-
प्रसूनमालापिहितांघ्रिपद्मः।
धर्मेण राज्यं विदधाति चक्री
विलंबमानस्त्रिदशेशलीलाम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—धर्मकरि चक्रवर्ती राज्यकों धारै है, कैसा है चक्रवर्ती बत्तीस हजार राजानिके मस्तकनिकी जे पुष्पनिकी माला तिनकरि मिले हैं चरणकमल जाके अर इंद्रकी लीलाकों धरै ऐसा चक्रवर्ती धर्म करि होय है ॥ ६३ ॥

मनोभवाक्रांतविदग्धरामा-
कटाक्षलक्ष्यीकृतकांतकायः।
दिगंगनाव्यापिविशुद्धकीर्ति-
र्धर्मेण राजा भवति प्रतापी ॥ ६४ ॥

अर्थ—कामकरि भरी अर चतुर जे स्त्री तिनके कटाक्षनि करि निशानारूप किया है देदीप्यमान शरीर जाका अर दिशारूप स्त्रीनि विषैं व्यापी है निर्मल कीर्ति जाकी ऐसा प्रतापी राजा धर्म करि होय है ॥ ६४ ॥

मतंगजा जंगमशैललीला-
स्तुरंगमा निर्जितवायुवेगाः।
पदातयः शक्रपदातिकल्पाः
रथा विवस्वद्रथसन्निकाशाः ॥ ६५ ॥

योषाः स्वशोभाजितदेवयोषाः
निर्लिपप्रासादप्रतिमा निवामाः ।
अनन्यलभ्या धनधान्यकोशाः ॥
भवंति धर्मेण पुरार्जितेन ॥ ६६ ॥

अर्थ—चालते पर्वतनिकी लीला धरैं ऐसे हस्ती, अर जीत्या है पवनका वेग जिननैं ऐसे घोडे, अर इंद्रके पयादेसमान पयादे, अर सूर्यके रथके तुल्य रथ ॥ ६५ ॥

बहुरि अपनी शोभाकरि जीती हैं देवांगना जिननैं ऐसी स्त्री, अर इंद्रके मंदिरसमान महल, अर औरनिकरि न पावने योग्य ऐसे धन धान्यनिके भंडार पूर्वोपार्जित धर्मकरि होयहैं ॥ ६६ ॥

परेऽपि भावा भुवने पवित्रा
भवंति पुण्यैर्न विना जनस्य ।
विना मृणालैः क्वचनापि दृष्टाः
संपद्यमाना न पयोजखंडाः ॥ ६७ ॥

अर्थ—लोकविषै और भी जे पदार्थहैं ते पुण्यविना जीवकैं न होयहैं जैसैं मृणाल जो कमलकी जड तिनविना कमलनिके वन कभी प्राप्त भए न देखे ॥ ६७ ॥

स्वपूर्वलोकानुचितोऽपि धर्मो
ग्राह्यः सतां चिंतितवस्तुदायी ।
प्रप्रार्थ्यते न किमीश्वरत्वं
स्वजात्ययोग्यं जनता सदापि ॥ ६८ ॥

अर्थ—अपने पूर्वलोक जे पितादिक तिनके अनुचित भी धर्म ऐसो वांछित वस्तुका देनेवाला ग्रहण करना योग्य है, जैसैं

अपनी जातिके अयोग्य जो ईश्वरपना ताहि लोक कहा अतिशयकरि सदा न चाहैहै ? अपितु चाहैही है।

भावार्थ—कोऊ कहै हमारे कुलमें जिनधर्म नांही हम कैसें ग्रहण करें ताकूं कहैहैं जो अपने कुलमें जिनधर्म नांही तो भी नवीन ग्रहण करना योग्य है जैसें कोऊकों नवीन राज्य मिलैतो कहा ग्रहण न करै ? ॥ ६८ ॥

त्यजंति वंशागतमप्यवद्यं
संप्राप्य पुण्यं जनतार्चनीयम् ।
कुष्टं कुलायातमपि प्रवीणः
कल्यत्वमासाद्य परित्यजंति ॥ ६९ ॥

अर्थ—जैसें सुंदरशरीर निरोगपनाकूं पायकरि प्रवीण पुरुष कुलविर्षे चल्या आया भी जो कुष्ट रोग ताहि तजैहै तैसें लोकपूज्य धर्मकों पायकरि कुलमें चल्या आया भी जो पाप ताहि तजैहै ॥ ६९ ॥

मूर्खापवादप्रसनेन धर्मं
मुंचंति संतो न बुधार्चनीयम् ।
ततो हि दोषः परमाणुमात्रो
धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यः ॥ ७० ॥

अर्थ—मूर्खनके अपवादक भयकरि पंडितनिकरि पूज्य जो धर्म ताहि सत्पुरुष न त्यागैहै, जातैं तिस मूर्खापवादतैं तौ दोष परमाणुमात्र है अर धर्मनाश भए सुमेरुतुल्य दोष है ऐसा जानना ॥ ७० ॥

मालिनी

निखिलसुरफलानां कल्पने कल्पवृक्षं
कुमतिमनविभीता ये विमुंचंति धर्मम् ।

विमलमणिनिधानं पावनं दुष्टतुष्ट्यै
स्फुटमपगतबोधाः प्राप्य ते वर्जयंति ७१

अर्थ—जे कुबुद्धिनिके मततैं भयभीत भए संते समस्तसुखरूप फलनिके देनेविर्षे कल्पवृक्ष तुल्य जो धर्म ताहि तजैहैं ते अज्ञानी पवित्र निर्मल रत्नका भंडारकौं प्रगट पायकरि दुष्टनिकी प्रसन्नताके अर्थ त्यागैहैं ॥ ७१ ॥

अमरनरविभूतिं यो विधायार्थनीयां
नयति निरपवादां लीलया मुक्तिलक्ष्मीम्।
अमितगतिजिनोक्तः सेव्यतामेष धर्मः
शिवपदमनवद्यं लब्धकामैरकामैः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो धर्म, प्रार्थना योग्य जो देवमनुष्यनिकी विभूति ताहि रचि, अर लीलामात्र करि निर्दोष लक्ष्मीकौं प्राप्त करैहै सो अमितगति-जिनोक्त कहिए अनंत है ज्ञान जाका ऐसे जिनदेव करि कह्या अथवा अमितगत्याचार्यकरि कह्या यहु धर्म पापरहित शिवपद लेनेके वांछक अर रहित काम जे जीव तिनकरि सेवना योग्य है ॥ ७२ ॥

छप्पय

दुर्लभनरभव पाय अन्य कारज तजदीजै,
होय विषयतैं विमुख गुणुकरगनाधूत पीजै।
मिथ्यामत निवार धार जिनधर्म धार उर
इंद्रादिक पद पाय धर्मतैं होय जगतगुर ॥
कल्याणकार कलिमलहरन धर्म परम उत्तम गरन।
जिनराज अमितगति कथित तसु भागचंद वंदित चरन ॥

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचारविर्षे
पहला परिच्छेद समाप्त भया।

अथ द्वितीय परिच्छेद ।



मिथ्यात्वं सर्वथा हेयं धर्मं वर्द्धयता सता ।
विरोधो हि तयोर्गाढं मृत्युर्जीवितयोरिव ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मकौं बढावता जो सत्पुरुष ताकरि मिथ्यात्व सर्व प्रकार त्यागना योग्य है, जातें मिथ्यात्व अर धर्म इन दोउनिका मरन अर जीवनकी ज्यों अतिशय करि बड़ा विरोध है ॥ १ ॥

संयमा नियमाः सर्वे नाश्यंते तेन पावनाः ।
क्षयकालानलेनेव पादपाः फलशालिनः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसैं प्रलयाग्नि करि फलनि करि शोभित जे वृक्ष हैं ते नाशकूं प्राप्त होय हैं तैसैं तिस मिथ्यात्व करि पवित्र संयम नियम सर्व नाशकौं प्राप्त होय हैं ॥ २ ॥

अतत्त्वमपि पश्यंति तत्त्वं मिथ्यात्वमोहिताः ।
मन्यंते तृषितास्तोयं मृगा हि मृगतृष्णिकां ॥ ३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व करि मोहित जीव हैं ते अतत्त्वकौं सत्य मानै हैं, जैसैं तिसाया मृग हैं ते मृगतृष्णाकूं निश्चय करि जल मानैं हैं ॥ ३ ॥

विभ्रांता क्रियते बुद्धिर्मनोमोहनकारिणा ।
मिथ्यात्वेनोपयुक्तेन मद्येनेव शरीरिणः ॥ ४ ॥

अर्थ—मनकौं अचेत करनेवाला उपयुक्त भया जो मिथ्यात्व ता करि मदिराकी ज्यों जीवकी बुद्धि विशेष भ्रांतिरूप करिये है ॥ ४ ॥

पदार्थानां जिनोक्तानां तदश्रद्धानलक्षणम् ।
ऐकांतिकादिभेदेन सप्तभेदमुदाहृतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन भाषित जीवादिक पदार्थनिका अश्रद्धान है लक्षण जाका ऐसा, सो मिथ्यात्व ऐकांतिक आदि भेद करि सात प्रकार कह्या है ॥ ५ ॥

अब एकांत, संशय, विनय, गृहीत, विपरीत, निसर्ग, मूढदृष्टि, ऐसे सात प्रकार मिथ्यात्वका स्वरूप कहैं हैं,—

क्षणिकोऽक्षणिको जीवः सर्वथा सगुणोऽगुणः।
इत्यादि भाषमाणस्य तदैकांतिकमिष्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—जीव एकांत करि सर्व प्रकार क्षणिकही है, वा नित्यही है, वा निर्गुण ही है, वा सगुणही है, इत्यादिक कहनेवाले कैं एकांत मिथ्यात्व कहिए ॥ ६ ॥

सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादि भाषितम्।
तथ्यं न वेति संकल्पे दृष्टिः सांशयिकी मता ॥ ७ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ वीतरागकरि कह्या जो जीव अजीव आदि तत्व सो सत्य हैं अथवा असत्य हैं ऐसैं विकल्प होतेसंतैं संशयजनित दृष्टि कही है।

भावार्थ—सो संशयमिथ्यात्व कह्या है ॥ ७ ॥

आगमा लिंगिनो देवाः धर्माः सर्वे सदासमाः।
इत्येषा कथ्यते बुद्धिः पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥ ८ ॥

अर्थ—सर्व आगम, अर सर्वभेषी, अर सर्व देव अर सर्व धर्म सदा समान हैं ऐसी यहु पुरुषकी बुद्धि, जिनदेवनिकरि विनय-मिथ्यादृष्टि कहिए है ॥ ८ ॥

पूर्णः कुहेतुदृष्टांतैर्न तत्वं प्रतिपद्यते।
मंडलश्चर्मकारस्य भोज्यं चर्मलवैरिव ॥ ९ ॥

अर्थ—खोटे हेतु दृष्टान्तनि करि अल्प पुण्य तत्त्वको प्राप्त न होय है जैसे चांडाल दृष्टान्तनि करि पूर्व भाग्यवान् पुरुष भोजनको प्राप्त न होय है ।

भावार्थ—जैसे भाग्यवान् पुरुष चांडालके हाथके अन्न है ताको भोजन न करै तैसे खोटे हेतु दृष्टान्तनि करि सहित मिथ्यादृष्टी तत्त्वको न पावै है सो गृहीत मिथ्यादृष्टी है ॥ ९ ॥

अतथ्यं मन्यते तथ्यं विपरीतरुचिर्जनः ।
दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुरं रसम् ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे वातपित्तादि दोषनि करि आतुर जो ज्वरसहित पुरुष सो मिष्टरसको कटुक माने है तैसें विपरीत है रुचि जाकी ऐसा जीव सत्यार्थको असत्यार्थ माने है, यह विपरीत मिथ्यादृष्टी जानना ॥ १० ॥

दीनो निसर्गमिथ्यात्वात्तत्त्वातत्त्वं न बुध्यते ।
सुंदरासुंदरं रूपं जात्यंध इव सर्वथा ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसें जन्मका अंधा पुरुष सर्वथा सुंदर वा असुंदर रूपकों न जाने है तैसें दीन एकेन्द्रियादि अज्ञानी जीव स्वभावजनित मिथ्यात्वतें तत्त्वकों न जानिहै, ऐसा निसर्ग मिथ्यात्वका स्वरूप कह्या ॥ ११ ॥

देवो रागी यतिः संगी धर्मः प्राणिनिशुंभनम् ।
मूढदृष्टिरिति ब्रूते युक्तायुक्ताविवेचकः ॥ १२ ॥

अर्थ—योग्य अयोग्यके विवेकरहित मूढहै दृष्टि जाकी ऐसा पुरुष सो रागी देव अर परिग्रहधारी गुरु, जीवनिकी हिंसारूप धर्म ऐसे कहैहै यह विपरीतमिथ्यादृष्टिलक्षण कह्या ॥ १२ ॥

सप्तप्रकारमिथ्यात्वमोहितेनेति जंतुना ।
सर्वं विपाकुलेनेव विपरीतं विलोक्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—ऐसे सातप्रकार मिथ्यात्वकरि मोहित जो जीव ताकरि चित्र-कुलकी ज्यौं सर्व विपरीत देखिए है ॥ १३ ॥

न तत्वं रोचते जीवः कथ्यमानमपि स्फुटम् ।
कुधीरुक्तमनुक्तं वा निसर्गेण पुनः परम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कुबुद्धी जीव प्रगट उपदेश्या तत्वकों भी नहीं श्रद्धान करैहै । बहुरि कह्या वा विना कह्या जो अतत्व ताहि स्वभावकरिही श्रद्धान करैहै ॥ १४ ॥

पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुंचति ।
कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिवन्नपि महाविषम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसैं दुग्धकौं पीवता भी सर्प महाविषकौं न त्यागैहै तैसैं मिथ्यादृष्टि जीव जिनवचनकौं पढ़ता भी मिथ्यात्वकौं न त्यागैहै ॥१५॥

उदये दृष्टिमोहस्य मिथ्यात्वं दुःखकारणं ।
घोरस्य सन्निपातस्य पंचत्वमिव जायते ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसैं घोर सन्निपातके उदय होतसंतैं मरण होय है तैसैं दर्शनमोहका उदय होतसंतैं दुःखका कारण मिथ्यात्व होयहै ॥ १६ ॥

बहु बध्नाति यःकर्म्म स्तोकं भुंक्ते कुदर्शनः ।
स भवारण्यदुःखेभ्यो विमोक्षं लप्स्यते कथं ॥ १७ ॥
अंजलिं वल्गमानस्य पुरुषस्य दिने दिने ।
धान्यस्य गृह्णतः खारीं कदा धान्यविमुक्तता ॥ १८ ॥
न वक्तव्यमिति प्राज्ञैः कदाचन यतो भवी ।
कर्म भुंक्ते बहु स्तोकं स्वीकरोति विसंशयं ॥ १९ ॥
अन्यथैकेन जीवेन सर्वेषां कर्मणां ग्रहे ।
सर्वेषां जायतेऽन्येषां न कथं मुक्तिसंगतिः ॥ २० ॥

समस्तानां तथैकेन पुद्गलानां ग्रहेणिना।
अनंतानंतकालेन न बंधः सांतरः कथम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टी बहुत कर्म बांधेहै अर थोडा कर्म भोगैहै सो संसारवनके दुःखनितैं मोक्ष कैसैं पावैगा ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसैं दिनदिन विषैं धान्यकी अंजली खाते अर खारी ग्रहण करते कैं धान्यका बीतना करे हूनी होय ॥ १८ ॥

ऐसैं कोऊ कहै तासैं आचार्य कहै है,—

बुद्धिवाननि करि "न वक्तव्यं" कहिए ऐसा कहना कदाचित् योग्य नाही, जातैं संसारी जीव निश्चयतैं बहुत कर्म भोगै है अर थोडा अंगीकार करै है ॥ १९ ॥

जो ऐसैं नहीं होय तौ एक जीव करि सर्व कर्मनिका ग्रहण होतसंतैं बाकी और सर्व जीवनिकैं मुक्तिकी प्राप्ति कैसैं न होय ॥ २० ॥

बहुरि तैसैंही एक जीवकरि सर्व पुद्गलनिका ग्रहण न होतैं जीवनिकैं अनंतानंत कालकरि अंतरसहित बंध कैसैं न होय ऐसा उत्तर है ॥ २१ ॥

सस्यानीयोपरे क्षेत्रे निक्षिप्तानि कदाचन।
न व्रतानि प्ररोहंति जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसैं ऊसर भूमिविषैं बोए भए धान्य कदाचित न उपजैं है तैसैं मिथ्यात्वकरि वासित जो जीव ताविषैं व्रत नाहीं होय है॥२२॥

मिथ्यात्वेनानुविद्धस्य शल्येनेव महीयसा।
समस्तापन्निधानेन जायते निर्वृतिः कुतः ॥ २३ ॥

अर्थ—जैसैं महाशल्यकरि अनुविद्ध पुरुषकैं सुख कहांतैं होय? तैसैं समस्त आपदानिका निधान जो मिथ्यात्व ताकरि अनुविद्ध पुरुषकैं सुख काहेतैं होय है? नाहीं होय है ॥ २३ ॥

षोडानायतनं जंतोः सेवमानस्य दुःखदं ।
अपथ्यमिव रोगित्वं मिथ्यात्वं परिवर्द्धते ॥ २४ ॥

अर्थ—जैसें अपथ्यकों सेवन करते कैं रोगीपना बढै है तैसें दुःखदायक जो छह प्रकार अनायतन ताकूं सेवता जो पुरुष ताकैं मिथ्यात्व बढै है ॥ २४ ॥

मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैः सह भाषिताः ।
तदाधारजनाः पापाः षोढाऽनायतनं जिनैः ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इन तीननि करि सहित पापरूप तिन मिथ्यादर्शनादिकके आधार मनुष्य ऐसे छह प्रकार अनायतन जिनदेवनि करि कहे हैं।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र ये तीन; अर तिनके धारक पुरुष तीन, ऐसैं छह अनायतन जानना । आयतन नाम ठिकानेका है सो ये धर्मके ठिकाने नाहीं तातैं अनायतन कहे हैं ॥ २५ ॥

एकैकं न त्रयो द्वे द्वे रोचंते न परे त्रयः ।
एकस्त्रीणीति जायंते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रविषैं एककों न मानै हैं। अर और तीन मिथ्यादृष्टी दोयकों न मानै हैं। बहुरि एक तीननकों न मानै है ऐसैं ये सात मिथ्यादृष्टी होय हैं ॥ २६ ॥

दुर्जयः कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम् ।
अन्यत्र गमनाकांक्षी चौरैर्युक्तो धनैरपि ॥ २७ ॥

अर्थ—चोर धननि करि सहित भी मिथ्यादृष्टि वांछित स्थानकों अन्य स्थान जानेकी ज्यों अतिदूर करै है।

भावार्थ—जैसैं मारगतैं अन्यत्र चलनेवाला बहुत चालता भी वांछित स्थानकौं उलटा दूर करैहै तैसैं मिथ्यादृष्टी घोर तप करता भी वांछित मोक्षपदकौं उलटा दूरि करैहै कर्म बांधैहै, ऐसा जानना ॥ २७ ॥

न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम्
न मिथ्यात्वसमो रोगो न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ २८॥

अर्थ—मिथ्यात्वसमान वैरी नांहीं, अर मिथ्यात्वसमान विष नांहीं, अर मिथ्यात्वसमान रोग नाहीं, अर मिथ्यात्वसमान अंधकार नांही२८

द्विषद्विषतमोरोगैर्दुःखमेकत्र दीयते।
मिथ्यात्वेन दुरंतेन जंतोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २९ ॥

अर्थ—वैरी, विष, अंधकार रोग इन करि दुःख एक जन्मविषै दीजिए है। अर दुःख है अंत जाका ऐसा जो मिथ्यात्व ताकरि जीवकौं जन्म जन्मविषैं दुःख दीजिए है ॥ २९ ॥

वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो देहिनात्मा हुताशने।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं जीवितव्यं कथंचन ॥ ३० ॥

अर्थ—ज्वालानि करि आकुल जो अग्नि ताविषै सो आत्मा क्षेप्या भला परंतु मिथ्यात्वसहित जीवना कोई प्रकार भला नाहीं ॥ ३० ॥

पापे प्रवर्त्यते येन येन धर्मो निवर्त्यते।
दुःखे निक्षिप्यते येन तन्मिथ्यात्वं न शांतये ॥३१॥

अर्थ—जिस मिथ्यात्व करि पापविषैं प्रवृत्ति कराइये है, अर धर्मतैं पराङ्मुख करिए है, अर दुःखविषै पटकिये है सो मिथ्यात्व शांतिके अर्थ नाहीं।

भावार्थ—मिथ्यात्वसेवन करि कोऊ शांति मानै सो मिथ्यात्वकरि शांति न होय है उलटा विघ्न होयहै ऐसा जानना ॥ ३१ ॥

क्षेत्रस्वभावतो घोरा निरंता दुःसहाश्चिरम्।
विविधा दुर्वचाः श्वभ्रे कायमानससंभवाः ॥ ३२ ॥
दाहवाहांकनच्छेदशीतवातादिगोचराः।
परायत्तेषु तिर्यक्षु विवेकरहितात्मसु ॥ ३३ ॥
दैन्यदारिद्र्यदौर्भाग्यरोगशोकपुरःसराः।
आर्यम्लेच्छप्रकारेषु मानुषेषु निरंतराः ॥ ३४ ॥
स्वस्य हानिं परस्यर्द्धिमीक्षमाणेषु मानिषु।
योज्यमानेषु देवेषु हठतः प्रेष्यकर्मणि ॥ ३५ ॥
मिथ्यात्वेन दुरंतेन विधीयंते शरीरिणाम्।
वेदना दुःसहा भीमा वैरिणेव दुरात्मना ॥ ३६ ॥

अर्थ—क्षेत्रके स्वभाव करि भयानक अर अंतररहित दुःख करि सहे जाय ऐसे नानाप्रकार दुर्वचननैं उपजी वा शरीर मनतैं उपजी बहुत कालपर्यंत नरकनिविषैं जे दुःखवेदना होते, बहुरि विवेकरहित पराधीन तिर्यंचयोनि में दाहदेना बांधना छिदकरना शीत वात इत्यादि-कनै उपजी पीडा, बहुरि आर्यम्लेच्छ है भेद जिनके ऐसे मनुष्यनि-विषै निरंतर दीनपना दारिद्रपना दुर्भाग्यपना रोग शोक आदि अनेक वेदना, बहुरि हठतैं भाररूप कर्मविषैं युक्त भये अर आपनी हानि अर दूसरेनकी वृद्धि देखनेतैं ऐसे मानी देवनिविषैं दुःखकारि सुनी जाय ऐसी भयानक वेदना दुष्ट वैरीकी ज्यों दुःख दे है सो याका ऐसा जो मिथ्यात्व ता करि जीवनिकै करिये है।

भावार्थ—संसारनि संबंधी दुःखनिका मूल कारण एक मिथ्यात्व है ऐसा जानना ॥ ३६ ॥

यान्यन्यान्यपि दुःखानि संसारांभोधिवर्तिनाम्।
न जातु घ्नन्ति तानि मिथ्यात्वेन विरच्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—संसारसमुद्रवर्ती प्राणीनिकों और भी जे दुःख हैं। तिनहिं देता जो मिथ्यात्व ताकरि अंतकों प्राप्त न हूजिये है।

भावार्थ—और भी अनेक दुःखनिकों देता मिथ्यात्व गमन न पाय है, निरंतर दुःख देय है ॥ ३७ ॥

> विवेको हन्यते येन मूढता येन जन्यते ।
> मिथ्यात्वतः परं तस्मात् दुःखदं किमु विद्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस करि विवेक हनिये है अर अचेतपना उपजाइये है, ता मिथ्यात्वसिवाय कहा और दुःख देनेवाला है? अपि तु नांही है॥ ३८॥

> लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् ।
> मिथ्यात्वविषमुत्सृज्य सम्यक्त्वं येन गृह्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस जीव करि मिथ्यात्वविषकों त्यागिकैं सम्यक्त्वकों ग्रहण करिये है, तिस जीव करि जन्मका फल पाया, अर ताका जीवना सार्थक है प्रयोजन सहित है ॥ ३९ ॥

> भव्यः पंचेंद्रियः पूर्णो लब्धकालादिलब्धिकः ।
> पुद्गलार्द्धपरावर्ते काले शेषे स्थिते सति ॥ ४० ॥
> अंतर्मुहूर्त्तकालेन निर्मलीकृतमानसः ।
> आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं कर्मणां प्रशमे सति ॥ ४१ ॥

अर्थ—भव्यजीव पंचेंद्रिय पर्याप्तक अर पाई है कालादिलब्धि जानें अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल बाकी रहे संतें अंतर्मुहूर्त्त काल करि निर्मल किया है मन जानें ऐसो जीव कर्मनिका उपशम होनेसैं प्रथमोपशमसम्यक्त्वकों ग्रहण करैहै ॥ ४० ॥ ४१ ॥

> निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् ।
> पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥४२॥

अर्थ—जैसे निर्मल दिनके पाछें आगामी मलिन राति आवै है ऐसें इस प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अंतर्मुहूर्तमांही अवश्य मिथ्यात्व आवै है ॥४२॥

तस्य प्रपतने पश्चान्महात्मा कोऽपि वेदकम्।
तस्यापि क्षायिकं कश्चिदासन्नीभूतनिर्वृतिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—ताके पीछे कोई महात्मा पुरुष वेदकसम्यक्त्वकों प्राप्त होय है, अर कोई महात्मा पुरुष जाकैं मुक्ति आसन्न है सो क्षायिकसम्यक्त्वकों प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

आगें सम्यक्त्व होनेका विशेष स्वरूप कहैं हैं;—

लब्धशुद्धपरीणामः कल्मषस्थितिहानिकृत्।
अनंतगुणया शुद्धया वर्द्धमानः क्षणे क्षणे ॥ ४४ ॥
प्रकृतीनामशस्तानामनुभागस्य खंडकः।
वर्द्धकः पुनरन्यासां युक्तायुक्तविवेचकः ॥ ४५ ॥
स्थितेंऽतःकोटिकोटीकस्थितिके सति कर्मणि।
अथाप्रवृत्तिकं नाम करणं कुरुते पुरा ॥ ४६ ॥
अपूर्वं करणं तस्मात्तस्मादप्यनिवृत्तिकम्।
विदधाति परीणामः शुद्धकारी क्षणे क्षणे ॥ ४७ ॥

अर्थ—पायाहै विशुद्ध परिणाम जानैं, बहुरि पापप्रकृतिनिकी स्थितिकी हानि करनेवाला समय समय अनंतगुणशुद्धि करि वर्द्धमान होता संता ॥ ४४ ॥

अप्रशस्त प्रकृतिनिके अनुभागका घटावनेवाला बहुरि अन्य प्रशस्त प्रकृतिनिके अनुभागकों बढावनेवाला योग्य अयोग्यका विवेकवान ॥ ४५ ॥

ऐसा जीव अंतःकोटाकोटी सागर प्रमाणहै स्थिति जाकी ऐसे कर्मकी स्थिति होतेसंतें प्रथम अधःप्रवृत्तिनाम करणकों करैहै ॥ ४६ ॥

बहुरि ता पीछैं समय समय परिणामनिकी शुद्धि करता अपूर्व करण करैहै ता पीछैं अनिवृत्ति करणको करैहै ॥ ४७ ॥

भावार्थ—उपशमसम्यक्त्वके अंतर्मुहूर्त्त पहले अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण ऐसे तीन करण होयहैं। इनका विशेषस्वरूप श्रीमद्गोमट्टसारविषै कह्याहै तहांतैं जानना ॥

तत्राद्यकरणे नास्ति छेदः स्थित्यनुभागयोः।
अनंतगुणया शुद्ध्या कर्म बध्नाति केवलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—तहां आदिके अधःकरणविषैं स्थिति अनुभागका छेद नाहीहै अनंतगुणविशुद्धिताकरि केवल पुण्यकर्मको बांधैहै ॥ ४८ ॥

द्वितीयं कुरुते तत्र किंचित्स्थितिरसक्षयम्।
शुभानामशुभानां च वर्द्धयन् ह्रासयन् रसम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—बहुरि तहां दूजा जो अपूर्वकरण है सो किछू स्थितिकांडकघात वा अनुभागकांडक घातको करैहै। कैसा है सो अपूर्वकरण अतिशयकरि समय समय प्रति शुभप्रकृतिनको बढ़ावै है अर अशुभ प्रकृतिनकूं घटावैहै ॥ ४९ ॥

अंतर्मुहूर्त्तकः कालस्तेषां प्रत्येकमिष्यते।
आदिमे कुरुते तस्मिन्नांतरं करणं परम् ॥ ५० ॥

अर्थ—उनमें प्रत्येकका अंतर्मुहूर्त्तकाल जानना, आगें आदिके प्रथममें आंतर करणको करैहै ॥ ५० ॥

आंतरे करणे तत्र सहानंतानुबंधिभिः।
अंतर्मुहूर्त्तकालेन मिथ्यात्वमपवर्तते ॥ ५१ ॥

अर्थ—तिस अंतर करणविषैं अंतर्मुहूर्त्तकालकरि अनंतानुबंधीसहित मिथ्यात्वका अपवर्तन करैहै ॥ ५१ ॥

मिथ्यात्वं भिद्यते भेदैः शुद्धाशुद्धविमिश्रकैः।
ततः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वनामभिः ॥ ५२ ॥

अर्थ—ताके अंतर शुद्ध अशुद्ध करि मिले जे सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व हैं नाम जिनके ऐसे भेदनि करि मिथ्यात्व भेदरूप कीजिएहै।

भावार्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व करि मिथ्यात्वका द्रव्य, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमैहै ॥ ५२ ॥

प्रशमय्य ततो भव्यः कर्मप्रकृतिसप्तकम्।
आंतर्मौहूर्तिकं पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ—ताके अनंतर भव्यजीव सात कर्मप्रकृतिनिकों उपशमाय करि अंतर्मुहूर्तहै स्थिति जाकी ऐसा प्रथमसम्यक्त्वकों प्राप्त होयहै।

भावार्थ—अनादि मिथ्यादृष्टितौ मिथ्यात्व अर अनंतानुबंधी चतुष्क ऐसैं पांच प्रकृतिनिकों अर सादि मिथ्यादृष्टि अनंतानुबंधीसहित सातप्रकृतिनकों उपशमाय सम्यक्त्वी होयहै यह विशेषहै ॥ ५३ ॥

आगैं क्षायिकसम्यक्त्वकों कहैहैं,—

क्षपयित्वा परः कश्चित्कर्मप्रकृतिसप्तकम्।
आदत्ते क्षायिकं पूर्वं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—बहुरि दूजो कोई जीव कर्मप्रकृतिनिका सप्तक जो अनंतानुबंधी च्यार कषाय अर मिथ्यात्व मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतिनिकों खिपाय करि प्रथम मुक्तिका कारण जो क्षायिकसम्यक्त्वताहिग्रहण करैहै ॥ ५४ ॥

प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति।
आदत्ते वेदकं वंद्यं सम्यक्त्वस्योदये सति ॥ ५५ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी कषाय च्यारि अर मिथ्यात्व, मिश्रमिथ्यात्व इन छह कर्मनिका उपशम होतसंतैं अर उदयका क्षय होतसंतैं अर सम्यक्त्व

प्रकृतिका उदय होतसंतैं वेदनेयोग्य जो वेदकसम्यक्त्व ताहि ग्रहण करैहै ।

भावार्थ—वर्त्तमानमें उदय आवनेयोग्य निषेकनिका उदयका अभाव है लक्षण जाका ऐसा तो क्षयहो, तैं संतैं अर ता पीछैं उदय आवने योग्य निषेक ते उदीरणारूप होय वर्त्तमानमें उदय न आवैं ऐसैं तिनकी सत्ता है लक्षण जाका ऐसा उपशम अर सम्यक्त्वप्रकृति देशघातीहै ताका उदय होतैं वेदकसम्यक्त्व होयहै जातैं जाके उदयसैं मल उपजै अर गुणका अंश भी बन्या रहै ऐसा देशघातीका लक्षण सर्वत्र कह्याहै ॥ ५५ ॥

> आदिमं त्रितयं हित्वा गुणेषु सकलेष्वपि ।
> सम्यक्त्वं क्षायिकं ज्ञेयं मोक्षलक्ष्मीसमर्पकम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—आदिके मिथ्यात्व सासादन मिश्र ए तीन गुणस्थाननिकौं छोडकरि सर्वही गुणस्थाननिविषैं मोक्षलक्ष्मीका देनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व जानना ॥ ५६ ॥

> तुर्यादारभ्य विज्ञेयमुपशांतांतमादिमम् ।
> चतुर्थे पंचमे षष्ठे सप्तमे वेदकं पुनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—चौथे गुणस्थानतैं लगाय उपशांतकषाय पर्यंत आदिका उपशमसम्यक्त्व जानना । बहुरि चौथे पांचवें छट्ठे सातवें गुणस्थान विषैं वेदकसम्यक्त्व जानना ॥ ५७ ॥

> साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते ।
> कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम् ॥ ५८ ॥
> प्रथमायां त्रयं पृथ्व्यामन्यासु क्षायिकं विना ।
> सम्यक्त्वमुच्यते सद्भिर्भवभ्रमणसूदनम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—साध्य साधनके भेद करि दोय प्रकार सम्यक्त्व कहिये है, क्षायिक साधने योग्य है अर उपसम वेदक ये दोय साधन हैं ॥५८॥

प्रथम पृथ्वीनिविषैं संसार भ्रमणके नाशक तीनों सम्यक्त्व हैं अर छह पृथ्वीनिविषैं क्षायिक विना दोय सम्यक्त्व पंडितनि करि कहिए है॥५९॥

तिर्यङ्मानवदेवानां सम्यक्त्वं त्रितयं मतम् ।
न निर्जरीतिरश्चीनां क्षायिकं विद्यते परम् ॥ ६० ॥

अर्थ—तिर्यंच मनुष्य देवनिकैं तीनों ही सम्यक्त्व कहे हैं, अर देवांगना तिर्यंचनीनिकै एक क्षायिक सम्यक्त्व नाहीं है ॥ ६० ॥

क्षायोपशमिकस्योक्ताः षट्षष्टिर्जलराशयः ।
आन्तर्मौहूर्तिकी ज्ञेया प्रशमस्य परा स्थितिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—क्षयोपशम सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छयासठि सागरकी कही, अर उपशम सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्तकी जाननी ॥६१॥

पूर्वकोटिद्वयोपेतास्त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः [illegible] ।
[illegible] निर्ज्ञेया क्षायिकस्योत्तमा बुधैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—[illegible] दोय कोटि पूर्वअधिक तेतीस सागरकी क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति पंडितनि करि जाननी योग्य है ॥ ६२ ।

प्रशमात् सप्तप्रकृतेः [illegible] ।
[illegible] जायते न गुरुर्जनः ॥ ६३ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ६३ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६४ ॥

अर्थ—पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त, इनि दोय जीवसमासनिकौं वर्जिकरि और मिथ्यात्वके बलकरि उपजनेवाले जे बादर एकेंद्रिय सूक्ष्म एकेंद्रिय बे इंद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय अर असंज्ञी पंचेंद्रिय तिनके पर्याप्त अर अपर्याप्त ऐसैं बारह जीवसमासनि विषैं सम्यग्दृष्टी न उपजै है ॥ ६४ ॥

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा ।
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—वीतराग अर सराग ऐसैं सम्यक्त्व दोय प्रकार कह्या है। तहां क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है, अर क्षयोपशम, उपशम ए दोय सम्यक्त्व सरागहैं ॥ ६५ ॥

संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षणम् ।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—संवेग कहिये धर्मतैं अनुराग, प्रशम कहिये कषायनिकी मंदता, आस्तिक्य कहिये आप्त आगम पदार्थनिविषैं 'है ऐसेहीहै' ऐसा भाव, कारुण्य कहिये दयाभाव, ए हैं प्रगट लक्षण जाका सो सराग-सम्यक्त्व पंडितनिकरि जानना। बहुरि उपेक्षा जो वीतरागता, सो है लक्षण जाका ऐसा दूसरा वीतराग सम्यक्त्व जानना ॥ ६६ ॥

निसर्गाधिगमौ हेतू तस्य बाह्यावुदाहृतौ ।
लब्धिः कर्मशमादीनामंतरंगो विधीयते ॥ ६७ ॥

अर्थ—ता सम्यक्त्वके निसर्ग कहिए स्वभाव, अधिगम कहिए उप-देश पावना ये दोऊ बाह्य कारण कहेहैं, अर कर्मनिके उपशमादिक-निकी जो प्राप्ति सो अंतरंग कारण कहियेहै ॥ ६७ ॥

सम्यक्त्वाभ्युपिते जीवे नाज्ञानं व्यवतिष्ठते ।
भास्वता भासिते देशे तमसः कीदृशी स्थितिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वकरि सहित जीवविषैं अज्ञान न तिष्ठैहै, जैसैं सूर्यकरि प्रकाशित क्षेत्रविषैं अंधकारकी स्थिति कैसी ?।

भावार्थ—जैसैं सूर्यके प्रकाश होते अंधकार न होय तैसैं सम्यक्त्व होतैं अज्ञान न होय है ॥ ६८ ॥

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ
कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति।
सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं
कुदर्शने तद्विपरीतमीक्ष्यते ॥ ६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूप पृथ्वीविषैं दुःखका बीज बोयाभी कदाचित् न उगैहै बहुरि विना बोयाभी उत्तम सुखका बीजसदा उगैहै। बहुरि मिथ्यादर्शनविषैं सो विपरीत देखियेहै।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीकै कोई दुःखका कारण पाप कर्म बंध्या होय सो सोभी सुखका कारण होय परिणमैहै ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

सम्यक्त्वमेघः कुशलांबुवंदितं
निरंतरं वर्षति धौतकल्मषः।
मिथ्यात्वमेघो व्यसनांबुनिंदितं
जनावनौ क्षालितपुण्यसंचयः ॥ ७० ॥

अर्थ—धोयेहै पापरूप मल जानैं ऐसा सम्यक्त्वरूप मेघहै सो निरंतर जनरूप भूमिविषैं पूजनीक कल्याणरूप जलकौं वरषैहै। बहुरि मिथ्यात्वरूप मेघ, धोयाहै दूरि कियाहै पुण्यका संचय जानैं सो जनरूप भूमिविषैं निंदनीक कष्टरूप जलकौं वरषैहै ॥ ७० ॥

न भीषणो दोषगणः सुदर्शने
विगर्हणीयः स्थिरतां प्रपद्यते।

भुजंगमानां निवहोऽवतिष्ठते
कदा निवासेऽप्युपिने गरुत्मता ॥ ७१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके होतसतें भयानक निंदने योग्य जो दोषनिका समूह सो स्थिरताकौं न प्राप्त होयहै। जैसें गरुडकरि सहित जो स्थान ताविर्षे सर्पनका समूह कब तिष्ठै?।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन होतें मिथ्यात्वादिदोष न रहैहैं, ऐसा जानना ॥ ७१ ॥

विवर्द्धमाना यमसंयमादयः
पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा।
फलंति हृद्यानि फलानि पादपाः
घनोदकेनेव मलापहारिणा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जैसें मलका हरणे वाला जो मेघका जल ताकरि वृक्षहैं ते मनोहर फलनिकौं फलै हैं, तैसें विशेषपने वर्द्धमान जे यमसंयमादिक ते पवित्र सम्यक्त्वगुण करि सदा फलै हैं ॥ ७२ ॥

निषेवते यो विषयाभिलाषुको
निरस्य सम्यक्त्वमधीः कुदर्शनम्।
स राज्यमत्यस्य भुजिष्यतां स्फुटं
वृहत्त्वकांक्षी वृणुते दुराशयः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो विषयाभिलाषी अज्ञानी सम्यक्त्वकौं त्यागि करि मिथ्यादर्शनकौं सेवै है सो दुष्टचित्त बडप्पनका वांछक प्रगट राज्यकौं छोडि करि चाकरीकौं अंगीकार करै है ॥ ७३ ॥

आगें संवेगादिक सम्यक्त्वके आठ गुण कहै हैं;—

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रपंचे
देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते।

साधौ सर्वग्रंथसंदर्भहीने
संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ ७४ ॥

अर्थ—नष्ट भया है हिंसाका विस्तार जा विषै ऐसा जो सांचा धर्म ताविषै तथा रागद्वेषमोहादिककरि रहित देवविषै तथा सर्व परिग्रहकरि रहित साधुविषै जो निश्चल अनुराग सो संवेग कहा है ॥ ७४ ॥

देहे भोगे निन्दिते जन्मवासे
क्लेशप्रायेऽशाश्वते [illegible] ।
वैराग्यं जायते निःप्रकंपं
निर्वेदोऽसौ कथ्यते मुक्तिहेतुः ॥ ७५ ॥

अर्थ—निन्दित शरीरविषै तथा भोगनिविषै बहुरि तीव्र [illegible] समान है अभिप्राय जा विषै ऐसे [illegible] संसारवासविषै जो निश्चल वैराग्य उपजै है सो यह मुक्तिका कारण निर्वेद कहिये है ॥ ७५ ॥

[illegible]
[illegible] कार्यजाले ।
[illegible]
[illegible] ॥ ७६ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ७६ ॥

[illegible]
[illegible] ।

पंचाचाराचारकाणामदोषा
मोक्ता गर्हा गर्हणीयस्य हंत्री ॥ ७७ ॥

अर्थ—द्वेष राग आदि दोषनिकरि दोष उपजते संतैं पंचाचारके आचरण करावणेवाले जे गुरु तिनके आगैं भक्ति सहित जो आलोचना करिये अपने दोष कहिये सो निंदनीक पापके हरनेवाली दोष रहित गर्हा कही है ॥ ७७ ॥

रागद्वेषक्रोधलोभप्रपंचाः
सर्वानर्थावासभूता दुरंताः ।
यस्य स्वांते कुर्वते न स्थिरत्वं
शांतात्मासौ शस्यते भव्यसिंहः ॥ ७८ ॥

अर्थ—सर्व अनर्थनिका स्थानक, दूर है अंत जिनका ऐसे जे राग द्वेष क्रोध लोभादिकनिके प्रपंच हैं ते जाके चित्तविषैं स्थिरताकौं न करै हैं सो यह भव्य प्रधान, शांत है आत्मा जाका ऐसा प्रशंसा रूप कीजिए है।

भावार्थ—तीव्र रागद्वेष जाके मनमें न होय सो उपशम गुण कहिये ॥ ७८ ॥

लोकाधीशाभ्यर्चनीयांघ्रिपद्मे
तीर्थाधीशे साधुवर्गे सपर्या ।
या निर्व्याजाऽऽरभ्यते भव्यलोकै-
र्भक्तिः सेष्टा जन्मकांतारशस्त्री ॥ ७९ ॥

अर्थ—लोकनिके अधीश जे नरेंद्र नागेंद्र देवेंद्र तिन करि पूजनीक हैं चरन कमल जाके, ऐसे तीर्थनाथ भए भगवान तिन विषै तथा साधूनिके समूहविषैं भव्य जीवनिकरि जो कपटरहित पूजा आरंभिये है सो संसारवनके छेदनेवाली भक्ति इष्टरूप कहीहै ॥ ७९ ॥

कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामै-
धर्माधारे व्यावृतिः प्राणिवर्गे।
भैषज्याद्यैः प्रासुकैर्वर्ध्यते या
सद्वात्सल्यं कथ्यते तत्त्वबोधैः ॥ ८० ॥

अर्थ—कर्मवनके छेदनेके वांछक, वांछारहित ऐसे पुरुषनि करि धर्मके आधारभूत जीवनिके समूहविषै जो प्रासुक औषधि आदिकनि करि वैयावृत्य बढाइये, करिए सो सत्यार्थज्ञानीनि करि वात्सल्यगुण कहिये है ॥ ८० ॥

जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्राम्यमाणे
जीवग्रामे दुःखिते नैकभेदे।
चित्तार्द्रत्वं यद्विधत्ते महात्मा
तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीयैः ॥ ८१ ॥

अर्थ—संसारसमुद्रविषै कर्मकरि भ्रमता अर दुःखित ऐसा अनेक प्रकारका जीवनिका समूह ताविषै जो महापुरुष दयाभावकौ धारै है सो कारुण्यभाव दर्शन करने योग्य जे आचार्यादिक तिनकरि दिखाइए है।

भावार्थ—दुखी जीवनिकौं देखि जो करुणा करना सो करुणा-नाम सम्यक्त्व गुण कहिये है ॥ ८१ ॥

ऐसे सम्यक्त्वके आठ गुणनिका वर्णन किया अब तिनका फल दिखावै हैं,—

[illegible] दर्शनमष्टगुणैः
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ ८२ ॥

अर्थ—जैसे निरंतर हृदयविषें रचेमये जे श्रीगुरुनके उपदेश तिनकरि प्रशंसा आनपणा करैहै तैसे जीवकूं दूषणरहित ये संवेगादि आठ गुण तिनकरि सम्यग्दर्शन करैहै ॥ ८२ ॥

अपारसंसारसमुद्रतारकं
वशीकृतं येन सुदर्शनं परम्
वशीकृतास्तेन जनेन संपदः
परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अपार संसारसमुद्रका तारनेवाला अर विपदानिका अनास्पद कहिये ठिकाना नाहीं ऐसा एक सम्यग्दर्शन जानें वश किया, अंगीकार किया ता पुरुषकरि औरनि करि न पावने योग्य ऐसी संपदा वश करी ॥ ८३ ॥

सुदर्शने लब्धमहोदये गुणाः श्रियो निवासा विकसंति देहिनि ।
निरस्तदोषोपचये सरोवरे हिमेतरांशाविव पंकजाकराः ॥ ८४ ॥

अर्थ—पायाहै महाउदय जानें ऐसे सम्यग्दर्शनके होतसंतें जीवविषें लक्ष्मीके निवास जे गुण ते विकाससमान होयहैं, कैसा है सम्यग्दर्शन, निरस्तदोषोपचये कहिये दूरि किया है शोकादि दोषनिका समूह जानें। जैसें सरोवरविषें दूरि कियाहै दोषा जो रात्रि ताका समूह जानें अर पायाहै महा उदय जानें अर भलाहै दर्शन जाका ऐसा सूर्यके होतसंते कमलनिके वन लक्ष्मीके निवास हैं ते विकसैं हैं।

भावार्थ—श्लोक करैहै लक्ष्मी कमलनिविषें वसैहै ऐसा अलंकार वाक्यहै। इहां एक एक सूर्यपक्षविषें अर दर्शनपक्षविषें समान अर्थ होयहै ॥ ८४ ॥

दर्शनबंधोर्नपरो बंधुर्दर्शनलाभान्न परो लाभः ।
दर्शनमित्रान्न परं मित्रं दर्शनसौख्यान्न परं सौख्यं॥८५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूप बांधवतैं सिवाय और दूसरा बांधव नाहीं अर दर्शनके लाभतैं सिवाय और दूसरा लाभ नाहीं, अर दर्शनतैं सिवाय दूसरा मित्र नाहीं, अर दर्शनके सुखतैं सिवाय और दूसरा सुख नाहीं ॥ ८५।

लब्ध्वा मुहूर्त्तमपि ये परिवर्जयंते
सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि।
भ्राम्यंति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ
तद्बिभ्रतां चिरतरं किमिहास्ति वाच्यम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—पापरहित पदका देनेवाला जो सम्यक्त्वरत्न ताहि एक मुहूर्त्तभी पायकरि जो त्यागै है ते पुरुषभी संसारसमुद्रविषैं बहुतकाल नहीं भ्रमै है तो इहांतो सम्यग्दर्शनकों धारते पुरुषनिके कहा अतिशयकरि बहुत भ्रमण कहना योग्य है?।

भावार्थ—एक मुहर्त्त भी सम्यग्दर्शन ग्रहण हो जाय तो संसार उत्कृष्ट किंचिदून अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनमात्र रहि जाय सो अनंतानंतकाल अपेक्षा थोडा ही कहिये। बहुरि जो सम्यग्दर्शनतैं नहीं छूटै क्षायिक सम्यग्दृष्टी होय सो बहुत कैसैं भ्रमै?। याकै तो अतिनिकट संसार है ऐसा इहां आशय जानना ॥ ८६ ॥

पापं यदर्जितमनेकभवैर्दुरंतैः
सम्यक्त्वमेतदखिलं सहसा हिनस्ति।
भस्मीकरोति सहसा तृणकाष्ठराशिं
किं नोर्जितोज्वलशिखो दहनः समृद्धम् ॥८७॥।

अर्थ—जो पाप दूर है अंत जिनका ऐसे अनेक भवनिकरि उपार्ज्या सो इस समस्त पापकों सम्यक्त्व शीघ्र ही नाश करै है। इहां दृष्टांत कहैं हैं;—बडी उज्ज्वल है शिखा जाकी ऐसा जो अग्नि सो

इंधिनौ प्राप्त होता जो तृण अर काष्टनका समूह ताहि शीघ्रही कहा भस्म न करै है ! करैही है ॥ ८७ ॥

नैव भवस्थितिवेदिनि जीवे
दर्शनशालिनि तिष्ठति दुःखम्।
कुत्र हिमस्थितिरस्ति हि देशे
ग्रीष्मदिवाकरदीधितिदीप्ते ॥ ८८ ॥

अर्थ—संसारकी स्थितिका जाननेवाला अर सम्यग्दर्शनकरि शोभित ऐसा जो जीव ताविषै दुःख नहीं तिष्ठै है। जैसें ग्रीष्मके सूर्यकी किरणकरि तप्त जो क्षेत्र ता विषैं शीतकी स्थिति कहांतैं होय? अपि तु नाहीं होय है ॥ ८८ ॥

भुवनजननाजन्मोत्पत्तिप्रबंधनिषूदनी
जिनमतरुचिर्धिंतामण्या यकंदपमीयते।
त्रिदशमरणिं नै भापंने समां परमाणुना
प्रभवति मतिर्मिथ्या मिथ्यादृशामथ वा सदा॥८९॥

अर्थ—लोकके जीवनिकै संसारकी उत्पत्तिके प्रबंधकी नाशकरनेवाली ऐसी जो जिनमतकी रुचि श्रद्धा सो जिनिकरि चिंतामणिकरि उपमा दीजिये (जिनमतकी श्रद्धाकौं चिंतामणिकी उपमा देवहैं) ते आकाशकौं परमाणुके समान करैहैं। अथवा मिथ्यादृष्टिकी बुद्धि सदा मिथ्यारूप होयहीहै ताका कहा आश्चर्यहै ! ॥ ८९ ॥

अवहितनाः मद्मोत्संगं निधानमिवोत्तमं
नयति हृदयं यः सम्यक्त्वं शशांककरोज्वलम्।
अमितगयः क्षिप्रं लक्ष्म्यः श्रयंति तमादरा
निरुपमगुणाः कांतं कांतं स्वयं प्रमदा इव ॥ ९० ॥

१ 'जन्मोत्पत्ति, के स्थान पर जन्मोत्पत्ति, पाठ ठीक है।

अर्थ—जैसें एकाग्रहै मन जाका ऐसा पुरुष घरके मध्यभाग मैं निधानकौं प्राप्त करै तैसें जो हृदय प्रति चंद्रमाकी किरणसमान उज्ज्वल सम्यक्त्वकौं प्राप्त करैहै, ता पुरुषकौं जैसें सुंदरपतिकौं आदर सहित स्त्री है ते स्वयमेव शीघ्रही सेवैहै तैसें उपमारहितहै सुख जिनके अर प्रमाणहै ज्ञानदर्शन जिनविर्षे ऐसी आदरसहित इंद्रादि पदकी लक्ष्मी स्वयमेव सेवैहै ॥ ९० ॥

दोहा।

विपरीताभिनिवेश तजि भजि निर्मल श्रद्धान।
याके धारक अमितगति लहत सकल कल्यान॥

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचारविर्षे
द्वितीय परिच्छेद समाप्त भया।



तीसरा परिच्छेद ।

आगे सम्यग्दर्शनके विषय जे जीवादिक पदार्थ तिनिका वर्णन करैहैं,—

> जीवाजीवादितत्त्वानि ज्ञातव्यानि मनीषिणा ।
> श्रद्धानं कुर्वता तेषु सम्यग्दर्शनधारिणा ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका धारणेवाला अर तिन जीवादिकनिविषैं श्रद्धानकौं करता ऐसा जो पंडितपुरुष ताकरि जीव अजीव आदि तत्वहैं ते जानने योग्य हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनकी निर्मलताके अर्थ जीवादिपदार्थ विस्तारसहित जानने योग्य हैं ॥ १ ॥

> तत्र जीवा द्विधा ज्ञेया मुक्तसंसारिभेदतः ।
> अनादिनिधनाः सर्वे ज्ञानदर्शनलक्षणाः ॥ २ ॥

अर्थ—तहां जीव हैं ते मुक्त अर संसारी भेदकरि दोय प्रकार जानना । कैसे हैं जीव आदि, अंतररहित हैं अर सर्वही ज्ञानदर्शन हैं लक्षण जिनके ऐसेहैं ।

भावार्थ—द्रव्यार्थिक नय करि जीव अनादिनिधन है अर एकेंद्रियतैं लगाय सिद्ध भगवानपर्यंत सामान्य ज्ञानदर्शनबिना कोई भी जीव नाहीं । ऐसा जानना ॥ २ ॥

> तत्र ध्वस्ताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।
> त्रिलोकवेदिनो मुक्तास्त्रिलोकाग्रनिवासिनः ॥ ३ ॥

अनंतरेपदूनांगसमानाकृतयः स्थिराः ।
आत्मनीनजनाभ्यर्च्या भाविनं कालमासते ॥ ४ ॥

अर्थ—तहां नष्ट भएहैं अष्ट कर्म जिनके अर प्राप्त भई है अष्टगुण रूप संपदा जिनके, बहुरि तीन लोकके जाननेवाले अर द्रव्यभावकर्मनितैं मुक्त भए, बहुरि तीन लोकके ऊपरि बसनेवाले ॥ ३ ॥

बहुरि अंतका किंचित् ऊन अंग प्रमाण है प्रदेशनिकी आकृति जिनकी, अर स्थिर हैं कंपरहित हैं, बहुरि आत्मज्ञानी जननि करि पूजनीक, ऐसे श्री सिद्धभगवान आगामी अनंतकाल तिष्ठें हैं ॥ ४ ॥

संसारिणो द्विधा जीवाः स्थावराः कथितास्त्रसाः ।
द्वितीयेऽपि प्रजायंते पूर्णापूर्णतया द्विधा ॥ ५ ॥

अर्थ—संसारी जीव स्थावर अर त्रस ऐसैं दोय प्रकार कहैहैं, तिन स्थावर अर त्रसनि विषैभी पर्याप्त अपर्याप्तपनैं करि दोय प्रकार हैं ॥५॥

आहारविग्रहाक्षाऽऽनवचोमानसलक्षणम् ।
पर्याप्तीनां मतं षट्कं पूर्णापूर्णत्वकारणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन ये हैं लक्षण जाके ऐसा जो पर्याप्तिनिका षट्क सो पर्याप्त अपर्याप्तपनेका कारण कह्या है।

भावार्थ—अपने योग्य पर्याप्तिकी जाकै पूर्णता है सो पर्याप्त जीव कहिये, जाकै पूर्णता नाहीं सो अपर्याप्त कहिये ॥ ६ ॥

चतस्रः पंच षट् ज्ञेयास्तेषां पर्याप्तयोऽङ्गिनाम् ।
एकाक्षविकलाक्षाणां पंचाक्षाणां यथाक्रमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तिन पर्याप्तिसहित एकेंद्रिय विकलेंद्रिय पंचेंद्रिय जीवनिकै च्यार, पांच, छह, पर्याप्ति यथाक्रम जाननी।

भावार्थ— एकेंद्रियकै मन वचन विना च्यार पर्याप्ति हैं, विकलत्रय असैनीकै पांच पर्याप्ति हैं, पंचेंद्रिय सैनीकै वचनमनसहित छह हैं, ऐसा जानना ॥ ७ ॥

एकाक्षाः स्थावरा जीवाः पंचधा परिकीर्तिताः ।
पृथिवी सलिलं तेजो मारुतं च वनस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ — पृथ्वी १ जल २ अग्नि ३ पवन ४ अर वनस्पति ५ ऐसैं एकेंद्रिय स्थावर जीव पांच प्रकार कहे हैं ॥ ८ ॥

भेदास्तत्र त्रयः पृथ्व्याः कायकायिकतज्जुषाः ।
निर्मुक्तस्वीकृतात्माभिरूपा एव परेष्वपि ॥ ९ ॥

अर्थ— तहां पृथ्वीके भेद तीन हैं पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव ऐसैं । तहां जीवने शरीर त्यागि दिया सो तो पृथ्वीकाय है, अर जो शरीर जीवन ग्रहण किया सो पृथ्वीकायिक है, अर जो जीव पृथ्वीकायिक होनेवाला है सो अंतरालमें पृथ्वीजीव है याही प्रकार जलादिकमें भी जानना ॥ ९ ॥

त्रसा द्वित्रिचतुःपंचहृषीकास्त्रसकायिकाः ।
पंचाक्षा द्विविधास्तत्र संज्ञ्यसंज्ञिविकल्पतः ॥ १० ॥

अर्थ—द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय जीव हैं ते त्रसकायिक कहे हैं । तहां पंचेंद्रिय हैं ते संज्ञी असंज्ञी भेद करि दोय प्रकार है ॥ १० ॥

शिक्षोपदेशनालापग्राहिणः संज्ञिनो मताः ।
प्रवृत्तमानसप्राणा विपरीतास्त्वसंज्ञिनः ॥ ११ ॥

अर्थ—शिक्षा उपदेश आलाप इनके ग्रहण करनेवाले, प्रवर्ते है मन जिनकै, ऐसे जीव हैं ते संज्ञी कहे हैं । बहुरि इनितैं विपरीत हैं ते असंज्ञी हैं ऐसा जानना ॥ ११ ॥

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमितींद्रियम्।
तस्य स्पर्शो रसो गंधो रूपं शब्दश्च गोचरः॥ १२॥

अर्थ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र, श्रोत्र, ऐसैं पांच इंद्रिय हैं। बहुरि तिनिका स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, विषय है॥ १२॥

गंडूपदजलूकाशुक्तिशंखेंद्रगोपकाः।
गदिता विविधाकारा द्विहृषीकाः शरीरिणः॥ १३॥

अर्थ—गिंडोया जौंक कौडी कृमि शंख इंद्रगोप ये नानाप्रकार आकार जिनके ऐसे द्वींद्रिय जीव कहे हैं॥ १३॥

कुंथुपिपीलिकालिक्षाकुंभमत्कुणवृश्चिकम्।
त्रिहृषीकं मतं प्राज्ञैर्विविधाकारसंयुतम्॥ १४॥

अर्थ—कुंथा कीडी लीख कुंभा खटमल बिच्छू ये [illegible] करि नानाप्रकार आकारयुक्त त्रींद्रिय कहे हैं॥ १४॥

पतंगमक्षिकादंशमशकभ्रमरादयः।
चतुरक्षा विनिर्दिष्टा विशिष्टजिनशासनैः॥ १५॥

अर्थ—[illegible] है जिन शासन जिनकै ऐसे पुरुषनि करि कह्या [illegible] माखी डांस मच्छर भ्रमर आदि जीव हैं ते चतुरिंद्रिय जानने॥ १५॥

तिर्यग्नरामराः ज्ञेयाः श्वाभ्रवासाश्रिताः।
द्विविधास्ते [illegible] पंचेंद्रियाः॥ १६॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ॥ १६॥

हृषीकपंचकं भाषा कायस्तांतबलत्रिकम् ।
आयुरुच्छ्वासनिश्वासद्वंद्वं प्राणा दशोदिताः ॥ १७ ॥

अर्थ—इंद्रियप्राण पंच अर भाषा मन काय ऐसें बल प्राण तीन बहुरि आयु अर उच्छ्वासनिश्वास ये दोय ऐसें प्राण दश कहे हैं ॥ १७ ॥

शरीराक्षायुरुच्छ्वासा भाषिता निखिलेष्वपि ।
विकलासंज्ञिनां वाणी पूर्णानां संज्ञिनां मनः ॥ १८ ॥

अर्थ—शरीर इंद्रिय आयु उच्छ्वास ये च्यार प्राण सर्वही पर्याप्तनिविषैं कहे हैं, अर विकलेंद्रिय अर असंज्ञी पचेंद्रिय पर्याप्तनिकैं भाषा प्राण है, अर संज्ञीपर्याप्तनिविषैं मनप्राण है ॥ १८ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकाणां विभाजिताः ।
तेऽन्येषां त्रिचतुष्कं च षट्सप्तांगायुरिंद्रियैः ॥ १९ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय जीवनिके भेदरूप प्राणहैं । एकेंद्रियकैं स्पर्शनइंद्रिय शरीर आयु उच्छ्वास ऐसें च्यार, द्वीन्द्रियकै रसनाइंद्रिय अर वचन मिले छह, त्रींद्रियकै घ्राण अधिक सात, चतुरिंद्रियकै नेत्रअधिक आठ, असैनी पंचेंद्रियकैं श्रवण अधिक नौ, संज्ञी पंचेंद्रियकैं मन अधिक दश; ऐसें पर्याप्तनिके कहे । बहुरि ते प्राण अपर्याप्तनिविषैं एकेंद्रियकैं स्पर्शनइंद्रिय काय आयु ऐसें तीन हैं, द्वींद्रियकै रसनासहित च्यार हैं, त्रींद्रियकैं घ्राणसहित पांचहैं, चतुरिंद्रियकैं चक्षुसहित छहहैं, पंचेंद्रियकैं श्रोत्रसहित सातहैं ऐसा जानना ॥१९॥

जरायुजांडजाः पोता गर्भजा देवनारकाः ।
उपपादभवाः शेषाः सर्वे सम्मूर्च्छना मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जरायुज कहिए जाल्यत् प्राणीनिकैं शरीर ऊपरि आवरण मांस लोहू जामैं विस्ताररूप पाइए ता सहित उपजैं ते जरायुज, अर

अंडानितैं उपजैं ते अंडज, अर योनितैं निकसताही चालना आदि सा[illegible] र्थ्ययुक्त उपजै ते पोतज ये तीन प्रकार की गर्भजहैं, अर देव नारकी है ते उपपादशय्या सो है जन्म जिनका ऐसेहैं, बहुरि इनितैं बाकी जीव सम्मूर्छनतें है जन्म जिनका ऐसे कहेहैं ॥ २० ॥

श्वाभ्रसम्मूर्छिनो जीवा भूरिपापा नपुंसकाः ।
स्त्रीपुंवेदा मता देवाः सवेदत्रितयाः परे ॥ २१ ॥

अर्थ—बहुत है पाप जिनके ऐसे नारकी अर सम्मूर्छन जीव है ते नपुंसकहैं; अर देवहैं ते स्त्रीवेदी, अर पुरुषवेदीहैं; अर बाकी और जीव तीनों वेदवालेहैं ऐसा जानना ॥ २१ ॥

सचित्तः संवृतः शीतः सेतरो वा विमिश्रकः ।
त्रिभेदैरागमैर्भिन्नो नवधा योनिरंगिनाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—सचित्त अर संवृत अर शीत, इनिके इतर जो अचित्त [illegible] [illegible] [illegible] सचित्ताचित्त [illegible] ऐसा जानना ॥ २२ ॥

पृथ्व्यादि[illegible] सप्त भेदाः [illegible] नित्यानित्य[illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ २३ ॥
[illegible] मनुष्येषु [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ २४ ॥

अर्थ—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नारकी, अर [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है

च्यारि ऐसैं सह स्थाननिविषैं सातलक्ष योनि जाननी, अर नारकी देव तिर्यंच इनि विषैं च्यारि च्यारि लक्ष योनि जाननी, विकलत्रयविषैं छह-लक्ष योनि है, अर मनुष्यनि विषैं चौदह लक्ष योनिहै। ऐसैं सर्व एकठी करी भई चौरासी लक्ष योनिहैं ये पूर्वोक्त सचितादियोनिनिके विशेष भेद जानने ॥ २५ ॥

गतींद्रियवपुर्योगज्ञानवेदक्षुधादयः।
संयमाहारभव्येक्षालेश्यासम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥ २५ ॥

अर्थ—गति च्यारि, इंद्रिय पांच, काय छह, योग पंद्रह, ज्ञान आठ, वेद तीन, क्रोधादिक कषाय च्यार, संयम सात, आहारक दोय, भव्य दोय, दर्शन च्यार, लेश्या छह, सम्यक्त्व छह, संज्ञी दोय, ऐसैं चौदह मार्गणा कहीहैं ॥ २५ ॥

मार्ग्यंते सर्वदा जीवा यासु मार्गणकोविदैः।
सम्यक्त्वशुद्धये मार्ग्यास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ॥ २६ ॥

अर्थ—विचारविषैं प्रवीण जे पुरुष तिन करि जिनविषैं जीव हैं ते सदा विचारियेहैं ते चतुर्दश मार्गणा सम्यक्त्वकी शुद्धिके अर्थ सदा विचारनी योग्यहैं ॥ २६ ॥

मिथ्यादृष्टिः सासनो मिश्रदृष्टिः
सम्यग्दृष्टिः संयतासंयताख्यः।
ज्ञेयावन्यौ द्वौ प्रमत्ताप्रमत्तौ
सत्रापूर्वेणानिवृत्यल्पलोभौ ॥ २७ ॥
शांतक्षीणौ योग्ययोग्यौ जिनेन्द्रौ
द्विः सप्तैवं ते गुणस्थानभेदाः।
त्रैलोक्याग्रारूढिसोपानमार्गा-
स्तथ्यं येषु ज्ञायते जीवतत्त्वम् ॥२८॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्रदृष्टि, सम्यग्दृष्टि बहुरि संयतासंयत है नाम जाका, प्रमत्त, अप्रमत्त दोय ये जानने योग्य हैं; अर अपूर्वकरणसहित अनिवृत्तिकरण अर सूक्ष्मलोभ अर उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगीजिन, अयोगीजिन ऐसें गुणस्थाननिके चौदह भेद हैं, ते त्रैलोक्यका अग्र जो सिद्धपद ताके चढ़नेकूं सोपानमार्ग हैं। जिनविषैं सांचा जीवका जानिये है।

भावार्थ—मोहनीय आदि कर्मनिका उदय उपशम क्षय क्षयोपशम परिणामरूप जे अवस्थाविशेष तिनकौं होतसंतैं उत्पन्न भये जे भाव कहिए जीवके मिथ्यात्वादिक परिणाम तिनकरि जीव हैं ते "गुण्यंते" कहिए लखिए वा देखिए व लक्षित कहिए; ते जीवके परिणाम गुणस्थानसंज्ञाके धारक हैं। तहां मिथ्या कहिये अतत्त्वमें है दृष्टि कहिए श्रद्धान जाकै सो मिथ्यादृष्टि है, बहुरि आसादन जो विराधन ता सहित वर्तै सो सासादन है सम्यग्दृष्टि जाकै सो सासादनसम्यग्दृष्टि है अथवा आसादन कहिए सम्यक्त्वका विराधन ता सहित जो वर्तमान सो सासादनसम्यग्दृष्टि है, बहुरि पूर्वै नयाका सम्यक्त्व बिना न्याय करि इस सम्यग्दृष्टिका जानना। बहुरि सम्यक्त्व अर मिथ्यात्वका मिश्रभाव सो मिश्र है। बहुरि सम्यक् कहिये समीचीन है दृष्टि कहिए तत्त्वार्थश्रद्धान जाकै सोई सम्यग्दृष्टि, अर सोही अविरत कहिये असंयमी सो अविरतसम्यग्दृष्टी है। बहुरि देशसं कहिए एकदेशतैं है विरत कहिए संयमी सो देशविरत है संयम असंयमकरि मिश्र भाव है। इहांतैं ऊपरि सबै गुणस्थानवर्ती संयमी ही हैं, बहुरि प्रमत्त कहिये प्रमाद करै सो प्रमत्त है, बहुरि प्रमाद न करै सो अप्रमत्त है, बहुरि अपूर्व है करण कहिए परिणाम जाकै सो अपूर्वकरण है, बहुरि न पाइये है निवृत्ति कहिये ... ... निवृत्तिरूप करण कहिए परिणाम जाकै सो अनिवृत्तिकरण है, बहुरि सूक्ष्म है सांपराय कहिये लोभकषाय जाकै सो सूक्ष्मसांपराय

है; बहुरि उपशांत भया है मोह जाका सो उपशांतमोह है; बहुरि क्षीण भया है मोह जाका सो क्षीणमोह है; बहुरि घातिकर्मनिकौं जीतता भया सो जिन, बहुरि केवल ज्ञान है जाकै सो केवली, सोई केवली सोही जिन, बहुरि योग करि सहित सो सयोग सोही सयोगकेवली जिन है; बहुरि योग जाकै न होय सो योगी नांही सो अयोगी सोही केवलीजिन सो अयोगकेवलिजिन हैं। ऐसैं मिथ्यादृष्टि आदि अयोगिकेवलिजिन पर्यंत चौदह गुणस्थान जानना। इहां ग्रंथ बधनेके भयतैं नामका अर्थमात्र स्वरूप कह्या विशेष अन्य आगमतैं जानना॥

ऐसैं जीवतत्त्वका वर्णन किया, आगैं अजीवतत्त्वका वर्णन करै हैं;

धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाः परिकीर्तिताः।
अजीवाः पंच सूत्रज्ञैरुपयोगविवर्जिताः॥ २९॥

अर्थ—सूत्रके जाननेवाले नर धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य कालद्रव्य पुद्गलद्रव्य ये पांच, उपयोग जो दर्शन ज्ञान ताकरि रहित अजीव कहै हैं॥ २९॥

अमूर्ता निष्क्रिया नित्याश्चत्वारो गदिता जिनैः।
रूपगंधरसस्पर्शशब्दवंतोऽत्र पुद्गलाः॥ ३०॥

अर्थ—धर्म अधर्म काल आकाश ये च्यार द्रव्य अमूर्त्त कहिये वर्ण गंध रस स्पर्श रहित अर निःक्रिय कहिए प्रदेशनिके चलिवेकरि रहित जिनदेवनि करि कहे हैं। बहुरि इहां रूप गंध रस स्पर्श शब्दवान हैं ते पुद्गल हैं, रूप गंध रस स्पर्श है जातैं सदा अनुयायी है अर शब्द है सो पर्याय है जातैं पुद्गलस्कंधनितैं कदाचित उपजै है। इहां शब्द कहने करि बंध, सूक्ष्म स्थूल संस्थान भेद तम छाया आतप उद्योत ए सर्व पुद्गलके पर्याय जान लेना॥ ३०॥

लोकालोकौ स्थितं व्याप्य व्योमानंतप्रदेशकम्।
लोकाकाशं स्थितौ व्याप्य धर्माधर्मौ समं ततः ॥ ३१ ॥

अर्थ—लोक अलोक दोउनिकौं व्याप्त करि अनंत हैं प्रदेश जाके ऐसा आकाश आस्थित है। बहुरि लोकाकाशकौं सर्व तरफतैं व्याप्त करि धर्मद्रव्य अर अधर्मद्रव्य तिष्ठै हैं ॥ ३२ ॥

धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशकाः।
अनंतानंतमानास्ते पुद्गलानामुदाहृताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य अर एकजीवद्रव्य इनके असंख्याते प्रदेश हैं। बहुरि पुद्गलनिके प्रदेश अनंतानंतप्रमाण कहे हैं ॥३२॥

जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिविधायिनौ।
धर्माधर्मौ मतौ प्राज्ञैराकाशमवकाशकृत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीवनिकौं तथा पुद्गलनिकौं गति अर स्थितिके करानेवाले धर्म अधर्मद्रव्य बुद्धिमाननि करि कहे हैं, अर आकाश है सो अवकाशका करनेवाला कहिए देनेवाला है।

भावार्थ—जैसे मार्ग चालते मच्छनिकौं जल गमनसहकारी है, अर [illegible] छाया तिष्ठनेमें सहकारी है तैसें गमन करते वा तिष्ठते जीव पुद्गलनिकौं धर्म अधर्म सहकारी हैं कछु प्रेरणाकरि [illegible] नाहीं उदासीन कारण है। अर यद्यपि सर्व द्रव्य अपने अपने आधार तिष्ठै हैं तथापि पर द्रव्यनिकौं आकाश देना यह [illegible] ॥ ३३ ॥

असंख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणवः।
एकैका वर्तनाकारा मुक्ता इव व्यवस्थिताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—[illegible] [illegible]

भावार्थ—वर्तनादि स्वरूप जिनका ऐसे असंख्याते परमाणु भिन्न क्षेत्रविषै तिष्ठै सो तो निश्चयकाल है। अर अन्यद्रव्यनिके पर्यायनिकरि समयादिभेद कहिए सो व्यवहारकाल है ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वंति पुद्गलाः ।
अणुस्कंधविभेदेन विकल्पद्वयभागिनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—पुद्गल जे हैं ते जीना मरण सुख दुःखको करै हैं, कैसे हैं पुद्गल अणु स्कंधके भेदकरि दोय भेदके भजनेवाले हैं। इहां संसारीनिके प्राणका संयोग सो जीवन अर तिनका वियोग सो मरण अर इंद्रियजनित सुख दुःख इनके कारण पुद्गल है ताते पुद्गल करै है ऐसा जानना ॥३५॥

विश्वंभरा जलं छाया चतुरिंद्रियगोचराः ।
कर्माणि परमाणुश्च षड्विधः पुद्गलो मतः ॥ ३६ ॥
स्थूलस्थूलमिदं स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं जिनेश्वरैः ।
सूक्ष्मस्थूलं मतं सूक्ष्मं सूक्ष्मसूक्ष्मं यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, छाया, च्यार इंद्रियनिके विषय अर कर्म, अर परमाणु ऐसे छहप्रकार पुद्गलद्रव्य कह्या है ॥ ३६ ॥

बहुरि जिनेश्वरनिकरि यथाक्रम कहिए पृथ्वी तो स्थूलस्थूल, अर जल स्थूल, अर छाया स्थूलसूक्ष्म, अर नेत्र विना चतुरिंद्रियके विषय सूक्ष्मस्थूल, अर कार्मण वर्गणा सूक्ष्म, अर परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म कह्या है॥३७॥

ऐसे अजीवतत्त्वका वर्णन किया; आगै आस्रवतत्त्वकौ कहै हैं;—

यद्वाक्कायमनःकर्म योगोऽसावास्रवः स्मृतः ।
कर्मास्रवत्यनेनेति शब्दशास्त्रविशारदैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो वचन काय मन इनका कर्म कहिये चलना सो योग है यह आस्रव है। शब्दशास्त्रविषै निपुण पुरुषनिकरि जाकरि कर्म आस्रवै सो आस्रव है ऐसा कह्या है ॥ ३८ ॥

शुभोऽशुभस्य विज्ञेयस्तत्रान्योन्यस्य कर्मणः।
कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—तहां शुभयोग शुभकर्मका कारण जानना अर अशुभयोग अशुभकर्मका; जातैं लोकविषैं कारणके अनुरूप कार्य होय है ॥ ३९ ॥

संसारकारणं कर्म सकषायेण गृह्यते।
येनान्यथा कषायेण कषायस्तेन वर्ज्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—जा कारणकरि कषायसहित जो जीव ताकरि संसारका कारण कर्म ग्रहण करियेहै अर कषायरहितकरि संसारका कारण कर्म ग्रहण न करिये है ता कारण कषाय त्यागिए है।

भावार्थ—सांपरायिक आस्रव तौ सकषाय जीवकै होयहै अर ईर्यापथिक आस्रव कषायरहित एकादशमादि गुणस्थाननिविषैं होयहै सो केवल योगकृत है तातैं संसारका कारण नाहीं ऐसा जानना ॥ ४० ॥

ज्ञाताज्ञातामंदमंदादिभावैश्चित्रश्चित्रं जन्यते कर्मजालं।
नाचित्रत्वे कारणस्येह कार्यं किंचिच्चित्रं दृश्यते जायमानं ॥ ४१ ॥

अर्थ—ज्ञानभाव अज्ञातभाव तीव्रभाव मंदभाव आदिशब्दकरि अधिकरण अर वीर्य इन प्रकारनि करि नानाप्रकारकर्मजाल उपजाइएहै लोकविषैं कारणके नानाप्रकारपना न होतैं नानाप्रकार कार्य किछू उपज्या न देखिएहै।

भावार्थ—यह प्राणी हिंसनायोग्य है ऐसा जानकरि हिंसामैं प्रवर्तना इत्यादिक ज्ञानभावहै, बहुरि प्रमादतैं या मदतैं विना जानें हिंसादिकमैं प्रवर्तना सो अज्ञानभावहै, तीव्रक्रोधादिकके उदयतैं होय सो तीव्रभावहै, मंदक्रोधादिकके उदयतैं होय सो मंदभावहै, बहुरि जाकै विषैं हिंसादिक आधाररूप कीजिए सो अधिकरण कहिए, बहुरि द्रव्यकी

रूपो निजसामर्थ्य सो वीर्य कहिए, इनिके नानाप्रकार तीव्रमंदादि भेद-करि आत्मविषैं भी भेद है ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

तिरस्कारमात्सर्यपैशून्यविघ्न-
प्रघातप्रलापादिदोषैरनेकैः ।
विरोधावरोधस्तथेक्षावरोधो
दुरंतैः कृतैर्गृह्यते गर्हणीयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शनके धारकनिका वा ज्ञानदर्शनका तिरस्कार करणा वा मात्सर्य मद करणा वा पैशुन्य चुगली खाना, वा अंतराय करणा वा घात करणा वा झूंठे दोष कहना इत्यादि अनेक दूरहै अंत जिनका ऐसे करे भये दोषनि करि निंदने योग्य ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ग्रहण कीजिएहै ॥ ४२ ॥

वधाक्रन्ददैन्यप्रलापप्रपंचै-
र्निकृष्टेन तापेन शोकेन सद्यः ।
परात्मोभयस्थेन कर्मागिवर्गै-
रसातं सदा गृह्यते दुःखपाकम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्राणनिका वियोग करणा सो वध, अर अश्रुपातसहित रुदन विलाप करणा सो आक्रंदन, अर दीनपना कहिए जाहि देखें दया उपजै, तथा प्रलाप कहिये बकवाद इनिके विस्तारनिकरि, तथा परके वचन सुनि मनमें कलुषता सो ताप ताकरि, तथा ताकी चिंता धरता इष्टवि-योग भये संतै निकृष्ट दुःख जो पीडारूप परिणाम ताकरि, तथा खेद-रूप परिणाम जो निकृष्ट शोक ता करि दुःखरूप है उदय जाका ऐसा जो असाता वेदनीय कर्म ताहू जीवनके समूहनि करि सदा शीघ्र ग्रहण कहिए है। वैसेक हैं पूर्वोक्त कारण, परविषैं वा आपविषैं वा पर आप दोउनिविषैं स्थित कहिए वर्ते है।

भावार्थ—आपविषैं वा परविषैं वा पर आप दोऊनिविषैं करे भये वंधादिक कारण करि असाता वेदनीयका आस्रव होय है ॥ ४३॥

साधूपास्त्या प्राणिरक्षा तितिक्षा
सर्वज्ञार्चा दानशौचादियोगैः।
सातं कर्मोत्पद्यते शर्मपाकं
शिष्टाभिष्टैः पोषितैः सज्जनैर्वा ॥ ४४ ॥

अर्थ—साधूनकी सेवा अर जीवनकी रक्षा अर क्षमा अर सर्वज्ञकी पूजा अर दान अर निर्लोभपरिणामादिक अर शुभध्यान इन पापरहित क्रियाका आचरण करि सातावेदनीय कर्म उपजै है, जैसैं उत्तम है मनोरथ जिनके ऐसे पोषे भए सज्जननि करि सुखका परिपाक उदय होय है तैसैं, यह दृष्टांत है ॥ ४४ ॥

मोक्तव्येनावर्णवादेन देवे
धर्मे संघे वीतरागे श्रुते च।
मद्येनेवाऽऽस्वाद्यमानेन मद्यो
घोराकारो जन्यते दृष्टिमोहः ॥ ४५ ॥

अर्थ—देवविषैं तथा धर्मविषैं तथा संघविषैं तथा वीतराग केवली विषैं तथा शास्त्रविषैं त्यागनेयोग्य जो अवर्णवाद ताकरि स्वाद्या भया जो मदिरा ताकरि जैसे घोरहै आकार जाका ऐसा दैरानेमें गहल्भाव उपजाइए है तैसैं दर्शनमोह कर्म उपजाइये है।

भावार्थ—अंतरगकलुषताके दोषनैं न होते दोषनिका प्रकट करणा सो अवर्णवाद है, तहां च्यार प्रकार देव हैं तिनमें व्यंतर मांसका सेवन करै है इत्यादिक कहना सो देवावर्णवाद है, बहुरि जिनभाषित दश प्रकार धर्म गुणरहित है ताके सेवनेवाले असुर होय है इत्यादिक कहना सो धर्मका अवर्णवाद है, बहुरि जे मुनि हैं ते स्नानरहित मलकरि लिप्त्या

है अंग जिनका ऐसे अपवित्र शूद्र हैं इत्यादिक कहना सो संघका अवर्णवाद है, बहुरि केवली कवलाहारतें जीवे वा क्रमप्रवृत्त ज्ञानदर्शन सहित है इत्यादि कहना सो केवलीका अवर्णवाद है, बहुरि मांस मद्यका खाना मदिरा पान सेवना स्त्री भोगना रात्रिभोजन इत्यादि पापरहित है ऐसा कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है; ऐसें देवादिकके अवर्णवादतें दर्शनमोहका बंध होय है, जाकरि संसारविषैं अनंत परिभ्रमण होयहै ऐसा जानना ॥ ४५ ॥

सौम्यध्वंसी जन्यते निंदनीयो
रौद्रो भावो यः कषायोदयेन ।
दत्ते जंतोरेव चारित्रमोहं
विद्वेषी वा ताड्यमानो निकृष्टः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो कषायके उदयकरि निंदनेयोग्य अर शुभका नाश करनेवाला रौद्रभाव उपजाइयेहै सो जीवकी चारित्रमोह देयहै, जैसें द्वेषभावसहित ताड्या भया नीचपुरुष आचरणमें प्रवेगपना उपजावै तैसें ।

भावार्थ—क्रोधादिक कषायनिके उदयतें जो तीव्रपरिणाम होय ताकरि जीवकै चारित्रमोहका आस्रव होयहै ऐसें जानना ॥ ४६ ॥

बह्वारंभग्रंथसंदर्भदर्पैः
रौद्राकारैस्तीव्रकोपादिजन्यैः ।
श्वभ्रावासे प्राप्यते जीवितव्यं
किंवा दुःखं दीयते पापचेष्टैः ॥ ४७ ॥

अर्थ—बहुत आरंभ कहिये हिंसाकर्म, अर यह मेरी वस्तु, मैं याका स्वामी हूं ऐसा आत्मीय भाव सो परिग्रह, इनकी ऐसी रचनाके मदनि करि तथा भयानक है आकार जिनके ऐसे तीव्रक्रोधादिके उपजावनेवाले भावनि करि नरकनिवासविषै जीवितपना पाइयेहै, अथवा पापरूप चेष्टानिकरि कहा दुःख न दीजिए है ! दीजिये ही है ।

विनयसंपन्नता कहिए, बहुरि अहिंसादिक व्रत अर तिनके रक्षणके अ
जे जे क्रोधादिक कषायनके त्यागरूप शील तिनविषैं निर्दोष प्रवृत्ति सो
शीलव्रतेष्वनतीचार कहिये, बहुरि ज्ञानभावनाविषैं निरन्तर उपयुक्त
सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहिये, बहुरि संसारके दुःखनितैं भयभीतता
सो संवेग कहिए, बहुरि आपके वा परके अर्थ देना सो त्याग है
बहुरि नाहीं छिपाया है वीर्य जानैं ऐसे पुरुषकै मार्गतैं अविरुद्ध का
क्लेश करणा सो तप है, बहुरि जैसें भाण्डागारमें अग्नि उठे ताकौं
शमन करिए तैसें अनेक व्रतशील करि सहित मुनिनके समूहके तप
कहूंतैं विघ्न उठनें संतैं ताका उपशम करि तिनकी स्थिरता करिये सो
साधुसमाधि कहिए, बहुरि गुणवानकैं दुःख आए संतैं निर्दोषविधि
करि दुःख दूर करणा सो वैयावृत्य कहिए, बहुरि अरहंतनिविषैं तथा
आचार्यनिविषैं तथा बहुश्रुतनिविषैं तथा प्रवचन जो जिनवाणी ताविषैं
भावकी शुद्धतासहित जो अनुराग सो अर्हद्भक्ति आचार्यभक्ति बहुश्रुत
भक्ति प्रवचनभक्ति कहिये, बहुरि सामायिकादि छह आवश्यक क्रिया
निका यथाकाल करणा सो आवश्यकापरिहाणि कहिए, बहुरि ज्ञान तप
जिनपूजाकी विधि इनकरि धर्मका प्रकाशना सो मार्गप्रभावना कहिए,
बहुरि वच्छाविषैं गौकी ज्यों साधर्मी विषैं जो प्रीति सो प्रवचनवात्सल्य
कहिए। ऐसैं यह षोडशकारण सम्यग्दर्शनसहित तीर्थंकरनामकर्मके
आस्रवके कारण जानना ॥ ५१ ॥

नीचैर्गोत्रं स्वप्रशंसान्यनिंदे
कुर्वाणोऽसत्सद्गुणोच्छादने च।
प्राप्नोत्यंगी प्रार्थनीयं महिष्ठै—
रुच्चैर्गोत्रं मंक्षु तद्वैपरीत्ये ॥ ५२ ॥

अर्थ—आपकी प्रशंसा वा अन्यकी निंदा अर आपके न होते गुण
प्रगट करणा अर दूसरेके होते गुण ढांकना इनकौं करता संता

नीच गोत्रको प्राप्त होय है, बहुरि तिनके विपरीतपना होनेतैं बडे पुरुषनिकरि प्राप्तिने योग्य उच्च गोत्रकूं होनहारी पावै है ॥ ५२ ॥

> दानं लाभो वीर्यभोगोपभोगा
> नो लभ्यंते प्राणिना विघ्नभाजा ।
> विज्ञायेत्थं विघ्नभीतेन विघ्नो
> नो कर्तव्यः पंडितेन त्रिधाऽपि ॥ ५३ ॥

अर्थ—विघ्न जो अंतराय ताका करनेवाला जो जीव ताकरि दान लाभ भोग उपभोग वीर्य न पाइएहै ऐसा जानि विघ्नतैं भयभीत पंडितजनकरि मनवचनकायतैं विघ्न करना योग्य नाहीं ।

भावार्थ—परके दानादिकमें विघ्न करनेतैं अंतरायका आस्रव होयहै ॥ ५३ ॥

इहां कोऊ कहै ये ज्ञानावरणादिकके नियमरूप कारण कहे ते सबही कर्मनके आस्रवके कारण होयहैं। जाकरि जातैं आगमविषै ज्ञानावरणका बंध होता युगपत औरनका भी बंध कहिएहै तातैं आस्रवके नियमका अभाव आया ताकौं कहिएहै—यद्यपि पूर्वोक्त कारणनकरि ज्ञानावरणादिक सर्व कर्मनिका प्रदेशादिबंधका नियम नाहीं तथापि अनुभागविशेषके नियमके हेतुपने करि न्यारे न्यारे कारण कहिएहैं ऐसा जानना ।

आगे बंधतत्वका वर्णन करैहैं,—

> ये गृह्यंते पुद्गलाः कर्मयोग्याः
> क्रोधाद्यार्द्रैश्चेतनैरेष बंधः ।
> मिथ्यादृष्टिर्निर्व्रतत्वं कषायो
> योगो ज्ञेयस्तस्य बंधस्य हेतुः ॥ ५४ ॥

अर्थ—क्रोधादिक कषायनिकरि सहित जीवनिकरि कर्म यो पुद्गल ग्रहण करियेहै सो यह बंधहै, बहुरि ता बंधके बीजभूत का मिथ्यादर्शन, अविरत, कषाय, योग जानना योग्य है।

भावार्थ—जैसें भूखसहित जीव मुखद्वार करि आहार ग्रहण क तैसें मोहसहित जीव योगद्वारतें कार्माण वर्गणा ग्रहण करै सो कह्या ॥ ५४ ॥

बंधः स मतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन।
पटुभिश्चतुःप्रकारो येन भवे भ्रम्यते जीवः ॥ ५५ ॥

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश इन भेदनिकरि सो प्रवीण पुरुषनिनें च्यार प्रकार कह्याहै, जिस बंध करि जीव संसार भ्रमाइए है ॥ ५५ ॥

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोंऽशप्रकल्पनम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—स्वभाव तो प्रकृति कहीहै जैसें निंबका कटुक स्वभा मिश्रीका मिष्टस्वभावहै ऐसें ज्ञानावरणादिकनिका ज्ञानघातनादि स्वभावहै सो तो प्रकृतिबंध जानना, बहुरि काल जो अवधारण मर्या सो स्थिति बंध है,

भावार्थ—तिस स्वभावका न छूटना सो स्थिति है, बहुरि विप जो रस सो अनुभागबंध है,

भावार्थ—तिस प्रकृतिके रसविशेषका नाम अनुभवहै . जैसें अ गौ महिषी आदिके दुग्धनिके तीव्र मंदादि भावकरि विशेषताहै त बहु अंश जे परमाणु तिनकी सख्याका कल्पना सो प्रदेशबंध है,

भावार्थ—जघन्य तौ अभव्यनितें अनंतगुणा उत्कृष्ट सिद्धनके अनंतवें भाग जो समयप्रबद्ध ताका ज्ञानावरणादिरूप यथायोग्य हीनाधिक परमाणूनका बटवारा हो जाय सो प्रदेशबंध है ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

करोति योगात्प्रकृतिप्रदेशौ कषायतः स्थित्यनुभागसंज्ञौ ।
स्थितिं न बंधः कुरुते कषाये क्षीणे प्रशांते स ततोऽस्ति हेयः। ५७।

अर्थ—योगतैं प्रकृति अर प्रदेशबंधकौं करैहै, बहुरि स्थिति अर अनुभागनामा बंधकौं कषायतैं करैहै, बहुरि कषायकौं क्षय होतसंतैं वा उपशम होतसंतैं बंध स्थितिकौं न करैहै तातैं सो कषाय त्यागना योग्यहै।

भावार्थ—कषायबिना केवल योगनतैं बंध होयहै सो एक सातावेदनीयका स्थितिबंधहै सो अनंतर समयमैं गिर जायहै सो संसारका कारण नाहीं, बहुरि कषायसहितके बंध होयहै सो स्थिति अनुभाग सहित होयहै सो संसारका कारणहै। तातैं कषाय त्यागना योग्यहै ऐसा जानना ॥ ५७ ॥

स्वीकरोति स कषायमानसो मुंचते च विकषायमानसः ।
कर्म जंतुरिति सूचितो विधिर्बंधमोक्षविषयो विरेपसैः ॥ ५८ ॥

अर्थ—कषायसहितहै मन जाका ऐसा पुरुष है सो कर्मकौं अंगीकार करैहै, बहुरि कषायरहितहै मन जाका ऐसा जीवहै सो कर्मकौं त्यागे है; ऐसें बंधमोक्षकी विधि बंधनरहित जे सर्वज्ञदेव तिनकरि कहीहै।

भावार्थ—रागभावतैं तो बंधहै अर वीतराग भावतैं मोक्षहै ऐसा सर्वज्ञका उपदेशहै तातैं राग त्यागि वीतराग होना योग्यहै ॥ ५८ ॥

ऐसें बंधतत्वका वर्णन किया; आगें संवरतत्वका वर्णन करैहैं:—

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
भावद्रव्यविकल्पेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥ ५९ ॥

अर्थ—करया है संवर जिननैं ऐसे मुनीश्वरनिकरि आस्रवका रोकना सो संवर द्रव्य भावके भेदकरि दोयप्रकार कहिएहै ॥ ५९ ॥

क्रोधलोभभयमोहरोधनं भावसंवरमुशंति देहिनाम् ।
भाविकल्मषनिवेशरोधनं द्रव्यसंवरमपास्तकल्मषाः ॥६०॥

अर्थ—नाश कियेहै पाप जिननैं ऐसे आचार्य हैं ते क्रोधलोभ भय मोह इनिका जो रोकना ताहि भाव संवर कहैहैं, बहुरि आगामी कर्मके प्रवेशका रोकना ताहि द्रव्यसंवर कहैहैं ।

भावार्थ—रागादिभाव रोकना सो द्रव्यसंवर कहिए ऐसा जानना अर ताके निमित्त करि बन्ध जे कर्मपुद्गल तिनका रोकना सो द्रव्यसंवर कहिए । ऐसा जानना ॥ ६० ॥

धार्मिकः समितो गुप्तो विनिर्जितपरीषहः ।
अनुप्रेक्षापरः कर्म संवृणोति ससंयमः ॥ ६१ ॥

अर्थ—धर्मसहित अर समितिसहित अर गुप्तिसहित अर जीते हैं परीषह जानें, ऐसा बहुरि अनुप्रेक्षामें तत्पर अर संयमसहित ऐसा जीवहै सो कर्मको संवरैहै—रोकैहै ।

भावार्थ—कषायनिके अभावरूप उत्तमक्षमादि दश धर्म अर प्रमादरहित प्रवृत्तिरूप पंच समिति अर भले प्रकार मनवचन कायके योगनिका निग्रहरूप तीन गुप्ति, अर मार्गतैं न छूटनेके अर्थि तथा निर्जराके अर्थि सहने योग्य क्षुधादि बाईस परीषह, बहुरि स्वभावका बारंबार चिन्तवनरूप अनित्यादि द्वादशानुप्रेक्षा, बहुरि प्राणीनिकी हिंसा अर इन्द्रियनिके विषय इनिके त्यागरूप सामायिकादि पंचप्रकार संयम ये भाव संवरके विशेष जानैं इनिकरि रागादि आस्रव रुकैहै ऐसा जानना ॥ ६१ ॥

भावार्थ—सविपाक निर्जरा तौ अपनी स्थिति पूरी करि समयप्रबद्धमात्र कर्म सबहीकैं खिरैहै तातैं साधारणहै अर ताके उदयतैं जीवकैं राग द्वेष होयहै ताकरि आगामी कर्मबंध होयहै। अर जो सम्यग्दर्शनादिकके प्रयोग करि विना स्थिति पूरी भए हीं अनेक समयप्रबद्ध एकै काल खिरैं सो अविपाकनिर्जरा है, इहां जीवकैं रागादिकके अभावतैं आगामी कर्म न बंधैहै तातैं मोक्षहीकी करनेवालीहै ऐसा जानना ॥६५॥

वितप्यमानस्तपसा शरीरी
पुराकृतानामुपयाति शुद्धिम्।
न ध्मायमानः कनकोपलः किं
सप्तार्चिषा शुद्ध्यति कश्मलेभ्यः ॥ ६६ ॥

अर्थ—तप करि तपायमान जीवहै सो पूर्वकृत कर्मनकी शुद्धिताकौं प्राप्त होयहै, जैसैं अग्नि करि धम्या भया सुवर्णका पाषाण सो मलनितैं कहा शुद्ध न होयहै? होय हीहै ॥ ६६ ॥

घातिकर्म विनिहत्य केवलं
स्वीकरोति भुवनावभासकम्।
चेतनः सकललोकसम्मतं
ध्वांतराशिमिव भास्करो दिनम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—चेतन आत्माहै सो घातिकर्मनिकौं नाशकरि लोकका प्रकाशक अर समस्त लोक करि मान्या ऐसा जो केवलज्ञान, ताहि अंगीकार करैहै, जैसैं अंधकारके समूहकौ नाशकरि सूर्य दिनकौ अंगीकार करैहै ॥ ६७ ॥

निसूदकायं स निकृष्य कल्मषं
प्रयाति सिद्धिं कृतकर्मनिर्जरः।

विनिर्मलध्यानसमृद्धपावके
निवेश्य दग्ध्वाऽखिलबंधकारणम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—विशेषकरि निर्मल ध्यान जो शुक्लध्यान सो ही भया वृद्धिकों प्राप्त अग्नि, ताविषैं प्रवेश कराय समस्त बंधके कारणनिकों जलायकरि करीहै धर्मकी निर्जरा जानैं ऐसा जो आत्मा सो कल्मष ज्यो समस्त कर्म ताहि निर्मूल जैसें होयतैसें उखाडकरि मोक्ष अवस्थाकों प्राप्त होयहै ॥ ६८ ॥

निसर्गतो गच्छति लोकमस्तकं
कर्मक्षयानन्तरमेव चेतनः।
धर्मास्तिकायेन समीरितोऽन्वयं
समीरणेनेव रजश्चयः क्षणात् ॥ ६९ ॥

अर्थ—कर्मक्षयके अनंतरही धर्मास्तिकाय करि प्रेरया आत्मा क्षणमात्रमें निर्मल होय लोकके मस्तक परि गमन करैहै, जैसें पवन करि उडाया रजका समूह ऊपरकों जाय तैसें।

भावार्थ—आत्माका ऊर्द्धगमनस्वभावहै, कर्म नष्ट भये निजस्वभाव प्रगटैहै सो करि धर्मास्तिकायके सहायतैं लोकके शिखर ताई धर्मास्तिकाय है तहां ताई जाय तिष्ठैहै ताके प्रभावतें न जायहै। इहां धर्मास्तिकाय करि प्रेरणा गमनका सहकारीपना ही जानना जातैं धर्मद्रव्य किछू जबरीसौं न चलावैहै स्वयमेव चलतेनकौं सहकारी कारणहै ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

निरस्तदेहो गुरुदुःखपीडितां
विलोकमानो निखिलां जगत्त्रयीम्।
स भाविनं तिष्ठति कालमुज्ज्वलो
निराकुलानंतसुखाब्धिमध्यगः॥ ७० ॥

अर्थ—त्याग कियाहै शरीर जानैं ऐसा जो सिद्धात्मा महादुःख करि पीडित जो जगतकी त्रयी कहिये तीन लोक ताहि त्रिलोकता संता आगामी काल तिष्ठैहै, कैसा है सो आत्मा, द्रव्य भावकर्मरहित उज्ज्वलहै अर निराकुल अनंत सुखसमुद्रके मध्य प्राप्त है ॥ ७० ॥

यदस्ति सौख्यं भुवनत्रये परं
सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रभोगिनाम्।
अनंतभागोऽपि न तन्निगद्यते
निरेनसः सिद्धिसुखस्य सूरिभिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—तीन लोकविषैं सुरेंद्र नागेंद्र नरेंद्र अर अन्य जे विषयभोगसहित हैं तिनका जो उत्कृष्ट सुखहै सो सुख कर्मरहित जो सिद्धात्मा ताके मुक्तिसुखके अनंतवें भाग भी आचार्यनिकरि नहीं कहियेहै।

भावार्थ—तीन लोकके भोगनिका सुख एकठा करिये सो सिद्धसुखके अनंतवें भाग नांही ऐसा जानना, भोगनिका सुख तौ आकुलतामयहै अर सिद्धसुखहै सो निराकुलहै तातैं इन सुखनिकी एकजाति नाहीं, परंतु निराकुल सुख तौ संसारकी दृष्टिमें आवै नाहीं अर ताकैं सिद्धपद उत्कृष्ट बताया जाइए तातैं उपचारतै भोगनका सुख सिद्धनकासुखतैं अनंतवैं भागभी नाही ऐसा जानना ॥ ७१ ॥

ऐसैं मोक्षतत्वका वर्णन किया। इहा प्रयोजन ऐसाहै कि चैतन्यलक्षण आपकौं जानि चेतनारहित समस्त देहादि परद्रव्यनिमें अहंकार ममकार त्यागना योग्यहै, अर रागादिक आस्रवहैं तिनतैं दुःख अवस्थास्वरूप बंध होयहै सो तिनकौं अहित जानि जैसैं आस्रव बंध न होय तैसै प्रवर्त्तना योग्यहै, अर वैराग्यभावरूप संवरहै तापूर्वक कर्मनका एकदेश नाश होना सो निर्जरा है इनकौं हितरूप जानि संवर निर्जराके कारणनिमें प्रवृत्ति करना योग्यहै, अर सकल कर्मनितैं रहित

ज्ञानावरणादी जो कर्मकी अवस्था सो सोई आत्माका स्वभाव नहींहै अपि अन्य समान संसारमार्गि इन करमा यहही सर्व तत्त्व कहनेका प्रयोजनहै ऐसा निश्चय करना ॥

इमे पदार्थाः कथिता महर्षिभि-
र्यथायथं मम निवेशिताः हृदि ।
विनिर्मलां तत्त्वरुचिं वितन्वते
जिनोपदेशा इव पापहारिणीं ॥ ७२ ॥

अर्थ—महाऋषीनकरि कहे जे सब पदार्थ मे यथायोग्य हृदयविषैं प्रवेशरूप किये संते निर्मल पापकी हरनेवारी रुचि-प्रतीतिकों विस्तारैहै जैसे जिनेंद्रके उपदेश रुचि विस्तारै तैसें ।

भावार्थ—तत्त्वार्थश्रद्धानरूपलक्षण सम्यग्दर्शनकी शुद्धिता इन तत्त्वनिके विशेष जाने अधिक अधिक होयहै ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

आगें सम्यक्त्वके निःशंकितादि अष्ट अंगनिका वर्णन करैहैं;—

विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना
जिनेशिनेते कथिता न वेति यः ।
करोति शंकां न कदापि मानसे
निःशंकितोऽसौ गदितो महामनाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—वीतराग अर सर्वपदार्थनिका ज्ञाता जिनेंद्रदेवता करि ये सर्व पदार्थ कहेहै ते हैं ? वा नाहींहै ? ऐसी शंकाकौं जो कदाचित् मनविषैं नहीं करै सो यह महामुनि (महामना) निःशंकित कह्योहै ।

भावार्थ—जिनवचनमें वा आगमस्वरूपमें संदेह न होना सो निःशंकित अंगहै ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

विधीयमानाः शमशीलसंयमाः
श्रियं ममेमे वितरंतु चिंतिताम् ।

करोति संघे बहुधोपसर्ग-
रुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।
चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो
वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥ ७९ ॥

अर्थ—मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका ऐसे च्यार प्रकार संघकौं बहुत प्रकार उपसर्गकरि पीडित भए संतें जो वांछारहित धर्मबुद्धि करि निर्मल वैयावृत्त्याचार करैहै सो सम्यग्दृष्टी वात्सल्य करणेवाला कह्याहै ।

भावार्थ—जिनधर्मविषैं या आत्मस्वरूपविषैं अति प्रीति करणा सो वात्सल्य अंग जानना ॥ ७९ ॥

निरस्तदोषे जिननाथशासने
प्रभावनां यो विदधाति शक्तितः ।
तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः
प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥ ८० ॥

अर्थ—दूरि भयेहैं रागादिक दोष जाके ऐसा जो जिननाथका शासन ताविषैं जो शक्तिमाफिक तप दया ज्ञान महोत्सव इत्यादिककरि प्रभावनाकौं करैहै उद्योत करैहै सो यहु सम्यग्दृष्टी प्रभावना करनेवाला कह्याहै । सर्व जीव मानैं कि जिनमत धन्य है तातैं ऐसे तपश्चरणादि धारणैं, ऐसे तपश्चरणादिक करि जिनमतका उद्योत करणा सदा निश्चयतैं आत्माकूं रत्नत्रयतैं आभूषित करणा सो प्रभावना अंग जानना ॥ ८० ॥

गुणैरमीभिः शुभदृष्टिकंठिकां
दधाति यदा हृदि योऽष्टभिः सदा ।
करोति तस्याः सकलाः स संपदो
वधूरिवेष्टाः सुभगो वशंवदः ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन निःशंकितादि अष्टगुण कहिए सूत्रनि करि बंधी सम्यग्दर्शनरूप मालाकों हृदयविषैं सदा धारै है सो समस्त संपदानिकौं वश करै है जैसे भले वचननिका बोलनेवाला सुंदर पुरुष वांछित वधूनिनै वश करै तैसैं।

भावार्थ—जैसे माला पहरे सुंदर पुरुष भलेवचननिका बोलनेवाला स्त्रीनिकौं वशि करैहै तैसे निःशंकितादि सूत्रनि करि बंधी सम्यग्दृष्टिरूप माला पहरनेवाला जीव इन्द्रादिसंपदाकौं वशि करैहै ऐसा जानना ॥ ८१ ॥

सुदर्शनं यस्य स ना सुभाजनः
सुदर्शनं यस्य स सिद्धिभाजनः ।
सुदर्शनं यस्य स धीविभूषितः
सुदर्शनं यस्य स शीलभूषितः ॥८२ ॥

अर्थ—जाकै सम्यग्दर्शन है सो पुरुष भला पात्र है, अर जाकै सम्यग्दर्शन है सो सिद्धिका भजनेवाला है, अर जाकै सम्यग्दर्शन है सो शीलकरि भूषित है ॥ ८२ ॥

नो जायेते पावने ज्ञानवृत्ते
सम्यक्त्वेन प्राणिनो वर्जितस्य ।
शर्माधारे कोषराज्ये न दृष्टे
नूनं क्वापि न्यायहीनस्य राज्ञः ॥ ८३ ॥

अर्थ—जैसैं सुखके आधार जे भंडार अर राज्य ते न्यायरहित राजाकै निश्चयकरि कहूं भी न देखिए तैसैं सम्यक्त्व करि वर्जित जीवकै पवित्र ज्ञान अर चारित्र न होयहैं।

भावार्थ—सम्यक्त्व विना ज्ञान चारित्र सम्यक्पनेकौं न पावै तातैं सम्यक्त्व सबनिमें प्रधान है ऐसा जानना ॥ ८३ ॥

सुदर्शनेनेह विना तपस्या-
मिच्छंति ये सिद्धिकरीं विमूढाः।
कांक्षंति बीजेन विनापि मन्ये
कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो लोग इहां सम्यग्दर्शनबिना सिद्धि करनेवाली तपस्याकूं वांछै हैं सो मैं मानूं हूं कि ते पुरुष बीजबिना फल करि शोभित वृद्धिकों प्राप्त ऐसी खेतीकूं चाहै हैं।

भावार्थ—सम्यक्दर्शनबिना अनशनादिक्रिया राजा बिना शून्यवत्, शून्यही है तातैं सम्यग्दर्शनसहित क्रिया करणी योग्यहै ॥ ८४ ॥

लोकालोकविलोकिनीमकलिलां गीर्वाणवर्गार्चितां
दत्ते केवलसंपदं शमवतामानीय या लीलया।
सम्यग्दृष्टिरपास्तदोषनिवहा यस्यास्ति सा निश्चला,
तेन प्रापि न किं सुखं बुधजनैरभ्यर्थ्यमानं चिरम्॥८५॥

अर्थ—नाश भये हैं शंकादिक दोषनिके समूह जाके ऐसी निर्दोष निश्चल सम्यग्दृष्टी जाकै है ता पुरुष करि पंडित जननि करि बहुत काल ताई प्रार्थना किया गया ऐसा जो सुख सो कहा न पाया? अपि तु पायाही, कैसी है सम्यग्दृष्टी जो लीलामात्र करि मुनिराजनिकों केवल ज्ञानकी जो संपदा ताहि ल्याय करि देय है, कैसी है केवलज्ञान संपदा लोकालोककी देखनेवाली अर पापमल रहित अर देवनिके समूहनि करि पूजित ऐसी है।

भावार्थ—सम्यक्त्व भए केवलज्ञानकी प्राप्ति शीघ्रही होय है ऐसा जनाया है ॥ ८५ ॥

सम्यक्त्वोपमभूतयोऽमितगतिर्द्धत्ते व्रतं यस्त्रिधा
भुक्त्वा भोगपरंपरामनुपमां गच्छत्ययं निर्वृतिम्।

सर्वापायनिदूषिणीमपमलां चिंतामणिं सेवते
यः पुण्याभरणार्चितः स लभते पूतां न कां संपदम्॥८६॥

अर्थ—सम्यक्त्व है उत्तम आभूषण जाके अर अमितगति कहिए न जानी जाय है महिमा जाकी ऐसा जो जीव मन वचन काय करि सतकों धारण करैहै सो उपमारहित भोगनिकी परंपराकों भोग करि मोक्षकों प्राप्त होय है, जो पुण्य आभरण करि अर्चित पुण्योदयसहित पुरुष सर्व दरिद्रको नाश करनेवाली चिंतामणिकों सेवैहै सो कौन पवित्र संपदाकों न पावैहै ? पावैहीहै ॥ ८६ ॥

ऐसें सम्यग्दर्शनके विषय सप्ततत्व सम्यक्त्वके अंगका इहां ताईं निरूपण किया।

छप्पय।

वीतराग सर्वज्ञ कहे जीवादि तत्त्व इम
करि प्रतीति वसु अंगसहित अति होय अचल जिम।
यह कारण व्यवहार कार्य आतम लखि लीजे
षट द्रव्यनितें भिन्न नियति सम्यक रस पीजे॥
इस विना विफल अवगम चरण अंकविना विंदी यथा।
ता सहित सार सुख भोग फिर होय अमितगति सर्वथा॥

इत्युपासकाचारे तृतीयः परिच्छेदः।

ऐसें अमितगतिश्रावकाचारविषें तृतीय परिच्छेद समाप्त भया।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

आगैं अन्यमतिनके एकांतपक्षका निराकरण करि अंवादिकका वर्णन हेतुवादसहित करैंगे । तहां हेतुके स्वरूप जाननेकूं प्रथम प्रमाणका वर्णन संक्षेपमात्र करिएहै । तहां आप वा अपूर्व अर्थ कहिए अनिश्चित पदार्थ इनिका निश्चयस्वरूप जो सम्यक् ज्ञान सो प्रमाणहै, सो प्रत्यक्ष परोक्षके भेदकरि दोय प्रकार है । सामान्य विशेषनि सहित वस्तुका स्पष्ट जानना सो प्रत्यक्षका लक्षणहै, अर सामान्य विशेषसहित वस्तुकौं अस्पष्ट व्यवधानसहित जानना परोक्षका लक्षणहै। तहां सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अर पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसैं प्रत्यक्ष दोय प्रकार है, तहां इंद्रिय मनसैं उत्पन्न भए तीनसैं छत्तीस भेदरूप मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्षहै जातैं इनिमें दोय प्रकार विशदता पाइएहै, अर पारमार्थप्रत्यक्षमें अवधि, मनः पर्यय देशप्रत्यक्षहैं जातैं इनमें एकदेश विशदता पाइएहै अर केवलज्ञान सकलप्रत्यक्षहै जातैं सर्वकौं विशद जानैहै। बहुरि परोक्षप्रमाणके भेद पांचहैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम । तहा पूर्वे अनुभवमें आया वस्तुका स्मरण हो यादि आवना सो स्मृति है; अर दोऊनितैं एकपना अर सदृशपना आदि कोऊ रूपज्ञान होना सो प्रत्यभिज्ञानहै; बहुरि साध्य साधनकी व्याप्ति जो अविनाभाव ताकौं जानैं सो तर्क है; बहुरि साधनतैं साध्यपदार्थका ज्ञानहोना सो अनुमानहै, ताके भेद स्वार्थानुमान, परार्थानुमान; तहां साधनतैं साध्यकौं आपही निश्चयकरि जानैं सो स्वार्थानुमान है, बहुरि परके उपदेशतैं निश्चयकरि जानैं सो परार्थानुमानहै । ताके पांच अवय-

बहुरि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, [illegible] निगमन, [illegible] अर साध्यका आश्रय होयसो पक्ष [illegible] वचनकौं प्रतिज्ञा कहिए तहां साध्यका [illegible] है। अर साध्यका आश्रय [illegible] यहीं अविनाभाव प्राप्ति जावै [illegible] ताका वचनकौं हेतु कहिए, बहुरि पक्ष समान [illegible] ताकू दृष्टांत कहिए ताका वचन [illegible] अन्वयी कहिए विपरीतकू व्यतिरेक [illegible] अर पक्षकौं समान करि कहै सो उपनयहै, बहुरि [illegible] नियम करि कहना निगमनहै। इनका उदाहरण ऐसा— यह पर्वत अग्निमान् है यह तो प्रतिज्ञा [illegible] धूमवान नाहीं सो अग्निमान नाहीं जैसे [illegible] व्यतिरेक दृष्टान्तहै, ऐसा वचन यह उदाहरणहै बहुरि यह पर्वतभी तैसाही धूमवानहै यह उपनयहै बहुरि ताते यह अग्निमान्है यह निगमनहै। ऐसैं पंच प्रयोगका परार्थानुमानहै सो अव्युत्पन्नके अर्थि अर व्युत्पन्नके अर्थि प्रतिज्ञा अर हेतु ऐसैं दोय अवयवस्वरूप हीहै। बहुरि आप्त जो सर्वज्ञ ताके वचननैं वस्तुका निश्चय करना सो आगमप्रमाणहै। ऐसैं प्रमाणकी संख्या कही। बहुरि प्रमाणका विषय सामान्य विशेषस्वरूप पदार्थहै। बहुरि वीतरागता वा ग्रहणत्याग बुद्धि वा अपने विषयमैं अज्ञानका नाश यह कथंचित् अभिन्न कथंचित् भिन्न प्रमाणफलहै।

ऐसैं प्रमाणका संक्षेप स्वरूप कह्या, विशेष आक्षेप समाधान खडन मंडनादि प्रमाणनिर्णय परीक्षामुखादि ग्रंथनितैं जानना, यहां हेतु आदि आगैं तिनिकौं यथार्थ जान लेना।

आगैं चार्वाक मत वाले अपना पक्ष स्थापैहै;—

केचिद्वदंति नास्त्यात्मा परलोकगमोद्यतः ।
तस्याभावे विचारोऽयं तत्त्वानां क्रियते कुतः ॥ १ ॥
विद्यते परलोकोऽपि नाभावे परलोकिनः ।
तदभावे परलोकस्य धर्माधर्मक्रिया वृथा ॥ २ ॥
इह लोकसुखं हित्वा ये तपस्यंति दुर्धियः ।
हित्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिहंति पदांगुलिम् ॥ ३ ॥
[illegible] जनः ।
[illegible] न पुनर्भवः ॥ ४ ॥
[illegible] मतिः [illegible]
[illegible] वृथाः ॥ ५ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ७ ॥

इस लोकके सुखकौं छोडि अन्य लोकविषैं बुद्धि करणी योग्य नाही जातै पंडित हैं ते प्रत्यक्षकौं छोडकरि अप्रत्यक्ष विषैं बुद्धि न करैं है ॥ ५ ॥

जैसैं पीठी जल गुड इत्यादिकतै प्रगटपनै मदशक्ति उपजै है तैसैं पृथ्वी जल अग्नि पवन इनितैं चैतन्य जीव उपजैहै ॥ ६ ॥

जन्मके अर मरणके पहलै अर पीछै जीव सदा नहीहै, जातै विचारते भए जीवकी सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ७ ॥

नास्तिक कहैहै कि जैसैं चून गुड आदितैं मदशक्ति उपजैहै तैसैं पृथ्वी आदितै चेतना उपजैहै । अनादिनिधन जीव नाही ताका परलोक नाहीं तातैं पापकी शंका छोडि यथेष्ट विषयनिमे प्रवर्त्तो । ऐसी स्वच्छंद प्रकृति पोषी । अब आचार्य ताके वचनका खंडन करैहै,—

परात्मवैरिणां नैतन्नास्तिकानां कदाचन ।
जायते वचनं तथ्य विचारानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

अर्थ—पर परके ■ आपके वैरी जे नास्तिक तिनका पूर्वे कहा जो यह वचन सो कदाचित् सांचा न होयहै, जातैं विचारविषैं अनुपपत्ति है ॥ ८ ॥

भावार्थ—पूर्वे कह्या नास्तिकका वचन विचार किये झूठा भासैहै । आगे जीवका अस्तित्व साधैहै,—

विद्यते सर्वथा जीवः स्वसंवेदनगोचरः ।
सर्वेषां प्राणिनां तत्र बाधकानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनके गोचर कहिए जाननेमें आवे ऐसा जीवहै सो सर्वथा विद्यमानहै, जातै तहां सर्व जीवनिकौं बाधक प्रमाणकी अनुपपत्ति है ।

केचिद्वदंति नास्त्यात्मा परलोकगमोद्यतः।
तस्याभावे विचारोऽयं तत्वानां घटते कुतः॥ १॥
विद्यते परलोकोऽपि नाभावे परलोकिनः।
अभावे परलोकस्य धर्माधर्मक्रिया वृथा॥ २॥
इह लोकसुखं हित्वा ये तपस्यंति दुर्धियः।
हित्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिहंति पदांगुलिम्॥ ३॥
विहाय कलिलां शंकां यथेष्टं चेष्टतां जनः॥
चेतनस्य हि नष्टस्य विद्यते न पुनर्भवः॥ ४॥
नान्यलोके मतिः कार्या मुक्त्वा शर्मैहलौकिकम्।
दृष्टं विहाय नादृष्टे कुर्वते धिषणां बुधाः॥ ५॥
पृथिव्यंभोग्निवातेभ्यो जायते यंत्रवाहकः।
पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव स्फुटम्॥ ६॥
जन्मपंचत्वयोरस्ति पूर्वापरयोरियम्।
सदा विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तितः॥ ७॥

अर्थ—कोई कहैहै परलोकका आगम जो जाना ताविषै उ ऐसा जो आत्मा सो नाहीहै, अर ता आत्माके अभाव होतसंतै कथा जो तत्वनिका विचार सो काहेतै बनै ?॥ १॥

बहुरि परलोकवाले आत्माके अभाव होतसंतै परलोकभी ना अर परलोकके अभाव होतसंतै धर्म अधर्मकी क्रिया वृथा है॥ २

अब इस लोकके सुखकौं त्याग करि जे दुर्बुद्धी तपस्या करैहै हस्तमैं आए ग्रासकौं छोडि अंगुलीकौं चाटैहैं॥ ३॥

तातै पापकी शंकाकूं छोडकरि मनुष्यहै ते जैसैं होय तैसैं करौ, नष्ट भया जो चेतन ताका फेर जन्म नाहीं॥ ४॥

इस लोकके सुखकौं छोडि अन्य लोकविर्षें बुद्धि करणी योग्य नाही जातैं पंडित हैं ते प्रत्यक्षकौं छोडकरि अप्रत्यक्ष विर्षें बुद्धि न करैहैं ॥ ५ ॥

जैसैं पीठी जल गुड इत्यादिकतैं प्रगटपनैं मदशक्ति उपजै है तैसैं पृथ्वी जल अग्नि पवन इनितैं चैतन्य जीव उपजैहै ॥ ६ ॥

जन्मके अर मरणके पहलै अर पीछै जीव सदा नहीहै, जातैं विचारतें भए जीवकी सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ७ ॥

नास्तिक कहैहै कि जैसैं चून गुड आदितैं मदशक्ति उपजैहै तैसैं पृथ्वी आदितैं चेतना उपजैहै। अनादिनिधन जीव नाहीं ताका परलोक नाही तातैं पापकी शंका छोडि यथेष्ट विषयनिमैं प्रवर्त्तौ। ऐसी स्वच्छद प्रवृत्ति पोषी। अब आचार्य ताके वचनका खडन करैहैं,—

परात्मवैरिणां नैतन्नास्तिकानां कदाचन।
जायते वचनं तथ्यं विचारानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह परके वा आपके वैरी जे नास्तिक तिनका पूर्वें कह्या जो यह वचन सो कदाचित् साचा न होयहै, जातैं विचारविर्षें अनुपपत्ति है ॥ ८ ॥

भावार्थ—पूर्वें कह्या नास्तिकका वचन विचार किये झूंठा भासैहै। आगैं जीवका अस्तित्व साधैहैं,—

विद्यते सर्वथा जीवः स्वसंवेदनगोचरः।
सर्वेषां प्राणिनां तत्र बाधकानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनके गोचर कहिए जाननेमें आवे ऐसा जीवहै सो सर्वथा विद्यमानहै, जातैं तहां सर्व जीवनिकौं बाधक प्रमाणकी अनुपपत्ति है।

भावार्थ—स्वसंवेदन विषैं कोई प्रकार बाधा नहीं आवैहै।

आगैं ताही अर्थकौं पुष्ट करैहैं,—

शक्यते न निराकर्तुं केनाप्यात्मा कथंचन।
स्वसंवेदनवेद्यत्वात्सुखदुःखमिव स्फुटम् ॥ १० ॥

अर्थ—कोऊ करि भी आत्माहै सो निराकरण करनेकूं कोई प्रकार समर्थ न हूजिये है, जातैं आत्माकौं स्वसंवेदनकरि प्रगट जाननेकौं योग्यपनाहै, सुखदुःखकी ज्यों।

भावार्थ—जैसैं सुखदुःख आपकरि जाननेमें आवैहै तैसैं आत्मा भी आपकरि जाननेमें आवैहै तातैं अभावरूप नाहीं ॥ १० ॥

आगैं ताही अर्थकौं पुष्ट करैहैं,—

अहं दुःखी सुखी चाहमित्येषः प्रत्ययः स्फुटम्।
प्राणिनो जायतेऽध्यक्षो निर्बाधो नात्मना विना ॥११॥

अर्थ—मैं सुखीहूं मैं दुःखीहूं ऐसी यह जीवनिकैं प्रगट बाधारहित प्रत्यक्ष प्रतीति है सो आत्मा बिना न होयहै ॥ ११ ॥

आगैं जैसे आपके शरीरमें आत्माहै तैसे परशरीरमें परके आत्माकौं सिद्ध करैहैं,—

स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने।
शरीरे परकीयेऽपि संसिद्ध्यत्यनुमानतः ॥ १२ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनतैं अपने शरीरमें चेतनकी सिद्धि होतसंतैं परके शरीरमें अनुमानतैं चैतन्यसिद्धि होयहै ॥ १२ ॥

आगैं ता अनुमानकौं दिखावैहैं,—

परस्य ज्ञायते देहे स्वकीय इव सर्वथा।
चेतनो बुद्धिपूर्वस्य व्यापारस्योपलब्धितः ॥ १३ ॥

अर्थ—परके देहविषैं चैतन्य निश्चयतैं बुद्ध होयहै, जातैं बुद्धिपूर्वक व्यापारकी उपलब्धिहै; जैसैं अपने देहविषैं बुद्धिपूर्वक व्यापार होय तैसै, यह दृष्टांतहै ॥ १३ ॥

जन्मपंचत्वयोरस्ति न पूर्वपरयोरयम् ।
नैषा गीर्युज्यते तत्र सिद्धत्वादनुमानतः ॥ १४ ॥

अर्थ—बहुरि जन्ममरणके पहले अर पीछै यहु आत्मा नाहींहै ऐसी वाणी युक्त नाही जातैं तहा अनुमानतै सिद्धिपना है।

भावार्थ—जन्म मरणके पहले पीछैं आत्मा सिद्धहै ॥ १४ ॥

सोही कहैहैं,—

चैतन्यमादिमं नूनमन्यचैतन्यपूर्वकम् ।
चैतन्यत्वाद्यथा मध्यमंत्यमन्यस्य कारणम् ॥ १५ ॥

अर्थ—आदिका चैतन्यहै सो निश्चयकरि अन्यचैतन्यपूर्वकहै, जातैं चैतन्यपना है; जैसैं अन्यका कारण मध्यका चैतन्य अर अंतका चैतन्यहै तैसैं।

भावार्थ—जीवकी मनुष्यादि नवीन पर्याय उपजैहै सो जीवद्रव्य अगली पर्याय छोडकरि नवीन धारण करैहै सर्वथा असत् न उपजैहै, जातैं चेतनपना है यहु हेतुहै; जैसैं मध्यका चैतन्य वा अंतका चैतन्य प्रत्यक्ष अन्य चैतन्यपूर्वकहै तैसैं यहु दृष्टांतहै। इहां प्रयोजन ऐसाहै जो अगले पर्याय अपेक्षा पहला पर्याय कारणहै अर पहले पर्याय अपेक्षा सोही कार्यरूपहै, अर द्रव्यदृष्टि करि सर्व एकही वस्तुहै न्यारा नाहीं। ऐसैं स्याद्वाद समस्तै यथार्थ ज्ञान होयहै ॥ १५ ॥

आगैं इसही अर्थकौं पुष्ट करैहैं;—

तत्रैव वासरे जातः पूर्वसंस्कारात्मना विना ।
अशिक्षितः कथं बालो मुखमर्पयति स्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—पूर्वे आत्मा विना नवीनही आत्मा होय तो तिसही दिन विषै भयो जो बालक सो विना सिखाया स्तनविषै मुख कैसै लगावैहै।

भावार्थ—जो प्रथम आत्मा न होय अर नवीन ही उपज्या होय तौ उपज्या संताही बालक दूध कैसैं चूसने लगि जायहै तातैं मनुष्यादिपर्याय नवीन उपजैहै जीवद्रव्य तौ अनादिनिधनहीहै ऐसा निश्चय करना ॥ १६ ॥

> भूतेभ्योऽचेतनेभ्योऽयं चेतनो जायते कथम् ।
> विभिन्नजातितः कार्यं जायमानं न दृश्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—अचेतन जे पृथ्वी आदि भूत तिनतैं चेतन कैसैं उपजैहै, जातैं भिन्न जातितैं कार्य उपज्या न देखिएहै ।

भावार्थ—जैसैं माटीतैं स्वजातीय घटतौ उपजैहै परंतु विजातीय जो पट सो उपज्या न देखिएहै तैसैं अचेतन पृथ्वी आदितैं अचेतन शरीरादितौ उपजै परंतु चेतन जीव कैसे उपजै तातैं जीवकौं भूतजनित कहना मिथ्याहै ॥ १७ ॥

आगैं दोय पक्ष पूछकरि जीवकैं भूतजनितपनकौं निराकरण करैहै;—

> प्रत्येकं युगपद्भ्यो भूतेभ्यो जायते भवी ।
> विकल्पे प्रथमे तस्य तावत्त्वं केन वार्यते ॥ १८ ॥
> विकल्पे सद्वितीयेऽपि कथमेकस्वभावकः ।
> भिन्नस्वभावकैरेभिर्जन्यते वद चेतनः ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य पूछै हैं जीवहै सो पृथ्वी आदि भूतनितैं प्रत्येक न्यारे न्यारे उपजैहै कि युगपत् एकठाही उपजैहै; सो न्यारा न्यारा उपजैहै ऐसा प्रथम विकल्प कहैगा तौ तिस जीवकैं तावन्मात्रपना कौन करि निवारिएहै ।

भावार्थ—पृथ्वी आदि च्यार [illegible] जीव [illegible] पृथ्वी [illegible] [illegible] हैं [illegible] [illegible] [illegible] नाहीं ॥ १८ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पृथ्वी आदि भूत [illegible] [illegible] [illegible] चेतन [illegible] [illegible] है [illegible] ।

भावार्थ—पृथ्वी आदि [illegible] है तिनतैं [illegible] चेतन-[illegible] नाहीं ॥ [illegible] [illegible] [illegible] ॥१९॥

आगे फेर वादी कहै है,—

चेतनोऽचेतनेभ्योऽपि भूतेभ्यो न विद्यते ।
भिन्नानां मौक्तिकादीनां तोयादिभ्योऽपि दर्शनात् ॥२०॥

अर्थ—अचेतन जे पृथ्वी आदि भूत तिनतैं चेतन भी नाहीं भिन्न [illegible] होय है, जातैं भिन्न जे मुक्ताफल आदि तिनका जलादि-कनितैं भिन्न दर्शन है ।

भावार्थ—अचेतन जे पृथ्वी आदि तिनतैं चेतनकी उत्पत्तिमैं विरोध नाहीं [illegible] जलादिकतैं जाति जिनतैं मोती आदि न्यारे जाति उपजते देखिए है ॥ २० ॥

आगे आचार्य कहै है,—

तदयुक्तं यतो मुक्ता तोयादीनां विलोक्यते ।
एका पौद्गलिकी जातिर्भिन्नताऽतः कुतस्तनी ॥ २१ ॥

अर्थ—जो तुमने कह्या कि मुक्ताफलादिक अर जलादिक इनिकी भिन्न जाति सो अयुक्त है, जातैं मुक्ताफल अर जल इत्यादिकनिकी एक पुद्गलरूप ही जाति देखिए है इसकारणतैं तिनतैं भिन्नता काहेकी ।

भावार्थ— मुक्ताफल जलादिक इत्यादिकनिकी एक जातिहै, तातैं पुद्गलतैं पुद्गलकाही पर्याय भया किछू जीवतौ न उपज्या तातैं तेरा दृष्टांत विषम है ऐसा जानना ॥ २१ ॥

यतः पिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरचेतना।
संभूताऽचेतनेभ्योऽन्यो दृष्टांतस्ते न चेतने ॥ २२ ॥

अर्थ—जातैं अचेतन चून गुड आदितैं अचेतन ही मदशक्ति प्रगट होयहै तातैं तेरा यहु दृष्टांत चेतनकैं विषैं नहीं लगि सकैहै॥२२॥

न शरीरात्मनोरैक्यं वक्तव्यं तत्ववेदिभिः
शरीरे तदवस्थेऽपि जीवस्यानुपलब्धितः ॥ २३ ॥

अर्थ—तत्वकौं जाननेवारे पुरुषनिकरि शरीर आत्माकूं एक कहना योग्य नाहीं, जातैं शरीरकौं तहां अवस्थित होतैं भी वाकी अनुपलब्धिहै अप्राप्तिहै।

भावार्थ—जीव परलोककूं जायहै तब शरीर इहां रहि जायहै अर जीव न देखिएहै तातै शरीर जीव एक नाहीं ऐसा निश्चय करना ॥ २३ ॥

आगैं विज्ञानाद्वैतका निषेध करैहै;—

ज्ञानं विहाय नात्मास्ति नेदं वचनमंचितम्।
ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरणानुपपत्तितः ॥ २४ ॥

अर्थ—ज्ञान विना और आत्मा नाहीं ऐसा कहना सत्यार्थ नाहीं, जातैं ज्ञानके क्षणिकपने करि स्मरणकी अनुपपत्तिहै।

भावार्थ—पर्यायका एकांत पकडि करि विज्ञानाद्वैतवादी कहैहैं;— निरंश अर क्षणिक एक ज्ञानहीहै या सिवाय और आत्मवस्तु नाहीं ताकौं आचार्यने कह्या जो ऐसाहै तौ "पूर्वै मैंनें जान्याथा सो अब

जाहि " ऐसा स्मरण न होयगा, तातै अनेकधर्मका समुदायरूप अनादिनिधन आत्मा कथंचित् शरीरतै न्यारा मानना योग्यहै ॥ २४ ॥

आगे सर्वगतको निषेधै है;—

नात्मा सर्वगतो वाच्यस्तत्स्वरूपविचारिभिः ।
शरीरव्यतिरेकेण येनात्मा दृश्यते न हि ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस आत्मस्वरूपके विचारने वाले पुरुषनि करि सर्वव्यापी आत्मा कहना योग्य नाही जा कारण करि यह आत्मा शरीरतै न्यारा नहीं देखिये ।

भावार्थ—सर्वव्यापी आत्मा मानैहै सो मिथ्या है, जातै शरीरके बाहिर आत्मा न दीखैहै ॥ २५ ॥

आगे दोय पक्ष पूछकरि निषेध करैहै;—

शरीरतो बहिस्तस्य किं ज्ञानं विद्यते न वा ।
विद्यते चेत्कथं तत्र कृत्याकृत्यं न बुध्यते ॥ २६ ॥
यदि नास्ति गुणस्तस्य तत्र सत्तावगम्यते ।
लक्षणेन विना लक्ष्यं न चापि व्यवतिष्ठते ॥ २७ ॥

अर्थ—शरीरके बाहिर तिस आत्माका ज्ञानहै कि नाहीहै, जो शरीरके बाहिर ज्ञानहै तो तहां करने योग्य न करने योग्य क्यों न जानिए है ॥ २६ ॥

अर जो शरीरके बाहिर ज्ञान नहीं है तौ तहां शरीरके बाहिर तिस आत्माकी सत्ता काहेसे कहिये जातै लक्षण विना लक्ष्य कभी न तिष्ठै ।

भावार्थ—ज्ञान लक्षणहै आत्मा लक्ष्यहै सो जहां लक्षण नाहीं तहां लक्ष्यभी नाही, तातै सर्वव्यापी आत्मा कहना मिथ्याहै ॥ २७ ॥

अर्थ—बहुरि सबनिका एकही आत्माहै ऐसैं कहना युक्त नाहीं, जातै जन्म मरण सुख दुःख इनि न्यारे न्यारेनिका उपलंभहै।

सर्वेषामेक एवात्मा युज्यते नेति जल्पितुम्।
जन्ममृत्युसुखादीनां भिन्नानामुपलब्धितः॥ २८॥

अर्थ—बहुरिसबनिका एकही आत्माहै ऐसैं कहना युक्त नाहीं, जातै जन्म मरण सुख दुःख इनि न्यारे न्यारेनिका उपलभहै।

भावार्थ—जन्म मरण सुख दुःख इत्यादि सबनिकैं न्यारे न्यारे देखिएहै तातैं सबनिका एक आत्मा कहना मिथ्याहै॥ २८॥

न वक्तव्योऽणुमात्रोऽयं सर्वैर्येनानुभूयते।
अभीष्टकामिनीस्पर्शे सर्वांगीणः सुखोदयः॥ २९॥

अर्थ—बहुरि यहु आत्मा अणुमात्रहै ऐसा कहना योग्य नाहीं, जा कारण करि वांछित स्त्रीके स्पर्श विषैं सर्वांगतैं उपज्या सुखका उदय सबनिकरि अनुभव कीजिएहै।

भावार्थ—स्त्रीके स्पर्शविषैं सुखका उपजना सर्व अंगविषैं प्रत्यक्ष दीखिएहै तातैं अणुमात्र आत्मा कहनाहै सो मिथ्याहै॥ २९॥

समीरणस्वभावोऽयं सुंदरा नेति भारती।
सुखज्ञानादयो भावाः संति नाचेतने यतः॥ ३०॥

अर्थ—बहुरि वह कहैहै जो यहु सर्वांग सुख होनाहै सो पवनका स्वभावहै तातैं आचार्य कहैहैं ऐसी वाणी सुंदर नहीं, जातैं सुख ज्ञान इत्यादि चेतन भावहैं ते अचेतन पवनविषैं नाहीहैं॥ ३०॥

न ज्ञानविकलो वाच्यः सर्वथात्मा मनीषिभिः।
क्रियाणां ज्ञानजन्यानां सर्वाभावप्रसंगतः॥ ३१॥

अर्थ—बहुरि ज्ञानरहित आत्मा इंद्रियनि करि ज्ञाता मानना योग्य नाहीं जातैं तिस आत्माविषै ज्ञान करिके विषयनिका जाननेका प्रसंग होय है ।

भावार्थ—ज्ञानरहित आत्मा होय तौ ज्ञानजनित क्रियाका अभाव आवै अर ज्ञानजनित क्रिया आत्माविषै देखिये है, तातैं ज्ञानरहित आत्मा मानना मिथ्या है ॥ ३१ ॥

प्रधानज्ञानतो ज्ञानी न साध्यो ज्ञानवादिभिः ।
अन्यज्ञानेन न ज्ञानी चापि विलोक्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—बहुरि प्रधान ज्ञानकरि आत्माकौं ज्ञाता ज्ञानवादीनि करि मानना योग्य नाहीं, जातैं और ज्ञानकरि और ज्ञानी कहूंभी न देखिये है ॥ ३२ ॥

बहुरि कहै है;—

न शुद्धः सर्वथा जीवो बंधाभावप्रसंगतः ।
न हि शुद्धस्य मुक्तस्य दृश्यते कर्मबंधनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—सर्वथा जीव शुद्ध नाहीं जातैं बंधके अभावका प्रसंग आवै है, शुद्ध मुक्त जीवकै कर्मबंधन नहीं देखिये है ।

भावार्थ—सर्वथा शुद्ध जीव होनेसे बंधका अभाव ठहरै, पुण्य पापरूप कर्मबंध बंधनतैं होय है रागादिक भाव बंधनतैं होय है तातैं सर्वथा जीवकौं शुद्ध मानना मिथ्या है ॥ ३३ ॥

प्रधानेन कृते धर्मे मोक्षभागी न चेतनः ।
परेण विहिते भोगे तृप्तिभागी कुतः परः ॥ ३४ ॥

अर्थ—बहुरि जब कहै है धर्म प्रधान करै है आत्माकौं शुद्ध अकर्ता कहै है ताकूं आचार्य कहै है;—प्रधानकरि धर्मकौं करते संते चेतन मोक्ष-

गामी न होय जानें औरकरि भोग किए संते और तृप्ति भजनेवाला कैसें होय ? ।

भावार्थ—जैसें भोग और भोगै अर मुरता और होय ऐसी बनै नहीं तैसें प्रधान तौ धर्मको अर चेतनकी मोक्ष होय ऐसी बनै नाहीं ॥३४॥

प्रधानं यदि कर्माणि विधत्ते मुंचते यदि ।
किमात्माऽनर्थकः सांख्यैः कल्प्यते मम कथ्यताम् ॥३५॥

अर्थ—जो प्रधान कर्मनिकौं करै है अर त्यागै है, अर मोक्ष प्रधानकै होय है, तो सांख्यमतवालेनि करि निःप्रयोजन आत्मा क्यों कल्पिए है ? सो मोहि कहिए ॥ ३५ ॥

न ज्ञानमात्रतो मोक्षस्तस्य जातूपपद्यते ।
भैषज्यज्ञानमात्रेण न व्याधिः क्वापि नश्यति ॥ ३६ ॥

अर्थ—सांख्यमती कहै है चैतन्य [illegible] करि भया जो ये [illegible] सो ज्ञान मात्र नहि [illegible] जावे, ताको आचार्य कहै है—तिन [illegible] ज्ञानमात्रै मोक्ष कदाचित् न [illegible] है जैसें औषधिके ज्ञान करि रोग कछु नहीं विनशै है ।

भावार्थ—जैसें औषधिका जानना अर प्रतीति अर आचरण [illegible] करि रोग विनशै सुखी होवे है, अर केवल जानना [illegible] केवल श्रद्धान करना वा केवल आचरण करना इन सारे औषधि करि रोग न विनशै सुखी न होवे है तैसें ज्ञान दर्शन चारित्र तीनौंही [illegible] होवे है ज्ञानादिक न्यारे न्यारे करि [illegible] ऐसा निश्चय करना ॥ ३६ ॥

[illegible] नाश होवे है ऐसा निरूपण करै है;—

[illegible] न ज्ञानं [illegible] ।
[illegible] न क्वापि ज्ञानयोगिनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अचेतन प्रधानकै ज्ञान नाहीं प्रवर्त्ते है, जातैं स्तंभ घट इत्यादि अचेतन पदार्थहै ते ज्ञानसहित कहूंभी न देखे ॥ ३७ ॥

फेर कहैहैं;—

उक्त्वा स्वयमकर्तारं भोक्तारं चेतनं पुनः।
भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—आपही अचेतनकौं अकर्त्ता कहकरि बहुरि चेतनकौ भोक्ता-कहता जो सांख्य ताकूं ज्ञान प्रगट नाहीहै, अज्ञानी है।

भावार्थ—सांख्य आत्माकूं आपही अकर्त्ता कहै बहुरि ताहीकू भोक्ता कहतहै सो यहु प्रगट अज्ञानहै तातैं अन्य करै अन्य भोगै यह बात असंभवहै ॥ ३८ ॥

आगैं सर्वगुणरहित होय सो मोक्षहै ऐसे श्रद्धानकूं निषेधैहैं;—

सकलैर्न गुणैर्मुक्तः सर्वथात्मोपपद्यते।
न जातु दृश्यते वस्तु शशशृंगमिवागुणम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त गुणनिकरि रहित सर्वथा आत्मा न होयहै जातैं शशाके शृंगकी ज्यों निर्गुण वस्तु कदापि न देखिए है।

भावार्थ—गुणका समूहही गुणीहै अर सर्वथा गुणका अभाव होतैं गुणीका भी अभावहै तातैं गुणरहित मोक्ष कहना मिथ्या है ॥ ३९ ॥

आगैं ज्ञानका अर ज्ञानीका सर्वथा भेद मानैहै ताका निषेध करैहैं,—

न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदः सर्वथा घटते स्फुटम्।
संबंधाभावतो नित्यं मेरुकैलाशयोरिव ॥ ४० ॥

अर्थ—संबंधके अभावतैं सर्वथा सुमेरु अर कैलाशकी ज्यों प्रगट-पनैं ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद बनैहै।

भावार्थ—जैसे मेरु अर कैलाश भेदरूपहैं तिनका संबंधका अभाव है तैसैं ज्ञानका अर ज्ञानीका भेदमानैं संबंधका अभाव आवैहै ॥ ४०

बहुरि कहैहै जो समवायकरि संबंध होयहै ताका निषेध करैहै;—

समवायेन संबंधः क्रियमाणो न युज्यते ।
नित्यस्य व्यापिनस्तस्य सर्वत्राप्यविशेषतः ॥ ४१ ॥

अर्थ—समवायकरि करया भया संबंध नाही युक्त होय है, जातै नित्य अर व्यापक जो समवाय ताका सर्वत्र अविशेष है।

भावार्थ—नैयायिक समवाय पदार्थको नित्य अर व्यापक मानै ताकौ आचार्य कहैहै;—

जो समवायकरि आत्मा अर ज्ञानका संबंध होयहै तो घटादि अचेतन पदार्थ विषै ज्ञानका संबंध क्यों न भया? समवाय तौ नित्य अर व्यापक भया भेद रहित मानैहै अर घटपटादि विषै समवायका भेद मानैगा तौ नित्य व्यापक समवाय कहना न बनैगा तातैं समवाय करि संबंध मानना मिथ्याहै ॥ ४१ ॥

आगे आत्मा है समवायतैं भिन्न ताकौ नित्यतामैं वा अनित्यतामैं दूषण दिखावैहै,

नित्यताऽनित्यता तस्य सर्वथा न प्रसज्यते ।
अवाराऽर्थनिवृत्तेः क्रमतोऽक्रमतोऽपि वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—[illegible] सर्वथा नित्यता वा अनित्यता न [illegible] क्रमतैं वा युगपत् अर्थकी उत्पत्तिका अभावहै।

भावार्थ—[illegible] नित्य माननैमैं क्रमतैं वा युगपत् [illegible] ॥ ४२ ॥

[illegible]

न नित्यं कुरुते कार्यं विकारानुपपत्तितः ।
नाऽनित्यं सर्वदा नष्टमात्मानं कुर्यादसत्त्वतः ॥ ४३ ॥

अर्थ—नित्य है सो कार्यकौं न करै है जातैं नित्यकै अवस्था जो विकारविशेष ताकी अनुपपत्ति है, बहुरि अनित्य सर्वथा विनाशरूप सो भी कार्यकौं न करै है जैसैं मृत वैद्य नीरोगपनेकौं न करै तैसैं, जो आपही नसि गया सो कार्य कैसैं करै, तातैं नित्य वा अनित्य दोउ एकांत मिथ्या है ॥ ४३ ॥

आगैं अमूर्तीकपनेको एकांतकौं निषेध करै है;—

> नामूर्त्तः सर्वथा युक्तः कर्मबंधप्रसंगतः ।
> नभसो न ह्यमूर्त्तस्य कर्मलेपो विलोक्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—सर्वथा आत्मा अमूर्तीक कहना युक्त नाहीं, जातैं कर्मबंधका प्रसंग आवै है। बहुरि अमूर्तीक आकाशकै कर्मनिका लेप न है विलोकिए है।

भावार्थ—आकाशवत् सर्वथा संसारी जीव मुक्त होयतौ जैसैं आकाशकै कर्मलेप नांही तैसैं आत्माकै भी कर्मबंध न ठहरै तातैं सर्वथा अमूर्त मानना मिथ्या है ॥ ४४ ॥

> यतो बंधतो भिन्नो भिन्नो लक्षणतः पुनः ।
> अमूर्त्तता ततस्तस्य सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—जातै सो आत्मा बंधतै कथंचित् अभिन्न है बहुरि लक्षण करि भिन्न है तातैं तिस आत्माकै सर्वथा अमूर्तपना नाहीं सिद्ध होय है।

भावार्थ—बंधका लक्षण जडता है आत्माका लक्षण चेतन्य है ऐसै लक्षणभेद करि आत्मा अर बंध भिन्न है तथापि बंधकरि करि अभिन्न है जातैं बंधका निमित्त पाय आत्माकै क्रिया होय है अर आत्माका निमित्त पाय बंधका परिणमन होय है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक संबंध देखिए है, तातैं सर्वथा संसारी जीवकौं अमूर्त मानना योग्य नांही ॥ ४५ ॥

भावार्थ—निषेधने योग्य अर न निषेधने योग्य वस्तुका आधार इन दोउनिका जाकै ज्ञान होय सो आधारविषैं आधेयकौं न देखि आधेयकौं निषेध अभावप्रमाणकरि करैहै, जैसैं कोऊ पृथ्वी अर घट दोउनिकौ जानैहै सो पृथ्वीविषैं घटकौं न देखि अभाव प्रमाण करि घटका निषेध करै जो इहां पृथ्वीविषैं घट नाहीं, सो सर्वज्ञ अतींद्रिय ताविषैं ऐसे अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति नाहीं, ऐसे अभाव प्रमाण करि सर्वज्ञका निषेध करना मिथ्या है ॥ ५१ ॥

प्रमाणाभावतस्तस्य न च युक्तं निषेधनम् ।
अनुमानप्रमाणं हि साधकं तस्य विद्यते ॥ ५२ ॥

अर्थ—बहुरि प्रमाणके अभावतैं तिस सर्वज्ञका निषेध योग्य नाहीं, जातैं तिस सर्वज्ञका साधनेवाला अनुमान प्रमाण है।

भावार्थ— सर्वज्ञाभाववादी कहैहै;—प्रत्यक्षप्रमाणका विषय सर्वज्ञ नाहीं जातैं इंद्रियकरि सो जान्या जाय नाहीं। बहुरि अनुमानका भी विषय नाहीं जातैं सर्वज्ञका चिह्न किछु दीखै नाहीं। बहुरि आगमभी ताका सद्भाव न सांधै है जातैं आगम है सो तौ कर्मकांडहीका कथन करैहै ताकै सर्वज्ञके जाननेका अयोग है अर अनादि आगम सादि पुरुषका कहनेवाला बनै नाहीं, बहुरि अनित्य आगम सर्वज्ञको सांधैहै सो तिस सर्वज्ञकरि कहे आगमके सर्वज्ञके निश्चय विना प्रमाणताका अभाव है, बहुरि आगमकी प्रमाणता होते सर्वज्ञकी प्रमाणता होय अर सर्वज्ञकी प्रमाणता होते आगमकी प्रमाणता होय ऐसैं इतरेतराश्रय दूषण भी आवै है, बहुरि सर्वज्ञरहित अप्रमाणभूत जो आगम ताकरि सर्वज्ञ सांधना भी असमर्थ है। बहुरि सर्वज्ञ समान अन्यदार्थनिका प्रत्यक्ष भी नाहीं उपमानप्रमाणकरि सर्वज्ञका जानना नाहीं है ऐसे पांचों ही प्रमाणका विषय न होते अभावप्रमाणहीकी प्रवृत्ति

सो ताका अभाव ही कहैहै, तातैं आचार्य कहैहै ऐसे निषेध करना युक्त नाहीं सो सर्वज्ञका साधक अनुमान दिखावैहै ॥ ५२ ॥

सोही अनुमान दिखावैहै; —

वीतरागोऽस्ति सर्वज्ञः प्रमाणाबाधितत्वतः ।
सर्वदा विदितः सद्भिः सुखादिकमिव ध्रुवम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—संतनि करि सर्वदा जान्या ऐसा वीतराग सर्वज्ञ जाननेवाला है, जातैं प्रमाणकरि अबाधितपनातैं निश्चयकरि सुखादिकको ज्यौं ।

भावार्थ—जैसे सुखादिक स्वसंवेदनगोचर निर्बाध सिद्धहै तैसैं सर्वज्ञ वीतराग भी प्रमाणसिद्धहै ॥ ५३ ॥

सो ही कहैहै;—

क्षीयते सर्वथा रागः क्वापि कारणहानितः ॥
ज्वलनो हीयते क्षिप्तः काष्ठादीनां वियोगतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—कोई आत्माविषैं कारणकी हानितैं सर्वप्रकारभी राग क्षीण होयहै; जैसैं काष्ठादिकके वियोगतैं क्षेपरूप अग्नि क्षीण होयहै।

भावार्थ—जैसे काष्ठादिकके अभावतैं अग्निका अभाव होयहै तैसैं कर्मनिके अभावतैं रागका अभाव होयहै । इस अतिशायक हेतु दियाहै कि कोईके किंचित् कर्मके अभावतैं किछू रागादिकका अभाव देखिएहै तौ कोईके सर्व कर्मके अभावतैं सर्व रागकाभी अभाव होयगा, ऐसैं निश्चय कियाहै ॥ ५४ ॥

आगे सर्वज्ञपनेका निश्चय करावैहै;—

प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं ज्ञानं क्वापि प्रपद्यते ।
परिमाणमिवाकाशे तारतम्योपलब्धितः ॥ ५५ ॥

अर्थ—ज्ञानकै सो कोई आत्मा तिसै प्रकर्ष जो वृद्धि ताकी प्रति-की प्राप्त होते है जैसे तारतम्यकी उत्पत्तिहै जैसे आकाशविषै परिमाणकी वृद्धिको हदको प्राप्त होयहै तैसे।

भावार्थ—जो तारतम्य पाइएहै सो वृद्धिकी सीमाको प्राप्त भया भी [illegible] अनुमान किया कि ज्ञानका अंश घटती बढती है सो [illegible] [illegible] वृद्धिको हदको प्राप्त भया भी होयगा जैसे परमाणु एक प्रदेश- [illegible] आकाशविषै, यह दृष्टांत दिया है [illegible] ॥ ५५ ॥

प्रकाशोऽभिभवितेन [illegible] न पीयते।

[illegible] कलिताशेषतत्त्वतः ॥ ५५ ॥

अर्थ—[illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] ॥ ५६ ॥

[illegible] न भवः।

[illegible] ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसे [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] ॥ ५८ ॥

अर्थ—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अर्थ—ज्ञानहै सो कोई आत्मा विषै प्रकर्ष जो वृद्धि ताकी प्रतिष्ठाकों प्राप्त होयहै जातैं तारतम्यकी उपलब्धिहै जैसैं आकाशविषैं परिनाणकी वृद्धिकी हदकों प्राप्त होयहै तैसैं।

भावार्थ—जो तारतम्य पाइएहै सो वृद्धिकी सीमाकों प्राप्त भया भी पाइए तातैं अनुमान किया कि ज्ञानका अंश बधतो बधती है तो ज्ञान अपनी वृद्धिकी हदकों प्राप्त भया भी होयगा जैसैं परमाणु एक प्रदेशमात्रतै बधतीहै ताका उत्कृष्टपना सर्व आकाशविषैंहै, यह दृष्टांत दिया है ऐसा जानना ॥ ५५ ॥

प्रकर्षावस्थितिर्यत्र विश्वदृश्वा स गीयते।
प्रणेता विश्वतत्त्वानां क्षपिताशेषकल्मषः ॥ ५६ ॥

अर्थ—बहुरि जाविषै ज्ञानके बधनेकी अवस्थिति है हदहै सो विश्वदर्शी कहिये कैसाहै सो समस्त तत्वनिका जाननेवालाहै अर नाश कियेहै समस्त रागादिक जानैं ऐसाहै ॥ ५६ ॥

बोध्यमप्रतिबंधस्य बुध्यमानस्य न श्रमः।
बोधस्य दहतो दह्यं पावकस्येव विद्यते ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसैं दहने योग्य जो काष्ठादिक ताहि दहता जो अग्नि ताकै श्रम नाहींहै तैसैं ज्ञेयको जानता जो आवरणरहित ज्ञान ताकै श्रम नाहीहै ॥ ५७ ॥

अनुपदेशसंवादि लाभालाभादिवेदनम्।
समस्तज्ञमृतेऽन्यस्य मिलिंगे शोभने कथम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अंतरिक्ष दूरवर्ती पदार्थ अर लाभ अलाभ इत्यादिक का जानना सर्वज्ञविना औरकै उपदेशविषैं कैसै सोहै, न सोहहै ॥ ५८ ॥

आगैं वादी कहैहै अपौरुषेयवेदतैं सर्वका उपदेशहै। ताका निषेध करैहै;—

अर्थ—तीन लोकविर्षे व्यापक जे अक्षरहैं ते व्यंजक जे प्रगट करनेवाले वायु तिनकरि प्रगट करिएहैं ऐसी बानी यथार्थकहनेवाली नाहीं, जातैं सर्व अक्षरनिकी व्यक्तिका प्रसंग आवैहै।

भावार्थ—त्रिलोकव्यापक जे सर्व वर्ण तिनकौं अभिव्यंजक वायु प्रगट करैहै तौ जब वायु प्रगटै तब सर्वही अक्षर सुनिवेमें आए चाहिए सो बनै नाहीं, तातैं तू कहैहै सो मिथ्याहै॥ ६३॥

एकत्र भाविनः केचित् व्यज्यंते नापरे कथम्।
न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः॥ ६३॥

अर्थ—बहुरि एक ठिकाने वर्त्तै जे वर्ण ते केई प्रगट करिएहै और प्रगट क्यों न करिएहै, जातैं दीपक करि प्रगट होते जे घटादिक तिनकै यह्न क्रम नाहीहै।

भावार्थ—दीपक है सो एकस्थानवर्त्ती घट पट आदि सर्वहीकौं प्रकासैहै, ऐसा नाहीं जो घटकौं प्रकासै पटकौं न प्रकासै तैसैं वायु अक्षरनिकौं प्रकासैहै तौ सर्वही कौं प्रकासै, इहा तौ कोई अक्षर सुनिएहै कोई न सुनिएहै। तातैं वायु अक्षरनिकौं प्रकासैहै ऐसा कहना बनै नाहीं॥ ६३॥

फेर कहैहै,—

व्यंजकव्यतिरेकेण निश्चीयंते घटादयः।
स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाश्च कथंचन॥ ६४॥

अर्थ—घटादि पदार्थ हैं ते स्पर्शादिकनि करि व्यंजक विना निश्चय करैहै बहुरि वर्णहैं ते कदाचित् कोई प्रकार नाहीं निश्चय कीजिएहै।

भावार्थ—घटादि पदार्थहैं ते प्रगट करनेवाले विनाही स्पर्शादि करि निश्चय करिएहै, अर सर्वव्यापी वर्ण नित्यहैं तिनका निश्चय कदा-

च कोई प्रवक्ता न होवै । तातैं सर्वज्ञत्व जिन भगवानकौ मानना लिखाँ ॥ ६४ ॥

स्वार्थे स्वार्थवर्णो न स्वार्थे पुनर्भवम् ।
इत्थं विपन्ने काचित् प्रमा वेदवादिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—स्वार्थ कहिये प्रगट करनेवारे जे वायु जिनकरि वर्ण है ते अनादिनिधन कहूंहि निश्चय करि उपजाइए नाहीं ऐसी वेदवादीकी प्रमाणता कोई हूं नाहीं विद्यमान होवै ॥ ६५ ॥

आगैं वेद कहैं;—

विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्थः केन कथ्यते ।
स्वयमेवेति नो वाच्यं संवादित्वाप्रसंगतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आचार्य कहैं सर्वज्ञदेव विना वेदका अर्थ कौनकरि कहिए है, स्वयमेव कहिए ऐसा कहना युक्त नाहीं जातैं भले वक्तापनाका अप्रसंग आवै है ।

भावार्थ—सर्वज्ञ विना वेदका अर्थ कहना बनै नाहीं जातैं सर्वज्ञ विना औरका ज्ञान प्रमाण नाहीं और वो और कहि देय, अर वेद आपही अर्थ कहै तो साचा कोई वक्ता न ठहरा, तब यह अर्थ है यह अर्थ नहीं है ऐसी कौन कहै जातैं वेदतौ जड है तातैं वेदकौ स्वयमेव अर्थकहना मिथ्या है ॥ ६६ ॥

न पारंपर्यतो ज्ञानं सर्वज्ञानां प्रवर्त्तते ।
समस्तानामिवांधानां मूलज्ञानं विना कृतम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—यद्यपि वह कहै है जो असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरायतैं सत्यार्थ प्रवर्ते है । तातैं आचार्य कहै है;—जो सर्व असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरायतैं न प्रवर्तै है, जैसे समस्त अंधनिका मूलज्ञान कहा विना कार्य न प्रवर्तै है ।

अर्थ—तीन लोकविषैं व्यापक जे अक्षरहैं ते व्यंजक जे प्रगट कर-नेवारे वायु तिनकरि प्रगट करिएहै ऐसी मानी पक्षार्थकरनेवारी नहीं, जातैं सर्व अक्षरनिकी व्यक्तिका प्रसंग आवैहै।

भावार्थ—त्रिलोकव्यापक जे सर्व वर्ण तिनकौं अभिव्यंजक वायु प्रगट करैहै तौ जब वायु प्रगटै तब सर्वही अक्षर सुनिवेमें आए चाहिए सो बनै नाहीं, तातैं तू कहैहै सो मिथ्याहै ॥ ६३ ॥

एकत्र भाविनः केचिद् व्यज्यंते नापरे कथम्।
न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः ॥ ६३ ॥

अर्थ—बहुरि एक ठिकाने वर्त्तते जे वर्ण ते केई प्रगट करिएहै और प्रगट क्यों न करिएहै, जातैं दीपक करि प्रगट होते जे घटादिक तिनकै यह क्रम नाहीहै।

भावार्थ—दीपक है सो एकस्थानवर्ती घट पट आदि सर्वहीकौं प्रकासैहै, ऐसा नाहीं जो घटकौं प्रकासै पटकौं न प्रकासै तैसैं वायु अक्षरनिकौ प्रकासैहै तौ सर्वही कौं प्रकासै, इहा तौ कोई अक्षर सुनिएहै कोई न सुनिएहै। तातैं वायु अक्षरनिकौं प्रकासैहै ऐसा कहना बनै नाहीं ॥ ६३ ॥

फेर कहैहै,—

व्यंजकव्यतिरेकेण निश्चीयंते घटादयः।
स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाश्च कथंचन ॥ ६४ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थ हैं ते स्पर्शादिकनि करि व्यजक विना निश्चय करैहै बहुरि वर्णहैं ते कदाचित् कोई प्रकार नाहीं निश्चय कीजिएहैं।

भावार्थ—घटादि पदार्थहैं ते प्रगट करनेवाले विनाही स्पर्शादि करि निश्चय करिएहै, अर सर्वव्यापी वर्ण नित्यहैं तिनका निश्चय कदा-

य कोई प्रकारमैं न होयहै। तातैं सर्वव्यापक नित्य अज्ञानकौं मानना मिथ्याहै ॥ ६४ ॥

व्यज्यंते व्यंजकैर्वर्णा न जन्यंते पुनर्भुवम्।
इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेदवादिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—व्यंजक कहिये प्रगट करनेवाले जे वायु तिनकरि वर्ण हैं ते प्रगटकरिएहैं बहुरि निश्चय करि उपजाइए नाहीं ऐसी वेदवादीकी प्रमाणता कोई इहां नाहीं विद्यमान होयहै ॥ ६५ ॥

आगैं फेर कहैहै;—

विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्थः केन कथ्यते।
स्वयमेवेति नो वाच्यं संवादित्वाप्रसंगतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आचार्य कहैहै सर्वज्ञदेव विना वेदका अर्थ कौनकरि कहिएहै, स्वयमेव कहिएहै ऐसा कहना युक्त नाहीं जातैं भले वक्तापनाका अप्रसंग आवैहै।

भावार्थ—सर्वज्ञ विना वेदका अर्थ कहना बनै नाहीं जातैं सर्वज्ञ विना औरका ज्ञान प्रमाण नाहीं और कौं और कहि देय, अर वेद आपही अर्थ कहैहै तौ ताका कोई वक्ता न ठहरा, तब यह अर्थहै यह अर्थ नहींहै ऐसी कौन कहै जातैं वेदतौ जडहै तातैं वेदकौं स्वयमेव अर्थकहना मिथ्याहै ॥ ६६ ॥

न पारंपर्यतो ज्ञानं सर्वज्ञानां प्रवर्त्तते।
समस्तानामिवांधानां मूलज्ञानं विना कृतम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—बहुरि वह कहैहै जो असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरायतैं सत्यार्थ प्रवर्त्तै है। ताकूं आचार्य कहैहै;—जो सर्व असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरा तैं न प्रवर्त्तैहै, जैसैं समस्त अंधेनिका मूलज्ञान कह्या विना कार्य न प्रवर्त्तै तैसैं।

भावार्थ—बहुत भी अंधे पुरुष परंपरायतैं चलैं तौ भी मूलज्ञान-विना वांछित स्थान पावै नांही तैसैं परंपरायतैं भी अल्पज्ञानीनिका वचन प्रमाण नाहीं ॥ ६७ ॥

आगैं फेर कहैहै;—

क्रत्रिमेष्वप्यनेकेषु न कर्त्ता स्मर्यते यतः ।
कर्तृस्मरणतो वेदो युक्तो नाक्रत्रिमस्ततः ॥६८॥

अर्थ—बहुरि वह कहैहै जो वेदका कर्त्ता काहूकै स्मरण नाहीं तातैं वेद अक्रत्रिम है। ताकूं आचार्य कहैहै;—जो ऐसा नाहीं जातैं अनेक करे पदार्थनिविषैं भी कर्त्ता स्मरन न कीजिए है, अथवा ताके कर्त्ताके स्मरनतैं वेद क्रत्रिम युक्त है।

भावार्थ—कोई कहै वेदके कर्त्ताको याद नाही तातैं अक्रत्रिमहै, ताकूं कहाहै जो ऐसे तौ पुराने मंदिर वा करे भए मोती इत्यादिकका भी कर्त्ताकी याद नांही ते भी अक्रत्रिम ठहरैं। बहुरि वेदके तौ कर्त्ता भी ब्रह्मादिक कहैहै तातैं भी क्रत्रिमही वेद ठहरै। तातैं अक्रत्रिम वेद कहना मिथ्याहै ॥ ६८ ॥

हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकांक्षिभिः ।
वृकोपदेशवन्नूनं प्रमाणीक्रियते बुधैः ॥ ६९ ॥

अर्थ—धर्मके वांछक पंडितनि करि हिंसादिकके उपदेशपनें करि जो ल्यारपट ताके उपदेशकी ज्यों वेदहै सो प्रमाण करना योग्य नाहीं ॥ ६९ ॥

वीतरागश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते ।
अपरेषामशेषाणां रागद्वेषादिदर्शनः ॥ ७० ॥

अर्थ—वीतराग अर सर्वज्ञ ऐसा जिनेन्द्रही एक न्यारा कीजिए है जातैं और सर्वनिकै रागद्वेषादि दीसैहै ॥ ७० ॥

न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगतः ॥ ७१ ॥

अर्थ—ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हैं ते न [illegible] हैं न [illegible] जातैं [illegible] द्वेष मद क्रोध लोभ मोह इत्यादिक सहित [illegible] ॥ [illegible] ॥

रागवन्तो न सर्वज्ञा यथा प्राकृतमानवाः ।
रागवन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—रागवानिकैं न [illegible] नाहीं [illegible] सर्वज्ञ नाहीं ॥ ७२ ॥

आश्लिष्टास्तेऽङ्गनालिङ्गैः कामकोपभयादिभिः ।
आयुधप्रमदाभूषाकमण्डल्वादियोगतः ॥ ७३ ॥

अर्थ—ब्रह्मादिक हैं ते कामक्रोधभय इत्यादिक समस्त दोषनि करि युक्त हैं, जातैं आयुध स्त्री आभूषण कमण्डलु इत्यादि सहित हैं ॥ ७३ ॥

प्रमदा सूचनं कामं द्वेषमायुधसंग्रहः ।
अक्षसूत्रादिकं मोहं शौचाभावं कमंडलुः ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्त्री तौ कामकौं कहै है अर आयुधका ग्रहण द्वेषभावकौं जनावै है अर माला यज्ञोपवीतादिक मोहकौं दिखावै है अर पवित्रपनेका अभावकौं कमंडलु दिखावै है।

भावार्थ—जो कामादिक विकार न होय तौ स्त्री आदि काहेकौं राखें, तातैं स्त्री आदिक हैं ते कामादिविकारनिकौं ब्रह्मादिकनिमैं प्रगट दिखावै हैं ऐसा जानना ॥ ७४ ॥

आगैं पुरुषाद्वैतवादी कहै है ताका निषेध करै है.—

परमः पुरुषो नित्यः सर्वदोषैरपाकृतः ।
तस्यैतेऽवयवाः सर्वे रागद्वेषादिभाजिनः ॥ ७५ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ७६ ॥

[illegible]

आगैं वैशेषिक लोकका कर्ता [illegible] करै हैं। [illegible] कहै है —

बुद्धिमद्धेतुकं विश्वकार्यत्वात्कलशादिवत् ।
बुद्धिमांश्चास्य यः कर्ता कल्प्यते स महेश्वरः ॥ ७७ ॥
न विना शंभुना नूनं देहद्रुमनगादयः ।
कुलालेनेव जायन्ते विचित्राः कलशादयः ॥ ७८ ॥
ततोऽस्ति जगतः कर्ता विश्वदर्शी महेश्वरः ।
वचनं युज्यते नेदं विमृश्यमानं विपश्चितैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—विश्वहै सो बुद्धिमानहै हेतु (कारण) जाका ऐसाहै।

भावार्थ—बुद्धिमानके निमित्तसैं उत्पत्ति, जातैं लोकके कार्यपनाहै, जो जो कार्यहै सो सो बुद्धिमानके निमित्तसैं उपजैहै जैसैं घटादिक। बहुरि ता लोकका जो बुद्धिमान कर्ताहै सो महेश्वर कहिएहै ॥ ७७ ॥

जैसैं कुम्हार विना विचित्र घटादिक न उपजै तैसैं ईश्वर विना शरीर वृक्ष पर्वत इत्यादिकहै ते निश्चयकरि न उपजै है ॥ ७८ ॥

तातैं जगतका कर्त्ता सर्वदर्शी महेश्वर है। अब ताकू आचार्य कहैहै— यहु वचन पंडितनिकरि विचार्या भया युक्त न होयहै ॥ ७९ ॥

सोही कहैहै;—

कार्यत्वादिन्ययं हेतुस्तस्य साधयते यथा।
बुद्धिमत्त्वं तथा तस्य देहवत्त्वमपि ध्रुवम् ॥ ८० ॥
नाशरीरी मया दृष्टः कुंभकारः कचित् यतः।
कुलालस्तस्य दृष्टांतस्ततो ब्रूते सदेहताम् ॥ ८१ ॥
सदेहस्य च कर्तृत्वे सोऽस्मदादिसमो यतः।
दृश्यतां प्रतिपद्येत कुंभकारादिवत्ततः ॥ ८२ ॥
सृजनं क्रियते तेन विनोपकरणैः कथम्।
धृत्वा निवेश्यते कुत्र निरालंबे विहायसि ॥ ८३ ॥
विचेतनानि भूतानि सिसृक्षावश्यतः कथम्।
विनिर्माणाय विश्वस्य वर्तंते तस्य कथ्यताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—आचार्य कहैहै जो ऐसा यह कार्यहेतु है सो [illegible] ईश्वरके तैं बुद्धिमानपना साधैहै तैसैं देहवानपना भी निश्चयकरि साधैहै ।८०।
जातैं कुंभकार मैंनें कहूं शरीररहित न देख्या तातैं कुलाल दृष्टांत सो [illegible] ईश्वरके सदेहपनेकों कहैहै ॥ ८१ ॥
बहुरि देहसहितकै कर्तापना होतसंतैं [illegible] आदि सरीसा भया जातैं ईश्वर कुंभकारादिकवत् क्यों देखने योग्य पनेकों प्राप्त भया तै ॥ ८२ ॥
बहुरि उपकरणविना ताकरि लोक कैसैं करिएहै, बहुरि करिकैं निराधार आकाशविषैं कहां धरिएहै ॥ ८३ ॥
बहुरि यह कहैहै;—जो ताकी उपजावनेकी इच्छा होतैं पृथ्वी आदि हैं लोककों रचैहैं, ताकूं कहिएहै;—जो ताकी उपजायवेकी इच्छाके तातैं पृथ्वी आदि भूत अचेतनहैं ते लोकके बनावनेके अर्थि कैसैं प्रवर्तैहै सो कहि। तातैं लोकका कर्ता ईश्वर मानना मिथ्याहै ॥ ८४ ॥
आगैं श्रीडका निषेध करैहै;—

बुद्धोऽपि न समस्तज्ञः कथ्यते तथ्यवादिभिः।
प्रमाणादिविरुद्धस्य शून्यत्वादेर्निवेदनात् ॥ ८५ ॥

अर्थ—बहुरि तथ्यवादीनि करि बुद्ध भी सर्वज्ञ न कहिए है, जातैं प्रमाणादि करि विरुद्ध ऐसा शून्यपना आदि जनावै है तातैं ॥ ८५ ॥

प्रमाणेनाप्रमाणेन सर्वशून्यत्वसाधने।
सर्वस्यानिश्चितं सिद्धयेत्तत्वं केन निषिध्यते ॥ ८६ ॥

अर्थ—सर्वकै शून्यपनां साधनेमैं प्रमाणकरि वा अप्रमाणकरि सर्वकै अनिश्चित तत्त्व सिद्ध होय निषेध कौनकरि करिए।

भावार्थ—सर्व शून्य मानैं तब प्रमाण अप्रमाण भी न ठहरै, तब सर्वकै अनिश्चित ही तत्त्वसिद्धि होय प्रमाण विना संशयका निषेध काहे करि करैं तातैं सर्व शून्य मानना मिथ्या है ॥ ८६ ॥

सर्वत्र सर्वथा तत्वे क्षणिके स्वीकृते सति।
फलेन सह संबंधो धार्मिकस्य कुतस्तनः ॥ ८७ ॥

अर्थ—सर्व जायगा। सर्व प्रकार तत्वकौं क्षणिक अंगीकार करे संते धर्मात्मा जीवकै फलकरि सहित संबंध कहातैं होय।

भावार्थ—सर्व प्रकार तत्वकौं क्षणिक अंगीकार करे संतैं धर्मात्मा जीवकै फलकरि संबंध कहातैं होय।

भावार्थ—सर्वप्रकार तत्वकौं क्षणिक माने धर्मात्मा जीव धर्मका फल न पावै जातैं पहलो क्षणमैं ही विनसि गया। बहुरि ऐसे होतैं धर्मका साधन निरर्थक ठहरया। तातैं सर्वथा क्षणिक मानना योग्य नाहीं ॥ ८७ ॥

वधस्य वधको हेतुः क्षणिके स्वीकृते कथम्।
प्रत्यभिज्ञा कथं लोकव्यवहारप्रवर्तनी ॥ ८८ ॥

अर्थ—बहुरि क्षणिकको अंगीकार करे संतें हिंसक जीवहै सो हिंसाका कारण कैसे होय बहुरि लोकमें व्यवहार चलावनेवाली प्रत्यभिज्ञा कैसे होय ।

भावार्थ—क्षणिक माने हिंसा करनेवाला हिंसक न ठहरै जातें वह तौ वा ही क्षण विनसि गया, बहुरि बालक था जो जवान भया; इस पर मेरा लेनाहै सो लेऊं देना है सो देऊं इत्यादिक लोकव्यवहार चलावनेवाली प्रत्यभिज्ञाका भी अभाव ठहरै, जातैं वह तो वाही क्षण विनसि गया व्यवहार काहेका चलै तातैं क्षणिक मानना मिथ्याहै ॥ ८८ ॥

व्याघ्र्याः प्रयच्छतो देहं निगद्य कृमिमंदिरम् ॥
दातुर्देहविमूढस्य करुणा कन कीदृशी ॥ ८९ ॥

अर्थ—यहु शरीर लटनिका घरहै ऐसा कहकै शरीरकौ बघेरीके अर्थि देय ऐसें दाता अर देहमें मूर्ख ऐसे के करुणा कैसीहै ? यहु बडे निर्दयी बातहै ॥ ८९ ॥

बहुरि कहैहै;—

जननी जगतः पूज्या हिंसिता येन जन्मनि ।
मांसोपदेशिनस्तस्य दया शौद्धोदनेः कथम् ॥ ९० ॥

अर्थ—जगतके पूजने योग्य जो माता सो जानें जन्मविषै मारी सा मांसके उपदेश करनेवाले बुद्धकै दया कैसें होय ।

भावार्थ—बौद्धमतमें कहाहै कि बुद्ध माताका उदर फाडकर निकस्याहै अर मांस भक्षणमें दोष नाहीं ताकूं आचार्यनें कहा ऐसे बुद्धके दया काहेकी ॥ ९० ॥

ऐसैं बुद्धका निराकरन किया, आगें कपिलका निराकरण करै है;—

यो ज्ञानं प्राकृतं धर्मं मापतेऽर्मा निरर्थकः।
निर्गुणो निष्क्रियो मूढः सर्वज्ञः कपिलः कथम् ॥९१॥

अर्थ—जो ज्ञानकौं प्रकृतिका धर्म कहै है योह निःप्रयोजन निर्गुण क्रियारहित मूर्ख कपिल सर्वज्ञ कैसैं होय।

भावार्थ—कपिल ज्ञानकौं तो प्रकृतिका धर्म कहैहै अर आत्माकौं निर्गुण क्रिया रहित प्रयोजनरहित अज्ञान कहैहै ताकू आचार्यनै कह्या जो ऐसा सर्वज्ञ कपिल कैसैं होय। तातैं कपिलका मत मिथ्याहै ॥ ९१ ॥

आगैं और भी कुदेवादिकहैं तिनका निषेध करैहै;—

आर्यास्कंदानलादित्यसमीरणपुरःसराः।
निगद्यंते कथं देवाः सर्वदोषपयोधयः ॥ ९२ ॥

अर्थ—सर्वदोषनिके समुद्र ऐसे जे देवी स्कद कहिए स्वामिकार्त्तिकेय अग्नि सूर्य वायु इत्यादिकहैं ते देव कैसैं कहिएहैं।

भावार्थ—राग द्वेषादि दोष जिनमें पाइये ऐसे कुदेवनिकौं देव कैसैं कहिए ॥ ९२ ॥

आगैं फेर कहैहै;—

गूथमस्नाति या हंति खुरशृंगैः शरीरिणः।
सा पशुर्गौः कथं वंद्या वृषस्यंती स्वदेहजम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो गौ अशुच खायहै अर प्राणीनिकौं खुरसींगनिकरि हनैहै अर अपने पुत्रसैं काम सेवैहै, सो ऐसी पशु अज्ञान गौ कैसैं वंदनेयोग्य होय ॥ ९३ ॥

चेद्दुग्धदानतो वंद्या महिषी किं न वंद्यते।
विशेषो दृश्यते नास्यां महिषीतो मयाधिकः ॥ ९४ ॥

कहैहै—जो बुद्धिमान काचकौं छोडकरि चिंतामणिरत्नकौं ग्रहण करैहै सो कहा निश्चयकरि सुखकौं न पावैहै, पावैहीहै ॥ ९७ ॥

मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं
संरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।
सम्यक्त्वरत्नममलं हृदि यो विधत्ते
मुक्त्यंगनामितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥ ९८ ॥

अर्थ—रूढिकौं प्राप्त जो संसारवधू ताका परितोष करनेवाला प्रसन्न करनेवाला अर अनेक दोषस्वरूप ऐसा मिथ्यात्व रूप दूषणकौं त्यागिकरि जो पुरुष निर्मल सम्यक्तरत्नकौं हृदय विषैं धारैहै, ता पुरुष प्रति अनंतहै ज्ञान जाकै ऐसी मुक्तिस्त्री है सो शीघ्रही प्राप्त होयहै।

भावार्थ—मिथ्यात्वकौं त्यागकरि जो सम्यक्त धारैहै ताकूं मुक्तिकी प्राप्ति शीघ्र होयहै ॥ ९८ ॥

छप्पय ।

पोषत विषयकषाय पक्ष एकांत चित्त रचि,
नास्तिकादि मत एम सकल मिथ्यास्वरूप लखि ।
हरिहरादि सबही कुदेव रागादिनिन्द्यपुत,
त्यागि, भजहु सर्वज्ञदेव रागादिदोषच्युत ॥
संसारहेतु मिथ्यात्व इम त्यागि सुदर्शन जे धरैं ।
ते जीव अमितगति शीघ्रही मोगचंद शिवतिय वरैं ॥

इत्युपासकाचारे चतुर्थः परिच्छेदः ।

इस प्रकार अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचारविषैं
चतुर्थ परिच्छेद समाप्त भया ।

अथ पंचमः परिच्छेदः ।

आगें व्रतनिका वर्णन करैहैं,—

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं
क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधा—
स्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते व्रतग्रहणकी इच्छा करि मदिरा मांस अर मधु अर रात्रिविषैं भोजन अर क्षीरवृक्ष कहिए जिनमैं दूध निकसै ऐसे वड पीपर ऊमर इत्यादिकनिके फल इनका त्याग मन वचन कायकरि करैहै, जातैं तिनके त्यागका सेवन करे सतैं व्रत पुष्ट होयहै ।

भावार्थ—जाके व्रतकी चाहहै सो प्रथम मदिरादिकनिका त्याग अवश्य करै इनके त्यागे व्रत पुष्ट होयहै ॥ १ ॥

आगैं प्रथमही मदिराका निषेध करै है,—

मद्यपस्य धिषणा पलायते
दुर्भगस्य वनितेव दूरतः ।
निंद्यता च लभते महोदयं
क्लेशितेव गुरुवाक्यमोचिनः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसैं दरिद्री पुरुषकी स्त्री भाग जायहै तैसैं मदिरा पीनेवालेकी बुद्धि भाग जाय है, बहुरि निंदा वृद्धिकौं प्राप्त हो जायहै जैसैं गुरुके वचन न माननेवालेकै दुःख वृद्धिकौं प्राप्त हो जाय है तैसैं ।

भावार्थ—मदिरा पीनेवालोंकी बुद्धि बिगड़ जायहै अर निद्रा होय है ॥ २ ॥

विह्वलः स जननीयति प्रियां
मानसेन जननीं प्रियीयति।
किंकरीयति निरीक्ष्य पार्थिवं
पार्थिवीयति कुधीः स किंकरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—सो मदिरापानी मन करि विह्वल भया संता स्त्रीकौं मातावत् आचरैहै अर माताकौं स्त्रीवत् आचरन करै है। बहुरि सो कुबुद्धी राजाकौं देखकरि चाकरवत् आचरै है अर चाकरकौं राजावत् आचरैहै।

भावार्थ—मदिरापानी सर्व पदार्थनिकौं विपरीत देखैहै ॥ ३ ॥

सर्वतोऽप्युपहसंति मानवा
वाससी व्यपहरंति तस्कराः
मूत्रयंति पतितस्य मंडला
विस्तृते विवरकांक्षया मुखे ॥ ४ ॥

अर्थ—बहुरि मद्यपानीकी सर्वही तरफतैं मनुष्य हास्य करैहै अर चौर वस्त्र हरैहै, बहुरि स्वानहैं ते पड़ेके विस्ताररूप मुखविषै छिद्रकी वांछा करि मूतैहै ॥ ४ ॥

मंक्षु मूर्च्छति बिभेति कंपते
फूत्करोति रुदति प्रछर्दति।
खिद्यते स्खलति वीक्षते दिशो
रोदिति स्वपिति जक्षितीर्ष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—बहुरि मदिरापानी शीघ्रही मूर्छित होय है, डरपैहै, कांपैहै, फूत्कार करैहै, रोवै है, वमन करैहै खेदरूप होयहै, गिरपड़ैहै, दिशानकूं देखै है, रुदन करैहै, सोवैहै, जकड़ी लगिजाय है, ईर्षा करैहै।

भावार्थ—मदिराकरि नाना दुःखेंकूं उपजैहै ॥ ५ ॥

ये भवंति विविधाः शरीरिण—
मत्र सूक्ष्मवपुषो रसांगिकाः ।
तेऽखिला झटिति यांति पंचतां
निंदितस्य सरकस्य पानतः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस मदिराविषैं सूक्ष्महै शरीर जिनके ऐसे जे रसकाय हैं नानाप्रकार जीवहैं ते समस्त निंदनीक मदिराके पानतैं शीघ्र मरणकूं प्राप्त होयहैं ।

भावार्थ—मदिरापानीकै द्रव्यहिंसा भी सीधे होयहै ॥ ६ ॥

वारुणी निहितचेतसोऽखिलाः
यांति कांतिमतिकीर्तिसंपदः ।
वेगतः परिहरंति योषितो
वीक्ष्य कांतमपरांगनागतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसें स्त्रीहैं से परस्त्री प्रति गए पतिकों देख करि शीघ्रही छोड़ैहै तैसें मदिराविषे लग्याहै चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताकै समस्त कांति बुद्धि कीर्ति संपदा जाती रहैहै ।

भावार्थ—मदिरापानीकी कांति बुद्धि कीर्ति संपदा सर्व बिगडि जायहै ॥ ७ ॥

गायति भ्रमति वक्ति गद्गदं
रौति धावति विगाहते क्लमम् ।
हंति हृष्यति पुष्यते हितं
मद्यमोहितमतिर्विषीदति ॥ ८ ॥

ये जिनेंद्रवचनानुसारिणो
घोरजन्मवनपातभीरवः ।
तैश्चतुष्टयमिदं विनिंदितं
जीवितावधि विमुच्यते त्रिधा ॥ ३७

अर्थ—जे जीव संसारवनके पातनी भयभीतहैं अर जिनेंद्रके वचनके अनुसारीहैं तिनकरि निंद्यनीक मद्य मांस मधु नौनी ये च्यारहैं ते जीवनपर्यंत मनवचनकायकरि त्यागिएहैं ॥ ३७ ॥

मद्यमांसनवनीतमाक्ष्यं
यैश्चतुष्कमिदमद्यते सदा
गृद्धिगामघसंगवर्द्धकं
तैश्चतुर्गतिभवो विगाह्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिन करि आप आत्मका राग हिंसाके संगके बढावनेवाले मद्य मांस मधु नौनी ए च्यार सदा खाइएहै तिनकरि चतुर्गति संसार अवगाहिएहै (भोगिएहै) ॥ ३८ ॥

यः सुरादिषु निषेवतेऽधमो
नियमेकमपि लोलमानसः ।
सोऽपि जन्मजलधावनारतं
कल्पते किमिह गर्भभाजिनः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो चंचलचित्त नीचपुरुष मदिरादिकनि विषै निरर्गल प्रवर्तै सो संसार समुद्रविषै भ्रमणकरैहै, सो इहां कहिए कहांतै कष्ट करै ॥ ३९ ॥

ऐसे मदिरादिक च्यार महाविकृतिनका निषेध किया। आगे रात्रिभोजनका निषेध करैहै,—

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो
यत्र जंतुनिवहो न दृश्यते।
यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते
यत्र घोरतिमिरं विजृंभते ॥ ४० ॥

यत्र नास्ति यतिवर्गसंगमो
यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम्।
यत्र संयमविनाशि भोजनं
यत्र संमजति जीवभक्षणम् ॥ ४१ ॥

यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं
यत्र नास्ति गमनागमक्रिया।
तत्र दोषनिलये दिनात्यये
धर्मकर्मकुशला न भुंजते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जा विषैं राक्षस पिशाचनिका सचार होयहै, अर जा विषैं जीवनिका समूह न देखिएहै, अर जा विषैं छोड्याभी वस्तु भक्षण करिएहै अर जा विषैं घोर अंधकार फैलैहै ॥ ४० ॥

अर जाविषैं यतीनके समूहका संगम नाही, अर जाविषैं गुरु देवका पूजन नाही, अर जा विषैं संयमका विनाश करनेवाला भोजन होयहै, अर जा विषैं जीवनका भक्षण उपजैहै ॥ ४१ ॥

अर जा विषैं सर्व शुभकर्मका वर्जन होयहै, अर जाविषैं गमनागमन क्रिया नाहींहै; ऐसा दोषनिका ठिकाना दिनका अभावरूप रात्रि ता विषैं धर्म कर्ममैं प्रवीण पुरुषहैं ते भोजन न करैहैं ॥ ४२ ॥

भुंजते निशि दुराशया य के
गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः।

भूतराक्षसपिशाच शाकिनी-
संगतिः कथममीभिरस्य ॥ ४३ ॥

अर्थ—जे दुश्चित लोलुपतारूप दोषके वशीभूत जन रात्रिविषै भोजन करैहैं तिन करि भूत राक्षस पिशाच शाकिनीकी संगति कैसे त्यागिए है।

भावार्थ—रात्रिभोजन करैहै तिनके भूतादिककी संगति अवश्य होवैहै ॥ ४३ ॥

वल्भते दिननिशीथयोः सदा
यो निरस्तयमसंयमक्रियः।
शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो
भण्यतेपशुरयं मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूर कीन्हे यम संयम क्रिया जानै ऐसा रात्रिदिवसविषै सदा खावैहै सो यह पंडितनि करि सींग पूंछ रहित पशु कहिये है ॥ ४४ ॥

आमनंति दिवसेषु भोजनं
यामिनीषु शयनं मनीषिणः।
ज्ञानिनामरगेषु जननं
ज्ञानिये गुरुषु पूजनं कुलम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—पंडितनि नै दिवसनि विषै भोजनको कुलहै ऐसे कहैहैं, [illegible] कहैहैं, [illegible] कहैहैं, गुरुनिविषै पूजन [illegible] कहैहैं ॥ ४५ ॥

वल्भते गुणार्थहृता सदा
[illegible] दिवसे [illegible]।

येन रात्रिदिवयोरनारतं
भुज्यते स कथितो नरोऽधमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुणवान उत्तमपुरुष करि सदा एकवार भोजन करिएहै, अर मध्यम पुरुषकरि उज्वलदिनविषैं दोयवार भोजन करियेहै अर जाकरि दिनरात निरंतर भोजन करिएहै सो मनुष्य अधम नीच कह्याहै ॥ ४६ ॥

ये विवर्ज्य वदनावसानयो-
र्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुंजते जितहृषीकवाजिन-
स्ते भवंति भवभारवर्जिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जे पुरुष दिनके आदि अर अंतविषैं सदा दोय घडीका वर्ज-करि भोजन करैहैं ते जीतेहैं इंद्रियरूप घोडे जिननैं ऐसे संसारके भार-करि रहित होयहैं मुक्त होयहैं ॥ ४७ ॥

ये विधाय गुरुदेवपूजनं
भुंजतेऽह्नि विमले निराकुलाः ।
ते विधूय लघु मोहतामसं
संभवंति सहसा महोदयाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जे पुरुष निर्ग्रन्थ गुरुका अर्हंत देवका पूजन करकै निर्मल दिवसविषैं निराकुल भए संते भोजन करैहैं ते शीघ्र मोह अंधकारकौं नाशकरि सहसा महान् उदयरूप होयहैं, केवलज्ञानकौं पावैहैं ॥ ४८ ॥

यो विमुच्य निशि भोजनं त्रिधा
सर्वदापि विदधाति वासरे ।
तस्य याति जननार्द्धमंचितं
भुक्तिवर्जितमपास्तरेपमः ॥ ४९ ॥

भूतराक्षसपिशाच शाकिनी-
संगतिः कथममीभिरस्य ॥ ४३ ॥

अर्थ—जे दुष्टचित्त लोलुपनारूप दोषके वशीभूत जन रात्रिविषैं भोजन करैहैं तिन करि भूत राक्षस पिशाच शाकिनीकी संगति कैसैं त्यागिएहै।

भावार्थ—रात्रिभोजन करैहैं तिनकै भूतादिकनकी संगति अवश्य होयहै ॥ ४३ ॥

वल्भते दिननिशीथयोः सदा
यो निरस्तयमसंयमक्रियः।
शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो
भण्यतेपशुरयं मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूर कीयाहै यम संयम क्रिया जानैं ऐसा रात्रिदिन-विषै सदा खायहै सो पशु पंडितनि करि सींग पूंछ रहित पशु कहि-येहै ॥ ४४ ॥

आमनंति दिवसेषु भोजनं
यामिनीषु शयनं मनीषिणः।
ज्ञानिनामपरेषु जल्पनं
शांतये गुरुषु पूजनं कृतम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—पंडितहैं ते दिवसनिविषैं भोजनकौं सुखके अर्थि कहैहैं, अर रात्रिनिविषैं शयन करनेकौं अर्थ कहैहैं, अर ज्ञानीनिकै आगमविषैं बोलना करनेकौं अर्थ कहैहैं, गुरुनिविषैं पूजन करनेकौं अर्थ कहैहैं ॥ ४५ ॥

वल्भते गुणगणैर्धता सदा
भास्करेण दिवसे दिवसस्य।

येन रात्रिदिवयोरनारतं
भुज्यते स कथितो नरोऽधमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुणवान उत्तमपुरुष करि सदा एकवार भोजन करिए है, अर मध्यम पुरुषकरि उज्ज्वलदिनविषैं दोयवार भोजन करिए है अर जाकरि दिनरात निरंतर भोजन करिए है सो मनुष्य अधम नीच कह्या है ॥ ४६ ॥

ये विवर्ज्य वदनावसानयो-
र्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुंजते जितहृषीकवाजिन-
स्ते भवंति भवभारवर्जिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जे पुरुष दिनके आदि अर अंतविषैं सदा दोय घडीका वर्जिकरि भोजन करै हैं ते जीते हैं इंद्रियरूप घोडे जिनने ऐसे संसारके भारकरि रहित होय हैं मुक्त होय हैं ॥ ४७ ॥

ये विधाय गुरुदेवपूजनं
भुंजतेऽह्नि विमले निराकुलाः ।
ते विधूय लघु मोहतामसं
संभवंति सहसा महोदयाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जे पुरुष निर्ग्रन्थ गुरुका अर्हंत देवका पूजन करकै निर्मल दिवसविषैं निराकुल भए संते भोजन करै हैं ते शीघ्र मोह अंधकारको नाशकरि सहसा महान् उदयरूप होय हैं, केवलज्ञानकौं पावै है ॥ ४८ ॥

यो विमुच्य निशि भोजनं त्रिधा
सर्वदापि विदधाति वासरे ।
तस्य याति जननार्द्धमेधिनं
भुक्तिवर्जितमपास्तरेपसः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो पुरुष मन वचन कायकरि सदा रात्रिविषैं भोजन त्यागकरि दिनविषैं भोजन करैहै तिस पापरहित पुरुष का भुक्तिरहित उपवासरूप आधा जन्म व्यतीत होयहै ॥ ५९ ॥

यो निवृत्तिमविधाय वल्भनं
वासरेषु वितनोति मूढधीः ।
तस्य किंचन न विद्यते फलं
भाषिन न विना फलंतराम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो मूढबुद्धी पुरुष दिननिविषैं निवृत्ति जो व्रत ताहि करि रात्रिविषैं भोजन करैहै ताकै किछू फल न होयहै, जातैं जिन पितविना अतिशयकरि फल न होयहै ।

भावार्थ—कोऊ कहै कि दिनविषैं भोजन न करना अर रात्रि करना यह भी व्रतहै ताकूं कह्याहै कि ऐसा मार्ग नाहीं, जातैं रा भोजन विषैं द्रव्यभावहिंसाकी विशेषतातैं ऐसे व्रततैं किछू फल नां पापही होयहै । जैसै कोऊ अन्न छोडकरि मांसभक्षण करै तैसैं ऐ व्रत पापहीके अर्थ जानना ॥ ५० ॥

ये व्यवस्थितमहःसु सर्वदा
शर्वरीषु रचयंति भोजनम् ।
निम्नगामि सलिलं निसर्गत-
स्तेनयंति शिखरेषु शाखिनाम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जे पुरुष स्थाप्याहै दीपकादि प्रकाश जिनविषैं ऐसी रात्रि विषैं भोजनकौं रचैहैं ते स्वभावतैं नीचेको चलनेवाला जो जल ता शिखरनिविषैं वृक्षनकौं प्राप्त करैहै ।

भावार्थ—इहां ऐसाहै कि कोऊ कहै हम रात्रिविषैं दीपकादि करि हिंसा निवारि लेइंगे ताकूं कह्याहै रात्रि विषैं हिंसा अनिवार्य होयहै

आवै भोजनमें, आहार और वा दीपकादिकनी और जीव अवश्य घाते-जावै, अर स्त्रादिकनी नाशना होवहै, तातें रात्रिविषै हिंसा अवश्यही को निशाचरि ■ आय। ताका दमन दिखाई कि, उनका स्वभाव नीचे पड़नेका है सो उपर पड़ै ऐसा कोई प्रकार होयगा, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

भूषयंति सुखदायि योगिनां
रात्रिभोजनमपास्य चेतनाः ।
पावकोदकशिखाकलालितं
ते वदंति फलदायि काननम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जे अज्ञानी रात्रिभोजन जीवनको सुखदायक कहैं हैं ते अग्निकी उदक शिखाकरि जल्या जो वन ताहि फलदायक कहै है, सो होय नाहीं ॥ ५२ ॥

ये भुंजति दिनरात्रिभोगयो-
स्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः ।
ते प्रकाशतमसोः समानतां
दर्शयंति सुखदुःखकारिणोः ॥ ५३ ॥

अर्थ—रच्यों पुण्य अर पाप जिनने ऐसे जे दिनविषै भोजन अर रात्रिविषै भोजन दोऊनकी समान कहैं हैं ते सुख अर दुःखके करने वाले ऐसे प्रकाश अर अंधकार दोऊनिको समान दिखावै हैं।

भावार्थ—दिनमें भोजन धर्मरूप है अर रात्रीभोजन पापरूप है जैसे प्रकाश अर अंधकार समान बताव नाहीं ॥ ५३ ॥

रात्रिभोजनमधिश्रयंति ये
धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
ते क्षिपंति पवित्रहिमंडलं
वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जे धर्मबुद्धीकरि रात्रि भोजनकौं सेवन करैंहैं ते निश्चयकरि वृक्षनिकी पद्धतिकी वृद्धिके अर्थ वज्राग्निके समूहकौं खेपैंहैं ।

भावार्थ—कोई मिथ्यादृष्टि दिनमें व्रत करै है रात्रिविषैं भोजन करैहै ताकूं कह्याहै—जैसें अग्नितैं कोई प्रकार वृक्षनिकी वृद्धि न होय तैसें रात्रिभोजनविषैं कोई प्रकार धर्म नाहीं, अधर्म होहै ऐसा जानना ॥ ४५ ॥

ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधां
भुंजते सुकृतकांक्षया निशि ।
ते विवृध्य फलशालिनीं लतां
भस्मयंति फलकांक्षया पुनः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जे जीव पुण्यकी वांछा करि सर्व दिन क्षुधाकौं धारि रात्रिविषैं भोजन करैंहैं ते फलकरि सोभित लताकौं वधाय फेर फलकी वांछाकरि भस्म करैंहैं ॥ ५५ ॥

ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा
कुर्वते दिनमुखांतयोर्बुधाः ।
भोजनस्य नियमं विधीयते
मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जे पंडित पुरुष सदाही दिनके आदि अर अंतविषैं दोय घडी भोजनका नियम करैंहैं तिनकरि प्रगटपनें एक मासमें दोय उपवास करिएहै ।

भावार्थ—दिनविषैं दोय दोय मुहूर्त भोजनका त्याग भयें मासमें साठि मुहूर्तका त्याग होतैं दोय उपवासका फल होयहै ॥ ५६ ॥

रोग शोककलिगटिकारिणी
शावर्सीव भयदायिनी प्रिया ।

कन्यका दुरितगर्भसंभवा
रोगिता इव निरंतरापदः ॥ ५७ ॥
देहजा व्यसनकर्मपंडिताः
पन्नगा इव वितीर्णभीतयः ।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदा
पापदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥ ५८ ॥
संकटं सतिमिरं कुटीरकं
नीचचित्तमिव रोगसंकुलम् ।
नीचजातिकुलकर्मसंगमः
दीनतापरमपर्मनिर्गमः ॥ ५९ ॥
व्याधयो विविधदुःखदायिनो
दुर्जना इव परापकारिणः ।
सर्वदोषगणपोष्यमानता
रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥ ६० ॥

अर्थ—रात्रिभोजन विषै तत्पर जो पुरुष ताकैं ऐसी सामग्री होयहै सो कहैहै;—नाक अर टोंक अर कूबर अर गड इनकी करनेवाली अर राक्षसीकी ज्यों भय देने वाली स्त्री मिलैहै, अर महापापतें उपजी अंतरायरहित सदा दुःख देने वाली ऐसी कन्या होयहै, बहुरि दियाहै भयजिननैं ऐसे पाप कर्मनिविषैं प्रवीण सर्पनिकी ज्यों पुत्र होयहै, बहुरि दईहै वृद्धि जानै ऐसा अपात्रदानकी ज्यों निर्धनपना विनाशरहित सदा होयहै।

भावार्थ—जैसैं अपात्रदान निरंतर वृद्धि पावै तैसैं रात्रिभोजन निर्धनपना नित्य बढावै ऐसा दृष्टांत दियाहै। बहुरि छिद्रनि करि व्याप्त नीचपुरुषके चित्तकी ज्यों संकटरूप अंधकार सहित घर मिलैहै, अर

नीच जाति कुलकर्म इनकी संगम होयहै, अर शील निर्लोभता समभाव धर्म इनका निर्गम होयहै अभाव होयहै, अर परके बुरे करनेवाले दुर्जनकी ज्यों अनेक दुःख देनेवाली व्याधि होयहै, अर सर्व दोषनके समूहकरि पीड्यमानपना दुखीपना होयहै। ऐसें रात्रिभोजन करनेवालेकै दोषनिकी उत्पत्ति होयहै ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

आगैं रात्रिभोजन त्यागनेवालेके गुण कहैहै;—

पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः
श्रीसमः प्रियतमा मनोरमाः।
सुंदरा दुहितरः कलालयाः
पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥ ६१ ॥
श्रंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः
पावना हिमकरा इवांगजाः।
शक्रमंदिरमिवास्ततामसं
मंदिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥ ६२ ॥
लब्धचिंतितपदार्थमुज्ज्वलं
भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम्।
सर्वरोगगणमुक्तदेहता
सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥ ६३ ॥
ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः
सर्वयाचितविधानपंडिताः।
सर्वलोकपतिपूजनीयता
रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥ ६४ ॥

अर्थ—पद्मके पत्रसमान हैं नयन जिनके अर प्रिय वचन बोलनेवाली लक्ष्मीके समान रमावने वाली ऐसी स्त्री होयहै, अरकला

विद्यानिकी स्थान अर पुण्यकी पंक्तिसमान ग्रहण कियाहै शरीर जिनने ऐसी सुंदर कन्या होयहैं ॥ ६१ ॥

अर दूर कर्या है व्यसनकी प्रवृत्ति जिनने पवित्र निर्मल चंद्रमा समान पुत्र होयहैं, अर इंद्रके मंदिरसमान अंधकाररहित प्रचुररत्ननिकरि शोभित ऐसा मंदिर मिलैहै ॥ ६२ ॥

अर पायाहै वांछित पदार्थ जानें ऐसा उज्ज्वल महापुण्यसमान स्थिर वैभव होयहै, अर सर्व जननके समूहकरि सहित देखपना अर सर्व गुणनके समूहका आधारपना ॥ ६३ ॥

अर सर्व वांछित कार्यनमें प्रवीण ऐसी ज्ञान दर्शन चारित्र की संपत्ति अर सर्वलोकजननिकरि पूजनीकपना ये रात्रिभोजनते जो विमुख है ताके होयहैं ।

भावार्थ—पूर्वोक्त गुण रात्रिभोजनके त्यागीकै सर्व होयहै ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

शूकरी शंबरी वानरी धीवरी
रोहिणी मंडली शोकिनी केशिनी ।
दुर्भगा निःसुता निर्धवा निर्धना
शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥ ६५ ॥

अर्थ—रात्रिविषै भोजन करनेवाली स्त्री है सो सूकरी भीलनी वानरी धीवरी रोहिणी कुत्ती शोकसहित केशसहित दुर्भग पुत्ररहित पतिरहित धनरहित ऐसी होयहै ॥ ६५ ॥

सांपदैरंचिता देहजैर्वंदिता
भूषणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।
श्रीमती ह्रीमती धीमती धर्मिणी
वासरे जायते भुक्तितः शर्मणी ॥ ६६ ॥

अर्थ—बांधवनिकरि युक्त अर पुत्रनिकरि मंडित अर आभूषणनिकरि भूषित अर रोगनिकरि वर्जित लक्ष्मीवान रूपवान बुद्धिवान धर्मात्मा ऐसी सुगरूप स्त्रीहै सो दिनविषैं भोजनतैं होयहै।

भावार्थ—जो रात्रिविषैं भोजन त्यागैहै सो पूर्वोक्त गुणसहित होयहै ॥ ६६ ॥

> रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा
> ये भवंति भवभागिनां परे।
> तानपास्य जिननाथमीशते
> वक्तुमत्र न परे जगत्रये ॥ ६७ ॥

अर्थ—जीवनिकै रात्रिभोजन त्यागके उत्कृष्ट गुणहैं तिनहि तीनलोकविषैं जिनराज सिवाय और कोई कहनेकौं समर्थ नाहीहै ॥ ६७ ॥

ऐसैं रात्रिभोजनका निषेध किया, आगैं पंच उदंबर फलनिका निषेध करैहै;—

> यत्र सूक्ष्मतनवस्तनूभृतः
> संभवंति विविधाः सहस्रशः।
> पंचधा फलमुदुंबरोद्भवं
> तन्न भक्षयति शुद्धमानसः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जाविषैं सूक्ष्महै शरीर जिनके ऐसे जीव नानाप्रकार हजारां उपजैहैं तिस पाच प्रकार उदंबरजनित फलकौं शुद्धहै मन जाका ऐसा पुरुष है सो न खायहै।

भावार्थ—ऊमर कठऊमर, पाकरफल, बड, पीपर ये पांच उदंबर फलहैं ते त्रसजीवनिके उपजनेके ठिकानेहैं तातैं बुद्धिवान इनका सर्वथा [illegible] । करैहै ॥ ६८ ॥

क्षीरभूरुहफलानि भुंजते
चित्रजीवनिचितानि येऽधमाः।
जन्मसागरनिपातकारणं
पानकं किमिह ते न कुर्वते ॥ ६९ ॥

अर्थ—जे पापीपुरुष असंख्यात जीवनिकरि भरे हुए क्षीरीवृक्षनिके फलनिकौं खायहै ते संसारसागरमैं डूबनेको कारण कौनसा पापकौं इहां न करैंहैं, अपितु सर्वही पाप करैंहैं ॥ ६९ ॥

असंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभि-
र्न धीवरैरस्ति समं समानता।
अनंतजीवव्यपरोपकारिणा-
मुदुंबराहारविलोलचेतसाम् ॥ ७० ॥

अर्थ—अनंत जीवनके नाशकरनेवाले पंच उदंबरके आहारविषै है लोलुप चित्त जिनका तिनकी असंख्य जीवनके घातरूपही आजीविका जिनकी ऐसे धीमरनिकरि साथ समानता नाहीं है।

भावार्थ—उदंबरके खानेवालेकै धीमरनतै भी अधिक पापीपना यहां दिखाया ऐसा जानना ॥ ७० ॥

ये खादंति प्राणिवर्गं विचित्रं
दृष्ट्वा पंचोदुंबराणां फलानाम्।
श्वभ्रावासं यांति ते घोरदुःखं
किं निस्त्रिंशैः प्राप्यते वा न दुःखम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे नानाप्रकार जीवनिके समूहकौं देखकरि पंच उदंबर फलनिकौं खायहै ते घोरदुःखरूप नरकवासकौं प्राप्त होयहै, अथवा निर्दय जीवनिकरि कहा दुःख न पाइए है, सर्वही पाइए है ॥ ७१ ॥

अघप्रदायीनि विचिंत्य धर्मधी-
रुदुंबराणां न फलानि वल्भते।
विधातुमिष्टे सुखदे प्रयोजने
करोति कस्तद्विपरीतमुत्तमः॥ ७२॥

अर्थ—धर्मबुद्धी पुरुष है सो उदबरनिके फलनिकों पापके देनेवाले जानि नहीं खायहै, जातैं सुखदायक कार्य करनेकौं इष्ट होतसतैं कौन उत्तम पुरुष है सो तातैं विपरीत करैहै, अपि तु नाहीं करैहै॥ ७२॥

आदावंते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः
पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम्।
कर्तुं शक्यं स्थिरगुरुतरं मंदिरं गर्त्तपूरं
न स्थेयोभिर्दृढतरमृते निर्मितं ग्रावजालैः॥७३॥

अर्थ—पापका नाश करनेवाला श्रावकसंबंधी निर्मलव्रतकों करता जो पुरुष ता करि आदि अंत विषैं प्रगटपनें इहां निर्मल गुण धारणा योग्यहै। इहां दृष्टांत करैहै—जैसैं अत्यंत थिर जे पत्थरनके समूह तिनकरि दृढ किया जो गर्त्तपूर कहिए नींव ताविना स्थिर अर अतिभारी मंदिर करनेकों समर्थ नाहीं तैसें।

भावार्थ—जैसैं दृढमूल विना निश्चल मंदिर न होयहै तैसें पंच उदंबर तीन मकारके त्यागरूप मूलगुण विना निर्मल व्रत न होयहै तातैं आदितैं लगाय अंतपर्यंत प्रथम मूलगुण धारणा योग्य है॥ ७३॥

दातुं दक्षः सुरतरुरिव प्रार्थनीयं जनानां
चित्ते येषामिति गुणगणो निश्चलत्वं विधत्ते।
भुक्त्वा सौख्यं भुवनमहितं चिंतितागतभोगं
ते निर्बाधाममितगतयः श्रेयसीं यांति लक्ष्मीम्॥७४॥

अर्थ—जीवनिकौ वांछित देनेकौ कल्पवृक्षसमान प्रदान ऐसा यह गुणनिका समूह जिनके चित्तविर्षे निश्चलपनेकौ धारै है ते पुरुष चिरकाल भोग जानिये ऐसे लोकपूजित सुख की संपदाकरि अनंत है ज्ञान जिनके, ऐसे भये संते निर्बाध मोक्षलक्ष्मीकों प्राप्त होय हैं ॥ ७५ ॥

मद्य मांस मधु पंच उदंबर फल त्रसजीवनिके आधार
लौंणी निशिभोजन इत्यादिक तीव्र पाप त्याग दुःखकार ।
विमल मूलगुण प्रथम धरत हम सब व्रत शोभा पावें सार
तातैं भोगि सार सुख क्रमतैं होय अमितगति जगतिरदार ॥

इत्युपासकाचारे पंचमः परिच्छेदः ।

इति श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचारविर्षे
पंचम परिच्छेद समाप्त भया

अथ षष्ठः परिच्छेदः ।

आगैं द्वादश अणुव्रतका वर्णन करैहैं;—

मद्यादिभ्यो विरतैर्व्रतानि कार्याणि शक्तितो भव्यैः ।
द्वादश तरसा छेत्तुं शस्त्राणि शितानि भववृक्षम् ॥ १ ॥

अर्थ—मद्यादिकनितैं विरक्त जे भव्यपुरुष तिनकरि शक्ति सारू द्वादश व्रत करणा योग्य है। ते व्रत संसारवृक्षकौं वेगकरि छेदनेकौं तीक्ष्ण-शस्त्रकी ज्यौंहै ॥ १ ॥

अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यंते ।
पंचत्रिचतुः संख्यासहितानि द्वादश प्राज्ञैः ॥ २ ॥

अर्थ—पंडितनि करि श्रावकनिके अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत क्रमसैं पांच तीन च्यार संख्या सहित द्वादश कहैहैं ।

भावार्थ—पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत च्यार शिक्षाव्रत ऐसैं बारह व्रत श्रावकनिके कहैहैं ॥ २ ॥

आगैं अणुव्रतनिकौं कहैहैं;—

हिंसासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिरूपाणि ।
ज्ञेयान्यणुव्रतानि स्थूलानि भवंति पंचात्र ॥ ३ ॥

अर्थ—इहां स्थूल हिंसा झूंठ चोरी अब्रह्म परिग्रह इनितैं निवृत्तिरूप पांच अणुव्रत जानना योग्य है ॥ ३ ॥

तहां स्थूल हिंसात्याग व्रतकौं कहैहैं;—

द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन ।
तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जैनीनिने त्रस स्थावर के भेद करि दोयप्रकार जीव कहेहै तहां त्रसजीवनकी रक्षा होनेसैं सो प्रथम अणुव्रत कहिएहै ॥ ४ ॥

स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः ।
योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो जीव स्थावरघाती है स्थावरकी हिंसा त्यागनेकौं असमर्थहै, अर त्रस जीवनिका भले प्रकार रक्षासहितहै अर विशुद्धहै परिणाम जाके अर इंद्रियके विषयनितै विरक्तहै सो संयतासंयत कहिए देशव्रतका धारक श्रावक जानना ॥ ५ ॥

हिंसा द्वेधा प्रोक्तारंभानारंभजत्वतोदक्षैः ।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥ ६ ॥
गृहवाससेवनरतो मंदकषायः प्रवर्तितारंभाः ।
आरंभजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—पंडितनिकरि आरंभ अर अनारंभतै उपजने पने करि हिंसा सो कहीहै दोय प्रकार गृहवासतै निवृत्त जो मुनि सो तौ दोय प्रकार हिंसाकौं बचावैहै ॥ ६ ॥

अर जो गृहवासके सेवनेमैं रत श्रावक मंदकषायस्वरूप वर्त्तायाहै आरंभ जानै सो निश्चयकरि आरंभ जनित हिंसाके त्यागनेकौं समर्थ न होय है ।

भावार्थ—मंदकषायरूप चारित्रमोहके उदयतै अवशपनैं व्यापार आरंभविषैं उपजै सो तौ आरंभजनित हिंसा कहिए, अर विना ही प्रयोजन चाहकरि आपही तीव्र कषायरूप हिंसा करना सो अनारंभजनित हिंसा कहिए सो इनि दोऊप्रकार हिंसानिका त्याग तौ मुनीश्वरनिकै होय है, अर गृहस्थके शक्तिहीनपनातैं निर्दोष व्यापारादि जनित

हिंसाका त्याग न होय सकै है परंतु परिणामनिविर्षे सर्वहिंसातैं महा अरुचि है, निंदा गर्हा आपकी करै है ऐसा जानना ॥ ७ ॥

शमिताद्यष्टकषायः प्रवर्त्तते यः परत्र सर्वत्र ।
निंदागर्हाविष्टः सः संयमासंयमं धत्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—उपसमाए हैं आदिके अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यान रूप क्रोधादि अष्ट कषाय जानें अर सर्व ठिकानें निंदा गर्हा युक्त जो प्रवर्तै है सो संयमासयम जो देशव्रत ताहि धारै है ॥ ८ ॥

कामासूयामायामत्सरपैशून्यदैन्यमदहीनः ।
धीरः प्रसन्नचित्ताः प्रियंवदो वत्सलः कुशलः ॥ ९ ॥
हेयादेयपदिष्टो गुरुचरणाराधनोद्यतमनीषः ।
जिनवचनतोयधौतस्वांतकलंको भवविभीरुः ॥ १० ॥
सम्यक्तरत्नभूषो मंदीकृतसकलविषयकृतगृद्धिः ।
एकादशगुणवर्त्ती निगद्यते श्रावकः परमः ॥ ११ ॥

अर्थ—विषयनिकी वाञ्छा अदेखसका भाव मायाचार मत्सरता चुगलीखाना दीनपना जात्यादिमद इनकरि रहित होय अर प्रसन्नचित्त होय अर प्रियवचन कहनेवाळा होय धीर होय प्रीतियुक्त अर प्रवीण होय ॥ ९ ॥

बहुरि त्यागने योग्य ग्रहण करने योग्य विर्षे पंडित होय अर गुरुचरणानके आराधने विर्षे उद्यमरूपबुद्धियुक्त होय, अर जिनवचनरूपजलकरि धोया है मनका कलंक जानें ऐसा होय, अर संसारतैं भयभीत होय ॥ १० ॥

बहुरि सम्यक्तरूप रत्नके आभूषण करि सहित होय, अर मंद करी है समस्त विषयनि करि लोलुपता जानें ऐसा होय,

बहुरि एकादश गुण जे ग्यारह प्रतिमा तिनविषैं प्रवर्तने वाला होय सो परम श्रावक कहिए है ॥ ११ ॥

संरंभसमारंभारंभैर्योगकृतकारितानुमतैः ।
सकषायैरभ्यस्तैस्त्रसा संपद्यते हिंसा ॥ १२ ॥
त्रित्रित्रिचतुःसंख्यैः संरंभाद्यैः परस्परं गुणितैः ।
अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा संपद्यते नियतम् ॥ १३ ॥

अर्थ—संरंभ समारंभ आरंभ अर मन वचनकाय अर कृत कारित अनुमोदना अर क्रोध मान माया लोभसहित गुणे भए तिनकरि त्रसकरि हिंसा उपजैहै ॥ १२ ॥ संरंभादिक तीन अर योग तीन अर कृत कारित अनुमत ये तीन अर कषाय च्यार इनतैं परस्पर गुणो भएनि करि एकसौ आठ भेदरूप हिंसा निश्चय तैं उपजैहै।

भावार्थ—संरंभ कहिए हिंसा करनेका श्रद्धानविचार अर समारंभ कहियें हिंसाके उपकरण मिलावना अर आरंभ कहिए जीवनिका मारना ये तीनौं मन वचन काय करि गुणे भए नव भए; तिनकौं कृत कारित अनुमोदना करि गुणे सत्ताईस भए तिनकौं क्रोधादि च्यार कषायनितैं गुणे एकसौ आठ भए। इनमैं एकसौ आठ भंगनिकी पलटन कैसैं होय है सो कहिए है प्रथम संरंभ मन करि करया क्रोधसहित ऐसा प्रथम भंग भया, बहुरि समारंभ मन करि करया क्रोध सहित ऐसा दूसरा भंग भया, बहुरि समारंभ मन करि करया क्रोधसहित ऐसा तीसरा भंग भया, ऐसैं प्रथमभेद समाप्त भए योगरूप दूसरा भेद पलटै जैसें मन कहा तहां वचन कहना, बहुरि ताकूं भी पूर्ण होतैं तीसरा भेद पलटै, जैसैं कृत कहा था तहां कारित कहना ताकूं भी पूर्ण होतैं चौथा भेद पलटै जैसैं क्रोध कहा तहां मान कहना। जैसैं भंग पलटनेतै एकसौ आठ भेद हिंसाके होयहैं ऐसा जानना ॥ १३ ॥

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यंति ।
चंद्रेण विना नक्षत्रैर्हन्यंते तिमिरजालानि ॥ १४ ॥

अर्थ—जीवनिकी दया विना व्रतहैं ते कर्मनिका नाश नांही करै है जैसें चंद्रमा विना नक्षत्रनि करि अंधकारका समूह नांही हनिएहै तैसें ।

भावार्थ—सब व्रतनमैं जीवदया प्रधानहै ऐसा जानना ॥ १४ ॥

तिष्ठंति व्रतनियमा नाहिंसामंतरेण मुक्तजनकाः ।
पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठंतः पर्वताः क्वापि ॥ १५ ॥

अर्थ—मुक्तके उपजावने हार व्रत अर नियमहैं ते दया विना नांही तिष्ठेहै, जैसें पृथ्वी विना तिष्ठते पर्वत कहूंभी न देखे तैसें ।

भावार्थ—सब व्रत नियमनिका आधार दयाहै ऐसा जानना ॥१५॥

निघ्नानेनाहिंसामात्माधारां निपात्यते नरके ।
स्वाधारां न हि शाखां छिंदानः किं पतति भूमौ ॥१६॥

अर्थ—आत्माका आधाररूप जो अहिंसा दया ताहि विनासता जो पुरुष ता करि आत्मा नरकविर्षै पटकिएहै, इहां दृष्टांत कहिएहै अपने अधाररूप जाय वैठ्या ऐसी जो शाखा डाली ताहि छेदता संता पुरुषहै सो पृथ्वीविर्षै कहा नाहीं पडैहै, पडैहीहै ॥ १६ ॥

स मतो विरताविरतः स्वल्पकषायो विवेकपरमनिधिः ।
रक्षति यस्त्रसदशकं प्राणिहितं स्थावरचतुष्कम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो वेइंद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रियसैनी असैनी इनके पर्याप्त अपर्याप्त भेदकरि दश भेद भए यह जो त्रस दशक ताकी रक्षा करैहै, अर एकेंद्रिय वादर सूक्ष्म ताके पर्याप्त अपर्याप्त भेद करि च्यार भेद ऐसा स्थावर चतुष्क ताका हित वांछै है अवशतें तिनकी हिंसा

होयहै सो भी अनुमोदना नाहीं करैहै, मंदहै कषाय जाके अर विवेक का परमनिधान सो विरताविरत श्रावक कहाहै ॥ १७ ॥

सर्वविनाशी जीवस्त्रसहननं त्याज्यते यतो जैनैः ।
स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—यातैं जीवहै सो सबका हिंसकहै तातैं जैननिकरि त्रसहिंसाका त्याग करिएहै तिनकरि स्थावरका हिंसाविषैं अनुमोदना कैसैं करिएहै ।

भावार्थ—कोउ कहै श्रावककै त्रसहिंसाका त्यागकै ऐसे उपदेशमैं स्थावरहिंसामैं अनुमोदना आई नाहीं कहाहै जीव सर्वहीका हिंसकहै ताकै सर्व हिंसा छूटती न जानि त्रसहिंसा छुडाइए है किछू स्थावरकी हिंसा करनेका उपदेश नाहीं तातैं स्थावरहिंसामैं अनुमोदना नाहीं ऐसा जानना ॥ १८ ॥

त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानां ।
त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानाम्॥१९॥

अर्थ—गृहस्थनिकै हिंसादिकनितैं विरति कहिए त्यागभाव सो दोय प्रकारसहित तीन प्रकारहै बहुरि गृहत्यागीनिकै तीनप्रकार सहित तीनप्रकारहै ।

भावार्थ—करै नाहीं करावै नाहीं मनवचन काय करि ऐसैं छह प्रकार त्यागहै अनुमोदनासहित नवकोटीत्याग नाहीं जातैं हिंसादिकमैं अनुमोदनका प्रसंग बन रह्याहै, ऐसा गृहस्थनिकै जानना । बहुरि जे गृहाचारकै त्यागीहैं तिनकै कृत कारित अनुमोदनासहित मनवचन कायकरि नवकोटीका त्यागहै, ऐसा जानना ॥ १९ ॥

जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे ।
कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं वार्यः ॥ २० ॥

अर्थ—जिनके शास्त्रविषैं जीवका अर शरीरका एकांतिकरूप अभेद कह्याहै तिनके शरीरके विनाश होतसंतैं जीवका विनाश कैसें न भया ॥ २० ॥

आत्मशरीरविभेदं वदंति ये सर्वथा गतविवेकाः ।
कायवधे हंत कथं तेषां संजायते हिंसा ॥ २१ ॥

अर्थ—जो विवेकरहित आत्माका अर शरीरका सर्वथा भेद कहैहैं तिनके शरीरके वध होतसंतैं हिंसा कैसें होय यह बडे आश्चर्यकी बातहै ।

इहां भावार्थ ऐसाहै;—जो पहिले श्लोकमैं तो सर्वथा जीवकैं अर शरीरकूं अभेद मानैहैं तिनके शरीर विनाश होतैं अवश्य जीवका नाश आया तब स्वयमेव हिंसा आई, अर जे सर्वथा जीवको अर शरीरकौं भेद मानैहै तिनके शरीरके नाशमैं हिंसा न ठहरी तब तेभी स्वच्छंद होतैं हिंसकही भये । तातैं दोऊ ही एकांती हैं ते हिंसकहैं, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीडा संपद्यतेतरां घोरा ।
देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ॥ २२ ॥

अर्थ—जातैं देहतैं कोईप्रकार भिन्न कोई प्रकार अभिन्न ऐसा जो जीव ताकैं शरीरका वियोग होतसतैं अतिशय करि घोर पीडा उपजैहै तातैं अनिवारित हिंसा होयहै ।

भावार्थ—लक्षण भेदकरि जीव शरीर भिन्नहै तथापि बंधदृष्टि करि अभेदहै तातैं जीवके शरीरके वियोग करनेमैं अवश्य हिंसा होयहै, ऐसा जानना ॥ २२ ॥

तत्पर्यायविनाशो दुःखोत्पत्तिः परस्य संक्लेशः ।
यः सा हिंसा सद्भिर्वर्जयितव्या प्रयत्नेन ॥ २३ ॥

अर्थ—तिस पर्यायके विनाश होनसतैं दुःखकी उत्पत्ति होय है अर जो महासंक्लेश होयहै सो हिंसा संतनि करि यत्नसहित वर्जनकरना योग्यहै ॥ २३ ॥

प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदा धत्ते ।
सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेकजलधारा ॥ २४ ॥

अर्थ—जो प्राणी प्रमाद करि व्याप्त भया संता शरीरादि प्राणनिका व्यपरोपणा करैहै घात करैहै सो पंडितनि करि हिंसा कही है, कैसीहै हिंसा संसार वृक्षके सींचनेकौं जलधारासमानहै।

भावार्थ—कषायसहित आपके वा परके प्राणनिका नाशकरणा सो हिंसाका लक्षण कह्याहै ॥ २४ ॥

म्रियतां मा मृत जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा ।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव मरो वा न मरो तीव्रप्रमादसहित जीवकै निश्चयरूप हिंसाहै, यद्यपि प्राणनिका नाश होतैं भी प्रमादरहित कै सो हिंसा नाहींहै।

भावार्थ—हिंसाका मूलकारण प्रमाद है ताके होतैं बाह्य प्राणव्यपरोपण होते वा न होते हिंसा अवश्य होयहै, अर ता विना अप्रमत्त मुनिराजकै अशक्यतैं प्राणव्यपरोपण होतै भी हिंसा नाही कहीहै ॥२५॥

यो नित्योऽपरिणामी तस्य न जीवस्य जायते हिंसा ।
न हि शक्यते निहंतुं केनापि कदाचनाकाशम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो नित्य परिणामरहित कूटस्थ है ताके जीवकी हिंसा न होयहै, जातैं, कोऊ करि कदाचित् आकाश हनिवेकूं . ंन

भावार्थ—जो सर्वथा नित्य कूटस्थ आत्माकौं मानैंहै ताके हिंसाका जानना न होय तब ताका त्यागभी न होयहै, तातैं नित्यपनेंका एकांत मिथ्या दिखायाहै ॥ २६ ॥

क्षणिको यो व्ययमानः क्रियमाणा तस्य निष्फला हिंसा।
चलमानाः पवमानो न चाल्यमानः फलं कुरुते ॥ २७॥

अर्थ—जो क्षणिक नाश होता संता जीवहै ताकी करी भई, हिंसा निष्फलहै जैसैं चालना जो पवन सो चलना संता फलकौं न करैहै तैसैं ।

भावार्थ—जे जीवकौं क्षणिक मानैंहै तिनकै क्षण क्षण आपहीका नाश भया ताकी हिंसा निष्फल भई, जैसैं पवन आपही चालै सो चलाया संता फल कहा करै तातैं क्षणिक मानना भी मिथ्याहै ॥२७॥

यस्मान्नित्यानित्यः कायवियोगे निपीड्यते जीवः ।
तस्माद्युक्ता हिंसा प्रचुरकलिलबंधवृद्धिकरी ॥ २७ ॥

अर्थ—जातैं कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य स्वरूप जीवहै सो शरीरके वियोग होतसंतै पीडिएहै दुखी होयहै, तातैं प्रचुर पापकी बंध करनेवाली हिंसायुक्त है ।

भावार्थ—स्याद्वाद करि नित्य वा अनित्य स्वरूप जीव मानैंहै तिनहीकै हिंसाका ज्ञान होयहै, तब तिनहीकै त्याग होयहै, एकांतीकै हिंसाका जानें विना त्याग नाहीं । ऐसा इहां आशय जानना ॥ २८ ॥

देवातिथिमंत्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि संपन्ना ।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥

अर्थ—देव गुरु मंत्र औषध पितर इत्यादिकनिके निमित्ततैं भी प्राप्त भई हिंसाहै सो नरकमैं धरैहै तौ इहां फेर और प्रकार करी भई हिंसा नरकविषैं न धरैहै, धरैहीहै ॥ २९ ॥

आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हंतव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः ॥ ३० ॥

अर्थ—जीवका वधहै सो आत्माका वधहै अर जीवकी रक्षाहै सो आत्माकी रक्षाहै, बहुरि आत्मा हनिवे योग्य नाहीं ता कारण तिस जीवका वध त्यागना योग्यहै।

भावार्थ—जीवनके घातविषै कषायभाव होयहै तिन कषायभावनि करि स्वभावघात होतै आत्माहीका घात भया, अर जीवनिकी रक्षा करनेतै कषाय घटै तब आपुहीकी रक्षा भई, बहुरि आत्मघात करना योग्य नाहीं। तातै हिंसा त्यागना योग्यहै ॥ ३० ॥

सर्वाविरतिः कार्या विशेषयित्वातिचार भीतेन।
पौर्वापर्यं दृष्ट्वा सूत्रार्थं तत्त्वतो बुद्ध्वा ॥ ३१ ॥

अर्थ—अतीचार करि भयभीत पुरुष करि सर्वा विरति कहिए सर्वप्रकार त्याग पूर्वापर देखकरि आगमित सूत्रके अर्थकौं निश्चयतै जान करि सो विशेषताकरि करणा योग्यहै।

भावार्थ—त्याग करणा सो या प्रकार मेरे त्यागहै ऐसे विशेषणस-हित पूर्वापर विचारकै अर सूत्रके अर्थकौं जानकरि, बहुरि मत कदाच प्रतिज्ञाभंग होय ऐसैं मनमैं भय राखकरि करणा। विना विचारे करणा योग्य नाहीं ॥ ३१ ॥

शक्त्यनुसारेण पुनर्विरतिः सर्वापि युज्यते कर्तुं।
सा अन्यथा दधानो भंगं याति प्रतिज्ञायाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—पंडितनि करि शक्ति अनुसार सर्वही त्याग करणा योग्यहै, बहुरि ता त्यागकौं अन्यथा कहिए शक्ति विनाही करता जो पुरुष सो प्रतिज्ञाके भंगकौं प्राप्त होयहै।

भावार्थ—व्रतधारणमें शक्ति छिपावनी नाहीं अर शक्तिसिवाय भी न करणा ऐसा इहां कह्याहै ॥ ३२ ॥

आगे मिथ्यादृष्टी जीव केई प्रकार हिंसा थापैहैं तिनका निराकरण करिएहैं;—

केचिद्वदंति मूढा हंतव्या जीवघातिनो जीवाः ।
परजीवरक्षणाय धर्मार्थं पापनाशार्थम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—केई मूढ मिथ्यादृष्टी कहैहै कि परजीवनकी रक्षा के अर्थ या धर्मके अर्थ वा पापके नाशके अर्थ जीवनके मारनेवाले जे हिंसक जीव ते मारनेयोग्यहैं ॥ ३३ ॥

तिनसैं आचार्य कहैहैं;—

युक्तं तन्नैवं सति हिंस्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम् ।
हिंसायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः ॥ ३४ ॥

अर्थ—ऐसा कहना युक्त नाहीं जातैं या प्रकार मानें संतैं हिंसकपनेंतैं समस्तजीवनिकी उपजी जो हिंसा ताके निषेध करने विषैं कौन समर्थ है।

भावार्थ—हिंसक जीवनिकी हिंसा योग्य होय तौ हिंसकजीव तौ सबहीहैं सबनीकी हिंसा ठहरै तातैं हिंसक जीवनिकी भी हिंसा करना योग्य नाहीं ॥ ३४ ॥

आगैं जानैं कह्याथा जो धर्मके अर्थ हिंसा करणी ताका निषेध करैहैं;—

धर्मोऽहिंसाहेतुर्हिंसातो जायते कथं तथ्यः ।
न हि शालिः शालिभवः कोद्रवतो दृश्यते जातः ॥३५॥

अर्थ—धर्म है सो अहिंसाहेतु है अहिंसातैं उपजैहै सो तिसा सत्यार्थ धर्म हिंसातै कैसैं उपजै। इहां दृष्टांत कहैहै;—धानतै उपज्या जो पापउ सो कोदूंतै उपज्या न देखिएहै।

भावार्थ—दयाहि कारण जाका ऐसा धर्म हिंसातैं कदाच न होयहै, जातैं कारणानुरूप कार्य होयहै; तातैं धर्मके अर्थ भी हिंसा करणा योग्य नाहीं॥ ३५॥

आगैं पहलै याते कदाचा जो पापके नाशके अर्थ हिंसकनकी हिंसा करणी ताका निषेध करैहै;—

पापनिमित्तं हि वधः पापस्य विनाशने न भवति शक्तः।
छिदनिमित्तं परशुः शक्नोति लतां न वर्द्धयितुम् ॥३६॥

अर्थ—पापका कारण जो जीवनिका घात सो पापके विनाशनै विषैं समर्थ न होय है जैसे छेदनेका कारण फरसी सो लताके बढाय- नेकौ समर्थ न होय तैसैं॥ ३६॥

आगैं हिसकजीवनिकी हिंसा धर्मके अर्थ मानै ताका निषेध करैहै;—

हिंस्राणां यदि घाते धर्मः संभवति विपुलफलदायी।
सुरविप्रस्तर्हि गतः परजीवविघातिनां घाते ॥ ३७॥

अर्थ—जो हिंसकजीवनिके घातविषैं बडा फलका देने वाला धर्म संभवैहै तौ पर जीवनिका हिंसाकरनेवालेनिके घात मैं सुरविषैं विप्र आया।

भावार्थ—हिंसक जीवनकी हिंसा करनेवाले नैं उनके सुरमैं विप्र करया सोई हिंसा भई, धर्मकाहेका; ऐसा जानना॥ ३७॥

यस्माद्गच्छंति गतिं निहता गुरुदुःखसंकटां हिंस्राः।
तस्माद्दुःखं ददतः पापं न भवति कथं घोरम् ॥ ३८॥

अर्थ—जातैं हिंसक हैं ते मारे भए महादुःखका है संकट जा विषैं ऐसी गतिकौं जाय हैं तातैं दुःख देनेवालेकै घोर पाप कैसैं न भया॥३८॥

आगैं दुःखी जीवनिकी हिंसाका निषेध करै हैः—

दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम्।
मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन ॥ ३९ ॥

अर्थ—दुःखी जीवनिके घातविर्षै धर्म होय है ऐसा भी कहना योग्य नाहीं, जातैं तरण होनसतैं नरकविर्षै अत्यंत घोर दुःख कौन करि निवारिए है। भावार्थ—कोई कहै कि दुःखी जीवनिकी हिंसातैं धर्म होय है जातैं वो याका दुःख दूर भया ताकूं कह्या है—यह जीव मरकै नरक गया तहां महा दुःख कैसें निवारैगा तातैं अधिक दुःख देनेतैं पापही है धर्म नाहीं ॥ ३९ ॥

सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्मः।
जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन ॥ ४० ॥

अर्थ—कोऊ कहै कि, सुखी जीवनके घात विर्षै भी विषय सुखरूप पापका निषेध होतैं बड़ा धर्म है, ताकूं कह्या है—ऐसा नाहीं, जातैं जीवनिके उपजते सतैं पाप निषेधनेकौं कौन करि समर्थ हूजिए है।

भावार्थ—यह जीव अन्यत्र उपजैगा तहां पाप करैगा तातैं उल्टा सिवाय पाप करावनेमैं धर्म नाहीं, पापही है ॥ ४० ॥

पौर्वापर्यविरुद्धं सम्यक्तमहीध्रपाटने वज्रम्।
इत्थं विचार्य सद्भिः परवचनं सर्वथा हेयम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—पंडितनि करि या प्रकार विचारकै पूर्वापर विरुद्ध अर सम्यक्त पर्वतके तोडनेकौं वज्र समान जो मिथ्या दर्शनिका वचन सो सर्वथा त्यागना योग्य है ॥ ४१ ॥

अज्ञानतो यदेनो जीवानां जायते परमघोरम्।
तच्छक्यते निहंतुं ज्ञानव्यतिरेकतः केन ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो जीवनिकै, अज्ञानतै महा घोर पाप उपजै है सो पाप ज्ञान बिना कौन करि हनिवेकूं समर्थ हूजिए है ।

भावार्थ—अज्ञानजनित पाप ज्ञानहीतै मिटै औरनितै न मिटै, ऐसा जानना ॥ ४२ ॥

यो धर्मार्थं हिंते हिंसादिमसुखदुःखिनो भविनः ।
पीयूषं त्यक्त्वा स हंति विषविटपिनो नूनम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जीव धर्मके अर्थ हिंसक वा अहिंसक सुखी वा दुखी जीवनिकौ मारै सो निश्चयकरि अमृतके अंगीकार करनेकौं विषवृक्ष-निकौं हनै, मारै; नहीं अमृत करैगा ॥ ४३ ॥

मनसा वचसा वपुषा हिंसां विदधाति यो जनो मूढः ।
जन्मवनेऽसौदीर्घे दीर्घं पर्यटति दुःखी ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मूढ जन मन करि वचनकरि कायकरि हिंसा करै है सो यह दुःखी भया ऐसा दीर्घ संसार वनविषै बहुत काल ताई अतिशय करि घूर्ण कीजिए है ॥ ४४ ॥

इहां ताईं अहिंसा अणुव्रतका वर्णन किया आगै सत्य अणुव्रतका वर्णन करै है;—

यल्लोकेऽप्यपि गर्ह्यं यद्बाधकं जिघृक्षणां धर्मम् ।
यदनिष्टं साधुजनैस्तद्वचनं नोच्यते सद्भिः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो वचन लोकनिविषै भी निंदनीक अर धर्मकौ ग्रहण करनेके बाधक, जे पुरुष तिनके अनादरने योग्य अर साधुजननि करि इष्ट नाहीं ऐसा जो असत्यवचन सो संतजननि करि नाहीं बोलिए है ॥ ४५ ॥

कामक्रोधव्रीडाप्रमादमदलोभमोहविद्वेषैः ।
वचनमसत्यं संतो निगदंति न धर्मरतचित्ताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रिय बोलनेमैं चतुर है वाणी जिनकी ऐसे पुरुषनि करि कर्कश कहिए कठोरवचन बहुरि निठुरवचन बहुरि औरनमैं भेद करी देय ऐसा वचन बहुरि परस्पर विरोध उपजाय देय ऐसा वचन इत्यादि अनेक भेदन करि संयुक्त अप्रिय वचन कह्या है ॥ ५४ ॥

आगैं गर्ह्य वचनकौं कहैं हैं;—

हिंसनताडनभीषणसर्वस्वहरणपुरः सरविशेषम् ।
गर्ह्यवचो भाषंते गर्ह्योज्झितवचनमार्गज्ञाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—हिंसारूप ताडनारूप भयानक सर्वद्रव्यहरण स्वरूप इत्यादिक हैं भेद जाके ऐसा जो निंद्यवचन ताहि निंद्यपना करि रहित वचनके मार्ग जाननेवाले हैं ते गर्ह्य वचन कहैं है ॥ ५५ ॥

अर्ध्यं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं हितं वचो वाच्यम् ।
विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेंद्रके वचनके विचार करनेवाले पुरुष हैं तिन करि नित्यही प्रयोजनरूप सुखकारी जैसाका तैसा सुनने योग्य मधुर हितरूप ऐसा वचन कहना योग्य है, अर इनतैं विपरीत उल्टा वचन है सो त्यागने योग्य है ॥ ५६ ॥

वैरायासावस्त्रविषादकोपादयो महादोषाः ।
जन्यंतेऽनृतवचसा कुभोजनेनेव रोगगणाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसैं गाढे भोजन करि निश्चयतैं रोग उपजै है तैसे असत्य वचन करि वैरभाव श्रम अप्रतीति विषाद क्रोध इत्यादि महादोष है ते उपजै है ॥ ५७ ॥

वचमात्रेन जनोद्भवानि गर्वाणि झटिति नाश्यंते ।
विपुलफलानि महता दवानलेनेव विपिनानि ॥ ५८ ॥

अर्थ—जैसे महान दावानल करि बड़े वृक्षनि करि सहित जे वन हैं ते नाश कीजिए हैं, तैसे असत्य वचन करि जीवके सर्व व्रत हैं ते शीघ्र नाश कीजिए हैं ॥ ५८ ॥

इहां ताईं असत्य त्याग अणुव्रतका वर्णन किया आगै अचौर्य अणुव्रत वर्णन करै हैं;—

क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे ।
ग्राह्यं न परद्रव्यं नष्टं भ्रष्टं स्थितं वाऽपि ॥ ५९ ॥

अर्थ—खेतविषै ग्रामविषै वनविषै गलीविषै मार्गविषै घरविषै धूलिविषै गायनके समूहविषै दूसरेका द्रव्य पड़ा होय वा भूला होय वा धरया होय सो भी ग्रहण करना योग्य नाहीं ॥ ५९ ॥

तृणमात्रमपि द्रव्यं परकीयं धर्मकांक्षिणा पुंसा ।
अवितीर्णं नाऽऽदेयं वह्निसमं मन्यमानेन ॥ ६० ॥

अर्थ—धर्मका वांछक जो पुरुष ता करि बिना दिया पराया द्रव्य अग्नि समान मान ता करि तृणमात्र भी ग्रहण करणा योग्य नाहीं ॥ ६० ॥

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो जाका धन हरै सो ताका प्राण हरै है जातैं जीवनके थिरता करावनेवाला धन है सो बाह्य प्राण है ॥ ६१ ॥

सदृशं पश्यंति बुधाः परकीयं कांचनं तृणं वाऽपि ।
संतुष्टा निजवित्तैः परतापविभीरवो नित्यम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते पराये सुवर्णकौं वा तृणकौं समान देखै है, कैसे हैं ते अपने धननि करि संतुष्ट अर परकौं संताप उपजावनेमें भयभीत हैं ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस जो वचनमें चतुर है वाणी जिनकी ऐसे पुरुषनि करि कर्कश कहिए कठोरवचन बहुरि निष्ठुरवचन बहुरि जीवनिमें भेद करै ऐसा वचन बहुरि ताका निमित्त इत्यादि देय ऐसा वचन इनतैं अनेक भेदन करि संयुक्त अप्रिय वचन कहा है ॥ ५४ ॥

आगे गर्ह्य वचनकौं कहै हैं;—

हिंसनताडनभीषणवैरकरणपुरः सरविरोधम् ।
गर्ह्यवचो भाषंते गर्ह्योज्झितवचनमार्गज्ञाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—हिंसारूप ताडनारूप भयानक वैरकरणरूप कलह इत्यादिक हैं भेद जाके ऐसा जो निंद्यवचन ताहि निंद्यता करि रहित वचनके मार्ग जाननेवाले हैं ते गर्ह्य वचन कहैं हैं ॥ ५५ ॥

अर्थ्यं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं हितं वचो वाच्यम् ।
विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेंद्रके वचनके विचार करनेवाले पुरुष हैं तिन करि नित्यही प्रयोजनरूप सुखकारी जैसाका तैसा सुनने योग्य मधुर हितरूप ऐसा वचन कहना योग्य है, अर इनतैं विपरीत उलटा वचन है सो त्यागने योग्य है ॥ ५६ ॥

वैरायासाप्रत्ययविषादकोपादयो महादोषाः ।
जन्यंतेऽनृतवचसा कुभोजनेनेव रोगगणाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसैं खोटे भोजन करि निश्चयतैं रोग उपजै है तैसैं असत्य वचन करि वैरभाव श्रम अप्रतीति विषाद क्रोध इत्यादि महादोष हैं ते उपजै हैं ॥ ५७ ॥

वचसावृतेन जंतोर्व्रतानि सर्वाणि झटिति नाश्यंते ।
विपुलफलवंति महता दवानलेनेव विपिनानि ॥ ५८ ॥

अर्थ—जैसे महान दावानल करि बड़े पर्वतनि करि सहित जे वन हैं ते नाश कीजिए है तैसें असत्य वचन करि जीवके सर्व व्रत हैं ते शीघ्र नाश कीजिए है ॥ ५८ ॥

इहां ताईं असत्य त्याग अणुव्रतका वर्णन किया आगैं अचौर्य व्रतका वर्णन करे हैं;—

क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे ।
ग्राह्यं न परद्रव्यं नष्टं भ्रष्टं स्थितं वाऽपि ॥ ५९ ॥

अर्थ—खेतविषैं ग्रामविषैं वनविषैं गलीविषैं मार्गविषैं घरविषैं धूरेविषैं गायनके समूहविषैं दूसरेका द्रव्य पड़ा होय वा भूला होय वा धरया होय सो भी ग्रहण करना योग्य नाहीं ॥ ५९ ॥

तृणमात्रमपि द्रव्यं परकीयं धर्मकांक्षिणा पुंसा ।
अवितीर्णं नाऽऽदेयं वह्निममं मन्यमानेन ॥ ६० ॥

अर्थ—धर्मका वांछक जो पुरुष ता करि विना दिया पराया द्रव्य अग्नि समान मान ता करि तृणमात्र भी ग्रहण करणा योग्य नाहीं ॥ ६० ॥

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो जाका धन हरै सो ताका प्राण हरै है जातैं जीवनके थिरता करावनेवाला धन है सो बाह्य प्राण है ॥ ६१ ॥

सदृशं पश्यंति बुधाः परकीयं कांचनं तृणं वाऽपि ।
संतुष्टा निजवित्तैः परतापविभीरवो नित्यम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते पराये सुवर्णको वा तृणकौं समान देखे है, कैसे है ते अपने धननि करि संतुष्ट अर परकौं संताप उपजावनेमैं भयभीत है ॥ ६२ ॥

तैलिकलुब्धकखट्टिकमार्जारव्याघ्रधीवरादिभ्यः ।
स्तेनः कथितः पापी संततपरतापदानरतः ॥ ६३ ॥

अर्थ—तेली वहेलिया खटीक विलाव वाघ ढीमर इन तैं चौर है सो अधिक पापी कह्या है, चोर निरंतर परजीवनकौं दुःख देनेमैं तत्पर है ॥ ६३ ॥

ऐसें अचौर्य अणुव्रतका वर्णन किया । आगैं परदारा त्याग अणुव्रतकौं कहै हैं;—

स्वसृमातृदुहितृसदृशीः दृष्ट्वा परकामिनीः पटीयांसः ।
दूरं विवर्जयंते भुजगीमिव घोरदृष्टिविषाम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते परकी स्त्रीकौं वहनिसमान अर वडीकौं माता समान अर छोटीकौं वेटी समान देख करि भयानक दृष्टिविषै सर्वणीकी ज्यौं दूर त्यागैं हैं ॥ ६४ ॥

न निषेव्या परनारी मदनानलतापितैरपि त्रेधा।
क्षुत्क्षामैरपि पुरुषैर्न भक्षणीयं परोत्सृष्टम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—काम अग्नि करि तप्तायमान जीवनि करि भी मन वचन काय करि परस्त्री सेवना योग्य नाहीं, जैसैं क्षुधाकरि दुर्बल चतुर पुरुषनिकरि भी पराई औठ खाना योग्य नाहीं तैसैं ॥ ६५ ॥

विषवल्लीमिव हित्वा पररामां सर्वथा त्रिधा दूरम् ।
संतोषः कर्त्तव्यः स्वकलत्रेणैव बुद्धिमता ॥ ६६ ॥

अर्थ—परस्त्रीकौं विषवेलवत् ज्यौं सर्वथा मन वचनकायकरि दूर त्यागकैं बुद्धिमान पुरुषकरि अपनी स्त्रीकरि ही संतोष करणा योग्य है ॥ ६६ ॥

नाशक्त्या सेवंते भार्यां स्वमपि मनोभवाकुलिताः ।
वन्हिशिखाप्याशक्त्या शीतार्त्तैः सेविता दहति ॥ ६७ ॥

अर्थ—कामकरि व्याकुल भए संतें आसक्ति जो गृद्ध ता करि अपनी भार्याको भी न सेवेहै जैसें शीतकरि पीडित पुरुषनि करि भी आसक्ति कर सेई भई अग्निकी शिखाहै सो कहा न दहेहै, दहेहीहै ॥ ६७ ॥

दृष्टा स्पृष्टा श्लिष्टा दृष्टिविषा सर्पदेहमूर्त्तिरिव हंति ।
तां परवामां भव्यो मनसापि न सेवते जातु ॥ ६८ ॥

अर्थ—ज्यों परस्त्री देखी वा स्पर्शी वा आलिंगी संती दृष्टिविष सर्पकी मूर्तिकी ज्यों हनेहै तिस परस्त्रीकौ भव्यजीव है सो मनकरि भी कदाच न सेवै ॥ ६८ ॥

दीप्ताकारा तप्ता स्पृष्टा दहति पावकशिखेव ।
मारयति योपभुक्ता प्ररूढविषविटपिशाखेव ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो परस्त्री दीप्त है आकार जाका अर सतायमान सो स्पर्शी भई अग्निकी शिखाकी ज्यों दहेहै, अर जो भोगी भई फैलरही विषवृक्षकी शाखाकी ज्यों मारेहै ॥ ६९ ॥

मोहयति झटिति चित्तं निषेव्यमाना सुरेव या नितरां ।
या गलमालिंगंती निपीडयति गंडमालेव ॥ ७० ॥

अर्थ—जो परस्त्री सेई भई मदिराकी ज्यों अतिशयकरि जल्दी चित्तकौ मोहहै । बहुरि जो गलेकौ आलिंगन करती लिपटी गंडमाला नाम रोगकी ज्यों पीडा उपजावैहै ॥ ७० ॥

व्याघ्रीव याऽऽमिषाशा विलोक्यरभसा जनं विनाशयति ।
पुरुषार्थपरैः सद्भिः परयोषा सा त्रिधा त्याज्या ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो परस्त्री मांसभखनी व्याघ्रीकी ज्यों पुरुषकौं देख करि जबरदस्ती विनाश करैहै सो परस्त्री पुरुषार्थमें तत्पर जे संत पुरुष तिनकरि मन वचन कायतें त्यागनी योग्यहै ॥ ७१ ॥

मलिनयति कुलद्वितयं दीपशिखेवोज्ज्वलापि मलजननी।
पापोपयुज्यमाना परवनिता तापने निपुणा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो परस्त्री दीपकी लोयसमान उज्ज्वलभी मैलकी उपजावनेवाली है, यह कज्जल उपजावैहै यह रागद्वेष उपजावैहै बहुरि पापिनी उपयुज्यमाना कहिए संयोगकौं प्राप्त करी संती संताप करनेविषैं प्रवीणहै ॥ ७२ ॥

ऐसैं परस्त्रीत्याग अणुव्रतका वर्णन किया। आगैं परिग्रहप्रमाण नामा अणुव्रतकौं कहैहै,—

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासीदासं चतुष्पदं भांडं।
परिमेयं कर्त्तव्यं सर्वं संतोषकुशलेन ॥ ७३ ॥

अर्थ—संतोषविषैं प्रवीण जो पुरुष ताकरि वास्तु कहिए हाट हवेली क्षेत्र कहिए खेतीका क्षेत्र धन कहिए सुवर्ण रूपादिक धान्य कहिए चावल गेहूं आदिक बहुरि दासी दास आदि द्विपद अर चतुष्पद कहिये घोड़ा गौ इत्यादिक भांड कहिए बासन वस्त्रादिक इन सबका परिमाण करना योग्य है।

भावार्थ—जीवके तीन लोकके पदार्थनकी तृष्णा है सो सब छूटती न जानि तृष्णा घटनेकौं पदार्थनिका परिमाण करायाहै ॥ ७३ ॥

विध्यापयति महात्मा लोभं दावाग्निमसिमं ज्वलितम्।
भुवनं तापयमानं संतोषाम्बुप्रवाहेन ॥ ७४ ॥

अर्थ—महापुरुष है सो दावानलसमान जलता जो लोभादि संतोषरूप महाजल करि बुझावैहै कैसा है लोभ जैसे अग्नि लोककौं तापा उपजावैहै तैसे है ॥ ७४ ॥

सर्वारंभा लोके संपद्यंते परिग्रहनिमित्ताः।
संत्यजते यः संगं त्यजति सः सर्वमारंभम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—लोकविषै सर्व हिंसादिक आरंभहै ते परिग्रहके निमित्त होयहै अथवा परिग्रहतैं होयहैं इस कारणतैं जो परिग्रहकौं घटावै है सो सर्व आरंभकौं घटावै है ॥ ७५ ॥

ऐसे परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका वर्णन किया। आगैं दिग्विरतिनाम गुणव्रतकौं कहै हैं;—

ककुप्पटेऽपि कृत्वा मर्यादां यो न लंघयति धन्यः।
दिग्विरतिस्तस्य जिनैर्गुणव्रतं कथ्यते प्रथमम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो धन्य पुरुष दिशानिके अन्तरनिविषै मर्यादाकौं करिके नाहीं उलंघै है ताकै जिनदेवनि करि दिग्विरतिनामा गुणव्रत कहिए है। पूर्वादि आठौं दिशा तथा उरउध्रणनैं नीचे ऊपर ऐसे दशौं दिशानिकै प्रसिद्ध नदी पर्वतादिकनितैं जो मर्यादा करनाकै इसतैं परै मैं गमनादि नाहीं करूंगा सो प्रथम दिग्विरतिनामा गुणव्रत जानना ॥ ७६ ॥

सर्वारंभनिवृत्तेस्ततः परं तस्य जायते पूतम्।
पापापायपटीयः सुखकारि महाव्रतं पूर्णम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—तिस दिग्विरतिधारी पुरुषकै तिस मर्यादतैं परैं सर्व आरंभकी निवृत्ति कहिए त्याग तातैं सुखकारी अर पापके नाश करणेमैं प्रवीण ऐसा पूर्ण महाव्रत होय है ॥ ७७ ॥

आगैं देशविरतिकौं कहै हैं;—

देशावधिमपि कृत्वा यो नाक्रामति सदा पुनरेषा।
देशविरतिर्द्वितीयं गुणव्रतं तस्य जायेत ॥ ७८ ॥

अर्थ—बहुरि देशकी मर्यादा कौं भी करके जो फेर मन वचन काय करि नाहीं उलंघै है ताकै देशविरतिनामा दूसरा गुणव्रत होय है।

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] —

[illegible] ।

[illegible] ॥ ८० ॥

[illegible] ॥ ८० ॥

[illegible] —

[illegible] ।

[illegible] ॥ ८१ ॥

[illegible] ।

कहिये कुत्ताबिल्ली मोरी कथा कहानी इत्यादि दुःख हूँगे कहिए।
ऐसे दोष सदोष पापवत् त्याग करना सो अनर्थदंडविरति जानना।८१।

बहुरि याहीके विशेष कहैं;—

मंडलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः।
हिंसकार्दैने प्रायाः सर्वे पापोपकारपराः ॥ ८२ ॥

अर्थ—हिंसके कारक जे पुरुष तिनकरि कुत्ता बिलाव मुर्गा मोर सुवा मैना इत्यादिक सब पापके कारनेके लिये नगर जीवहि से ग्रहण करना योग्य नाहीं ॥ ८२ ॥

लोहं लाक्षा नीली कुसुंभ मदनं विषं शणः शस्त्रम्।
संधानकं च पुष्पं सर्वं कन्दार्द्रकं हेयम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—दयाके नगर जे पुरुष तिनकरि लोहे लाख नील कुसुंभ [illegible] शस्त्र संधाणा पुष्प सर्व त्यागना योग्य है ॥ ८३ ॥

नाली सूरणकंदो दिवसद्वितयोषिते च दधिमथिते।
विद्धं पुष्पितमन्नं कालिंगं द्रोणपुष्पिका त्याज्या ॥८४॥

अर्थ—नाल अर सूरण अर कंद अर दोय दिनके वासे दही अर छाछ बहुरि बीधा अर फूलसहित ऐसा लाया अन्न अर कालींदा अर राई ये त्यागना योग्य है ॥ ८४ ॥

ऐसे अनर्थदंडविरतिका वर्णन किया। आगे सामायिक व्रतको कहैं;—

आहारो निःशेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयातः।
योऽनन्तकायिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढैः ॥ ८५ ॥

अर्थ—जो समस्त आहार अपने स्वभावतें अन्यभावको प्राप्त भया चलितरस भया बहुरि जो अनंतकायसहित है सो यह दयासहित पुरुषनिकरि त्यागना योग्य है ॥ ८५ ॥

त्यक्तार्त्तरौद्रयोगो मत्या विदधाति निर्मलध्यानः ।
सामायिकं महात्मा सामायिक संयतो जीवः ॥ ८६ ॥

अर्थ—त्यागे हैं आर्त्त रौद्र ध्यान जानें अर निर्मल है ध्यान जाके ऐसा महात्मा रागद्वेषके त्याग तैं भले प्रकार समभावनि करि है सो सामायिककौं धारै है।

भावार्थ—रागद्वेषके त्यागतैं आत्मविषैं "सं" कहिए एकत्व होय करि "अयनं" कहिए परिणामना सो समय है, अर समयका जो भाव सामायिक कहिए सो ऐसे सामायिकके काल समस्त सावद्य योगके त्याग तैं श्रावककौं भी उपचारतैं महाव्रती कहा है इतना यह विशेष जानना ॥ ८६ ॥

कालत्रितये त्रेधा कर्तव्या देववंदना सद्भिः ।
त्यक्ता सर्वारंभं भवमरणविभीतचेतस्कैः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जन्ममरणतैं भय भीत हैं चित्त जिनके ऐसे सत्पुरुषनि करि प्रभात अर मध्याह्न अर अपराह्न इन तीनों काल विषैं मन वचन काय करि अरहंतादि देवनिकी वंदना करनी योग्य है ॥ ८७ ॥

आगैं प्रोषधोपवासकौं कहैं हैं;—

सदनारंभनिवृत्तैराहारचतुष्टयं सदा हित्वा ।
पर्वचतुष्के स्थेयं संयमयमसाधनोद्युक्तैः ॥ ८८ ॥

अर्थ—गृहके आरंभतैं रहित अर यावज्जीव त्यागरूप संयम अर थोड़ेकाल त्यागरूप यम इनविषै उद्यमी पुरुषनि करि पर्वचतुष्क कहिए एक मास मैं दोय अष्टमी दोय चतुर्दशी इनविषैं आहारचतुष्टय कहिए खाद्य स्वाद्य असन (लेह्य) पेय इनकौं त्यागकरि सदा तिष्ठना योग्य है।

भावार्थ—गृहका व्यापार अर आरंभ व्यापार, संयमरूप पर्व-विषै गमन किया सो प्रोषधोपवास जानना ॥ ८८ ॥

ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यंगादिसर्वसंस्कारम्।
ब्रह्मव्रतगतचित्तैः स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वा ॥ ८९ ॥

अर्थ—तांबूल माला स्नान उबटना इत्यादि सर्व संस्कारको त्याग-करि ब्रह्मचर्यविषै प्राप्त हुवा है चित्त जिनका ऐसे पोसहसहित पुरुषनि करि तिष्ठना योग्य है ॥ ८९ ॥

उपवासानुपवासैकस्थानेष्वेकमपि विधत्ते यः।
शक्त्यनुसारपरोऽसौ प्रोषधकारी जिनैरुक्तः ॥ ९० ॥

अर्थ—उपवास अर अनुपवास अर एकस्थान विषै एककौ भी जो शक्ति अनुसार धारै है सो यह पोसह करनेवाला जिनदेवनि करि कह्या है ॥ ९० ॥

उपवासं जिननाथा निगदंति चतुर्विधाशन त्यागम्।
सजलमनुपवासममी एकस्थानं सकृद्भुक्तिम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—च्यार प्रकार आहारका जो त्याग ताहि ये जिननाथ उपवास कहैं हैं अर जलसहितकौ अनुपवास कहैं हैं अर एकवार भोजनकौ एकस्थान कहैं हैं।

भावार्थ—इहां जलमात्र लेय ताकौ अनुपवास कह्या सो उप-वासका अभाव रूप अर्थ न लेना किंचित् उपवास है ऐसा अर्थ ग्रहण करना ॥ ९१ ॥

आगैं भोगोपभोगपरिमाण व्रतकौ कहैं हैं;—

भोगोपभोगसंख्या विधीयते येन शक्तितो भक्त्या।
भोगोपभोगसंख्या शिक्षाव्रतमुच्यते सद्भिः ९२ ॥

अर्थ—जो करि शक्तिमाफिक भोग अर उपभोगकी संख्या करिए है सो भोगोपभोगसंख्या नामा शिक्षाव्रत सैनन करि कहिए है ॥ ९२ ॥

आगैं भोगोपभोगका स्वरूप कहै है—

तांबूलगंधलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः ।
उपभोगो भूषा स्त्रीशयनासनवस्त्रवाहाद्याः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तांबूल सुगंधलेपन स्नान भोजन इत्यादिकतो भोग हैं अर भूषण स्त्री शयन आसन वस्त्र वाहन इत्यादिक उपभोग हैं। एकवार भोजनमें आवै सो भोग अर वार वार भोगनेमें आवै सो उपभोग ऐसैं जानना ॥ ९३ ॥

आगैं अतिथिसंविभाग व्रतकों हैं;—

परिकल्प्य संविभागं स्वनिमित्तकृताशनौषधादीनाम् ।
भोक्तव्यं सागारैरतिथिव्रतपालिभिर्नित्यम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—अतिथि व्रतके पालनेवाले श्रावकनि करि अपने अर्थ करे जे भोजन औषधादिक तिनका भले प्रकार विभाग करिकैं पात्रकौं देकैं भोजन करना योग्य है ॥ ९४ ॥

अतति स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननाहूतः ।
यःसोऽतिथिरुद्दिष्टः शब्दार्थविचक्षणैः पुरुषैः ॥ ९५ ॥

अर्थ—शब्दार्थ विषैं विचक्षण जे पुरुष तिन करि सो साधु अतिथि कह्या है, सो कौन ? जो समयकौं नाहीं विराधता संता विना बुलाया स्वयमेव गृहप्रति अतति कहिए गमन करै है, आवै है ॥९५॥

अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम् ।
अशनमतिथेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य ॥ ९६ ॥

अर्थ—अशन पेय खाद्य स्वाद्य ऐसे च्यार प्रकार आहार कहिए ताका विभाग कहिए बांटा अपनी शक्ति माफ्क इस अतिथि पात्रकूं करणा योग्य है।

भावार्थ—अपने अर्थ किया आहार तामेंसे पात्रकूं अर्थ शक्ति-माफिक देना योग्य है ॥ ९६ ॥

मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्यं जिनैः पेयम्।
ताम्बूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं खाद्यं च पूपाद्यम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—मूंग भात इत्यादि अशन कहिए अर दूध जल आदिकाकौं जिनदेवने पेय कह्या है अर तांबूल दाडिमादिकौं स्वाद्य कह्या है अर पूवा आदिकौं खाद्य कह्या है ऐसा जानना ॥ ९७ ॥

आगैं सल्लेखनाका वर्णन करै हैं;—

ज्ञात्वा मरणागमनं तत्त्वमतिर्दुर्निवारमति गहनम्।
पृष्ट्वा बांधव वर्गं करोति सल्लेखनां धीरः ॥ ९८ ॥

अर्थ—दुर्निवार अर अतिगहन कहिए भयानक ऐसा जो मरनका आगमन ताहि जानि करि निश्चयरूप है मति जाकी ऐसा धीर पुरुष है सो बांधवनके समूहकौं पूछ के मोह छुडायकैं आगम प्रमाण सल्लेखनाविधिकी श्रावक मांडै है, ऐसा जानना ॥ ९८ ॥

आराधनां भगवतीं हृदये विधत्ते
सज्ज्ञानदर्शनचरित्रतपोमयीं यः।
निर्धूतकर्ममलपंकमसौ महात्मा
शर्मोदकं शिवसरोवरमेति हंसः ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तपमयी जो आराधना भगवती ताहि हृदयविषैं धारै है सो यह महात्मा हंस मोक्षसरोवरकौं

प्राप्त होय है, कैसा है मोक्षसरोवर नाश भया है कर्ममल रूप कीच जाका अर सुखरूप है जल जा विषैं ऐसा है।

भावार्थ—जो सन्यास मग्न करै है सो थोडेही कालमैं मोक्षकौं प्राप्त होय है, ऐसा नियम जानना ॥ ९९ ॥

आगैं अधिकारकौं संकोचै है;—

जिनेश्वरनिवेदितं मननदर्शनालंकृतं
द्विषड्विधमिदं व्रतं विपुलबुद्धिभिर्धारितम्।
विधाय नरखेचरत्रिदशसंपदं पावनीं
ददाति मुनिपुंगवामितगतिस्तुतां निर्वृतिम्॥ १०० ॥

अर्थ—जिनेश्वर देवनैं कह्या अर ज्ञानदर्शन करि शोभित अर महाबुद्धीनकरि धरया ऐसा यह द्वादश प्रकार व्रतहै सो मनुष्य विद्याधर देव इनकी पवित्र सपदाकौं प्राप्त कराकै निर्वाण अवस्थाकौं देयहै कैसीहै निर्वाण अवस्था अप्रमाणहै महिमा जिनकी ऐसे मुनिनविषैं श्रेष्ठ मुनि तिनकरि स्तुतिगोचर करीहै।

भावार्थ—मुनीन्द्र जाकी स्तुति करैहै ऐसी मुक्तिकौं प्राप्त करैहै ॥ १०० ॥

सवैया तेईसा।

पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत शिक्षाव्रत पुनि निर्मल च्यार।
सम्यग्दर्शन ज्ञानसहित जो धारैं तीव्र प्रमाद निवार॥
नर विद्याधर अमर संपदा अद्भुत भोगि भोग जगसार।
लहैं अमितगति सुखमय शिवपद वंदूं चरण तास अविकार॥

इति श्रीमदमितगत्याचार्यकृते श्रावकाचारे षष्ठ परिच्छेदः।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं षष्ठ (छठा) परिच्छेद समाप्त भया।

अथ सप्तम परिच्छेदः ।



आगे व्रतनिकी महिमा दिखावैहैं;—

व्रतानि पुण्याय भवंति जंतो-
र्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके
मलोपलीढानि कदाचनापि ॥ १ ॥

अर्थ—जीवके अतीचारसहित सेये भए व्रतहैं ते पुण्यके अर्थ होय हैं, इहां दृष्टांत कहैहैं जैसें बिना नींदे कूडासहित मलसहित लोकविषैं सस्य हैं ते कहीं कहू भी कदाचित भी फलैहैं ? अपि तु नाहीं फलैहैं ॥ १ ॥

मत्वेति सद्भिः परिवर्जनीयाः
व्रते व्रते ते खलु पंच पंच ।
उपेयनिष्पत्तिमपेक्षमाणा
भवंत्युपाये सुधियः सयत्नाः ॥ २ ॥

अर्थ—ऐसी मान करि पंडितनि करि व्रत व्रत विषैं ते पांच पांच अतीचार त्यागने योग्य है, जातैं उपेय कहिए जाके अर्थ उपाय करिए ऐसा कार्य ताकी उत्पत्तीकौं चाहते पंडित हैं ते उपाय जो ताका कारण ताविषैं यत्न सहित होयहैं ।

भावार्थ—व्रततौ उपेय है अर अतीचार त्याग उपाय है जो व्रत-नकौं चाहै है तो अतीचारत्याग करहु, ऐसा उपदेश जानना ॥ २ ॥

आगैं अहिंसाव्रतके अतीचार कहै हैं;—

भारातिमात्रव्यपरोपघात-
छेदान्नपानप्रतिषेधबंधाः ।
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः
पंचापराधाः प्रतिषेधनीयाः ॥ ३ ॥

अर्थ—भारका प्रमाणतैं उलंघकरि धरना, अर घात कहिए पीडा का कारण लाठी वेत आदितैं मारना इहां प्राणके नाशरूप घातका अर्थ नहीं ग्रहण करणा जातैं यह तो अनाचारस्वरूपही है, बहुरि छेद कहिए कान नासिकादिक अंगनिका छेदना, बहुरि अन्नजलका रोकना, अर बंध कहिए वांछित स्थानकौं न जाने देना रस्सादिक तैं बांधना सो बंध कहिए । ये प्रथम अणुव्रतके पांच अतीचार पंडितनि करि त्यागना योग्य है ॥ ३ ॥

आगैं सत्य अणुव्रत अतीचार कहै है—

न्यासापहारः परमंत्रभेदो
मिथ्योपदेशः परकूटलेखः ।
प्रकाशना गुह्यविचेष्टितानां
पंचातिचाराः कथिता द्वितीये ॥ ४ ॥

अर्थ—न्यासापहार कहिए कोऊनैं द्रव्य सौंप्या था ताकूं वह भूलकै थोडा मागै तब कहै इतनाही है, बहुरि पर मंत्रभेद कहिए अंगविकारादिकनैं परके अभिप्रायकौं जानिईर्षातैं ताका प्रकाशना, बहुरि स्वर्ग मोक्षके कारण क्रियाविशेषनिमैं अन्यथा प्रवर्त्तावना सो मिथ्यापदेश कहिए, बहुरि दूसरेके कहनेतैं ठगनेके अर्थ झूंठ लिखना सो कूटलेखक्रिया है, बहुरि स्त्रीपुरुषादिकके गुप्त चरित्रका प्रकाश करना सो

रहोभ्याख्यान कहिए । ये पांच अतीचार दूसरे सत्य अणुव्रतविषै कहेहैं ॥ ४ ॥

आगें अचार्य अणुव्रतके अतीचार कहैहैं;—

व्यवहारः कृत्रिमकः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
ते मानवैपरीत्यं विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥ ५ ॥

अर्थ—झूंठे सुवर्णादि बनावना सो कृत्रिमव्यवहार कहिए, बहुरि चौरको चोरीमैं लगावना सो स्तेन प्रयोग कहिए, बहुरि चोर करि ल्याए द्रव्यका ग्रहण करना सो तदाहृतादान कहिए, बहुरि बडे मानतैं लेना छोटे मानतैं देना सो मानवैपरीत्य कहिए, बहुरि राजनियमका उल्लंघन करना महसूल आदि चोरना सो विरुद्ध राज्यातिक्रमण कहिए। ये तीसरे अणुव्रतके पांच अतीचार कहे ॥ ५ ॥

आगैं परस्त्रीत्याग अणुव्रतके अतीचार कहैहैं;—

आधानुपाचेत्वरिकांग संगा-
वनंगसंगो मदनातिसंगः ।
परोपयामस्य विधानमेते
पंचातिचारा गदिताश्चतुर्थे ॥ ६ ॥

अर्थ—परस्त्री ग्रहण करी बहुरि नाहीं ग्रहण करी ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रीके अंगका संग करणा तिनप्रति गमन करना, बहुरि अनंगसंग कहिए हस्तादिकनै क्रीडा करणा, बहुरि कामका तीव्र परिणाम, अर दूसरेका विवाह करावना। ये पांच अतीचार अणुव्रतके कहैहैं ॥६॥

आगैं परिग्रह परिणाम अणुव्रतके अतीचार कहै हैं।

क्षेत्रवास्तुधनधान्यहिरण्य-
स्वर्णकर्मकरकुप्यकसंख्याः ।

योऽतिलंघति परिग्रहलोभ-
स्तस्य पंचकमवाचि मलानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—क्षेत्र कहिए खेतीका स्थान वास्तु कहिए घर इन दोऊनका एकस्थान, अर हिरण्य कहिए सोना इनका एकस्थान, अर धन गौ आदि अर धान्य गेहूं आदि इनका एकस्थान अर, कर्मकर दासीदास, अर कुप्य कहिए वस्त्रादि इन पांचनकी संख्याकौं जो परिग्रहके लोभ-सहित उलंघै है ताके अतीचारनिका पंचक कह्या ॥ ७ ॥

आगैं दिग्विरतिके पांच अतीचार कहै हैं,—

स्मृत्यंतरपरिकल्पनमूर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमाः प्रोक्तः।
क्षेत्रविवृद्धिः प्राज्ञैरतिचाराः पंच दिग्विरतेः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो योजनादिकका परिमाण कर्‌या था ताकूं भूल और सुरत करना, अर ऊपर नीचें तिरछा इन तीनूंनिका उलंघना कहिए पर्वतादिपै चढना कूपादिमैं उतरना बिलादिमैं घुमना ऐसैं तीन भए, बहुरि लोभके वशतैं क्षेत्रकी वृद्धि वाछना। ये दिग्विरतिके पांच अतिचार पंडितनिनैं कहे हैं ॥ ९ ॥

आगैं देशविरतिके अतीचार कहै हैं;—

आनयनयोज्ययोजनपुद्गलजल्पनशरीरसंज्ञाख्याः।
अपराधाः पंच मता देशव्रते गोचराः सद्भिः ॥९॥

अर्थ—मर्यादा बाहिर आनयन कहिए बुलावना, बहुरि मर्यादा बाहिर योग्य योजन कहिए प्रयोग, बहुरि मर्यादा बाहिर लोष्टादिकौं कार्य करावना सो पुद्गलक्षेप कहिए, अर मर्यादा बाहिर पुरुषौं वचन बोलना, अर मर्यादा बाहिर शरीरकी सयस्यानै कार्य करावना। ये पंच अतीचार देशव्रतकी भंजनहारे कहे हैं ॥ ९ ॥

आगें अनर्थ दंडविरतिके अतीचार कहै है;—

असमीक्षितकारित्वं भाद्गभोगोपभोगनैरर्थ्यम् ।
कंदर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमनर्थदंडस्य ॥ १० ॥

अर्थ—विना विचारे प्रयोजनतें अधिक करना, बहुरि भोग उपभोगनिका निःप्रयोजन संचय करना, बहुरि रागभावके उदयतैं हास्य मिल्या अयोग्य वचन कहना सो कंदर्प कहिए, बहुरि ते रागभाव अर अयोग्य वचन दोऊ पर विषैं शरीरके कर्म करि युक्त होय सो कौत्कुच्य कहिए, बहुरि ढीटपणां सहित असमीचीन बहुत प्रलाप करना सो मौखर्य कहिए । ये पांच अनर्थ दंडविरतिके अतीचार हैं ॥ १० ॥

आगें सामायिकके अतीचार कहैं हैं;—

योगा दुःप्रणिधाना स्मृत्यनुपस्थान मादराभावः ।
सामायिकस्य जैनैरतिचाराः पंच विज्ञेयाः ॥ ११ ॥

अर्थ—दुःप्रणिधान कहिए पापरूप अथवा अन्यथा योगरूप जे मन वचनकाय तीन सो ये भये, बहुरि सुरत भूल जाना अर आदरका अभाव, ये पांच अतीचार सामायिकके जैनीन करि जानने योग्य हैं ॥ ११ ॥

आगें पोसहके अतीचार कहै हैं;—

त्रिया गतोपयोगा उत्सर्गादानसंस्तरकविधाः ।
उपवासे मुनिमुख्यैरनादरः स्मृत्यसमवस्था ॥ १२ ॥

अर्थ—गतोपयोग कहिए विना देखे वा विना प्रतिलेखन करे भूमिमें मलमूत्र तजना वा अर्हतादिकनिकी पूजाके उपकरण गंधमाल्यादिक वा आपके ओढना आदिके अर्थ वस्त्रादिक ग्रहण करना करना बहुरि सांथरा बिछावना, तीन तो ये भए बहुरि अनादर कहिए

आवश्यकनिमैं उत्साहका अभाव अर पोसहकी सुरत भूल जाना, ऐ पांच अतीचार मुख्य आचार्यनिनैं पोसह विषैं कहे हैं ॥ १२ ॥

आगे भोगोपभोग विरतिके पांच अतीचार कहे हैं;—

महचित्तं संबद्धं मिश्रं दुःपक्वमभिषवाहारः ।
भोगोपभोगविरतेरतिचाराः पंच परिवर्ज्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—सचित्तवस्तु तथा सचित्तवस्तु करि ढांकित वस्तु तथा सचित्त करि मिल्या वस्तु बहुरि दुःपक्व ऐसा वस्तु बहुरि काम बढ़ावनेवाला वस्तुका आहार, ये भोगोपभोगविरतिके पांच अतीचार त्यागने योग्य है ॥ १३ ॥

आगे दानके अतीचार कहे हैं;—

सचित्तकालातिक्रमसचित्तनिक्षेपणा पिधानानि ॥
दानेऽन्यव्यपदेशः परिहर्तव्या मलाः पंच ॥ १४ ॥

अर्थ—दानादि मैं अनादर भाव मैं मात्सर्य करिए, बहुरि योग्य कालका उल्लंघन करना, बहुरि सचित्त कमलपत्रादि विषै भोजन धरना, बहुरि सचित्तकरि ढांकना, बहुरि अन्य दै आज्ञा करि दिवावना, ये दानके पांच अतीचार त्यागना योग्य है ॥ १५ ॥

आगे [illegible] अतीचार कहे हैं;—

जीवितमरणाशंसानिदानमित्रानुरागसुखसंगा ।
सल्लेखे सल्लेखकमिदमाहुर्[illegible]दितविजयाः ॥ १५ ॥

अर्थ—[illegible] आद्दित [illegible] बहुरि [illegible] बहुरि [illegible] बहुरि [illegible]

लिया चिन्तवन करना सो गुणनीया कहिए । यह सम्यक्त्व विषै अतीचारनिका जो पंचक तांहि जाना है जानिवे योग्य जिनने ऐसे अर्हतादिक हैं ते कहै है ॥ १६ ॥

आगे सम्यग्दर्शनके अतीचार कहै है,—

शंकाकांक्षा निंदा परप्रशंसासंस्तवा मला पंच ।
परिहर्तव्याः सद्भिः सम्यक्त्वविशोधिभिः सततम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनवचनमें शंका करणी, वा भोगनिकी वांछा करणी, वा धर्मात्मानमें निंदा करणी ग्लानि करणी, मिथ्यादृष्टीनकी प्रशंसा करणी, स्तुति करणी, ये पांच अतीचार ते सम्यक्त्व विशोधन करनेवाले जे सत्पुरुष तिनकरि निरंतर त्यागना योग्य है ॥१६॥

आगे अतीचारनके कथनकौ संकोचै है;—

सततिं परिहरंति मलानामेवमुत्तमधियो व्रतशुद्धयै ।
श्रावका जगति ये शुभचित्तास्ते भवंति भुवनोत्तमनाथा
॥ १७ ॥

अर्थ—या प्रकार लोकमें उत्तमबुद्धी श्रावक है जे अतिचारनिकी संतति कहिए सन्तानका समूह ताहि त्यागै है ते शुभचित्त लोकके उत्तम नाथ होय है ॥ १७ ॥

आगे शल्यनिका निषेध करै है,—

निदानमायाविपरीतदृष्टी-
र्नाराचपत्रीरिव दुःखकर्त्रीः ।
ये वर्जयंते सुखभागिनस्ते
निःशल्यता शर्मकरी हि लोके ॥ १८ ॥

अर्थ—जे पुरुष बाणनकी पंक्तिसमान दुःख करनेवाली जो भोगनिकी वांछारूप निदान अर कुटिल भावरूप माया अर विपरीत दृष्टि

आवश्यकनिमैं उत्साहका अभाव अर पोसहकी सुरत भूल जाना, ए पांच अतीचार मुख्य आचार्यनिनैं पोसह विषै कहे हैं ॥ १२ ॥

आगे भोगोपभोग विरतिके पांच अतीचार कहे हैं;—

सहचित्तं संबद्धं मिश्रं दुःखपक्वमभिषवाहारः ।
भोगोपभोगविरतेरतिचाराः पंच परिवर्ज्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—सचित्तवस्तु तथा सचित्तवस्तु करि साहित वस्तु तथा सचित्त करि मिल्या वस्तु बहुरि दुःखतै पचै ऐसा वस्तु बहुरि काम बढावनेवाला वस्तुका आहार, ये भोगोपभोगविरतिके पांच अतीचार त्यागने योग्य हैं ॥ १३ ॥

आगे दानके अतीचार कहै हैं;—

अनादरकालातिक्रमसचित्तनिक्षेपणा विधानानि ॥
दानेऽन्यव्यपदेशः परिहर्तव्या मलाः पंच ॥ १४ ॥

अर्थ—दानादि मैं अनादर भाव सो मात्सर्य कहिए, बहुरि योग्य कालका उल्लंघन करना, बहुरि सचित्त कमलपत्रादि विषै भोजन धरना, बहुरि सचित्तकरि ढांकना, बहुरि अन्य के आज्ञा करि दिवावना, ये दानके पांच अतीचार त्यागना योग्य है ॥ १५ ॥

आगे सल्लेखनाके अतीचार कहै हैं,—

जीवितमरणाशंसानिदानमित्रानुरागसुखसंगाः ।
सन्यासे मलपंचकमिदमाहुर्विदितविज्ञेयाः ॥ १५ ॥

अर्थ—यह शरीर अवश्य अनित्य है सो यह कैसे रहै ऐसी अभिलाषा सो जीविताशंसा कहिए, बहुरि रोगके उपद्रव तै आकुलित होय करि मरण वांछना सो मरणाशंसा कहिए, बहुरि परलोकमें इन्द्रियनिके भोग वांछना सो निदान, बहुरि पूर्वे मित्रनसूं क्रीडा करी ताका स्मरण करना सो मित्रानुराग कहिए, बहुरि पहले भोगे सुख-

निका चिंतवन करना सो गुरुदोषा कहिए। यह सैन्यास विषैं अतीचारनिका जो पंचक ताहि जान्या है जानिबे योग्य जिननें ऐसे अर्हतादिक हैं ते कहै है ॥ १६ ॥

आगे सम्यग्दर्शनके अतीचार कहैं हैं;—

शंकाकांक्षा निंदा परशंसासंस्तवा मला पंच।
परिहर्तव्याः सद्भिः सम्यक्तविशोधिभिः सततम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनवचनमैं शंका करणी, वा भोगनिकी वांछा करणी, या धर्मात्मानमैं निंदा करणी ग्लानि करणी, मिथ्यादृष्टीनकी प्रशंसा करणी, स्तुति करणी; ये पांच अतीचारहैं ते सम्यक्त विशोधन करनेवाले जे सत्पुरुष तिनकरि निरंतर त्यागना योग्यहै ॥१६॥

आगें अतीचारनके कथनकौं संकोचैहै;—

सप्तति परिहरंति मलानामेवमुत्तमधियो व्रतशुद्धयै।
श्रावका जगति ये शुभचित्तास्ते भवंति भुवनोत्तमनाथा ॥ १७ ॥

अर्थ—या प्रकार लोकमैं उत्तमबुद्धी श्रावकहैं जे अतिचारनिकी सत्तरि कहिए सत्तरका समूह ताहि त्यागैहैं ते शुभचित्त लोकके उत्तम नाथ होयहैं ॥ १७ ॥

आगैं शल्यनिका निषेध करैहै;—

निदानमायाविपरीतदृष्टी-
नाराचपङ्क्तीरिव दुःखकर्त्रीः।
ये वर्जयंतेसुखभागिनस्ते
निःशल्यता शर्मकरी हि लोके ॥ १८ ॥

अर्थ—जे पुरुष बाननकी पंक्तिसमान दुःख करनेवाली जो भोगनिकी वांछारूप निदान अर कुटिल भावरूप माया अर विपरीत दृष्टि

[illegible] प्रभाव अरु [illegible] [illegible] पोषण [illegible] करै है ॥ १२ ॥

[illegible] करै है;—

[illegible] दुःखकर्मविनाशदाः।
[illegible] परित्यजांः ॥ १३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] करै है; —

[illegible] विषमाणि ॥
[illegible] परिहर्तव्या [illegible] ॥ १४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १४ ॥

[illegible]

[illegible]।
[illegible] ॥ १५ ॥

[illegible]

कहिए मिथ्यात्व इन तीनोंको धारै है ते मुनिके मोक्षके नाही है, अर तीनोंसे रहित निःशल्य मुनि होयहै ऐसा जानना ॥ १८ ॥

यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिधेयं
व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य ।
स्थिते शरीरे ह्यवगाह्य काण्डे
जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि ॥ १९ ॥

अर्थ—जाके हृदयविषै तीन प्रकार यह शल्य है ताके समस्त व्रत नाशको प्राप्त होयहै, जैसे मनुष्यके शरीरको व्यापक बाणते तिष्ठे संते काहेते सुख होय? नाहीं होयहै ॥ १९ ॥

प्रशस्तमन्यच निदानमुक्तं
निदानमुक्तैर्यतिनायकेन्द्रैः ।
विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदा-
द्विधा प्रशस्तं पुनरभ्यधायि ॥ २० ॥

अर्थ—निदानरहित जे मुनीन्द्र हैं तिनकरि प्रवीनके निदानहै सो प्रशस्त अर अप्रशस्त ऐसे दोय प्रकार कहाहै, बहुरि प्रशस्त निदान मुक्तिका संसारका निमित्त इन भेदनिते दोय प्रकार कह्या ।

भावार्थ—निदानके भेद दोय, एक प्रशस्तनिदान दूजा अप्रशस्त निदान; तहां प्रशस्त निदानके भेद दोय, एक मुक्तिनिमित्त, एक संसारनिमित्त, ऐसा जानना ॥ २० ॥

आगे मुक्तिनिमित्त निदान कौं कहैं हैं;—

कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं
बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम् ।
आकांक्षतः क्षीणकषायवृत्ते-
र्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्मनिका अभाव अर संसारके दुःखकी हानि अर दर्शन ज्ञान तपस्वरूप बोधि अर समाधि कहिए ज्ञानसहित मरण अर जीवनके ज्ञानकी सिद्धि इनकौं वांछता क्षीण कहिए मंदहै कषायनिकी प्रवृत्ति जाकै ऐसा जो पुरुष ताकै मुक्तिका हेतु निदान कहाहै ।

भावार्थ—निदान नाम वांछाका है सो मुक्तिहीकी वांछा है, जातै मुक्तिविना कर्मादिकका अभाव होय नाहीं तातै सो निदान मुक्तिहेतु कह्या, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगैं संसारनिमित्त प्रशस्तनिदानकौं कहै हैं;—

जातिं कुलं बांधववर्जितत्वं
दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्ध्यै ।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः
संसारहेतुर्गदितं जिनेंद्रैः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिन धर्मकी सिद्धिके अर्थ जातिकौं वा कुलकौं वा बांधवनिकरि रहितपनेकौं वा दारिद्रपनेकौ वांछता जो निर्मल है प्रवृत्ति जाकी ऐसा पुरुष ताके जिनेंद्रनै संसारके निमित्त प्रशस्त निदान कह्या है ।

भावार्थ—कोऊ चाहै कि जाति कुल भला मिलै तातै जिनधर्म सधै तथा बांधवादि आकुलताके हेतु हैं इन करि रहित होऊं जातै धर्म सधै वा धन पापका कारण है तातै धनरहित मैं होऊं जातै धर्म सधै सो ऐसी वांछा धर्मके आशयतै कथंचित् भली है तथापि जाति आदि संसारबिना होय नाहीं, तातै संसार हेतु प्रशस्त निदान कह्या ॥ २२ ॥

उत्पत्तिहीनस्य जनस्य नूनं
लाभो न जातिप्रभृतेः कदाचित् ।

उत्पत्तिमाहुर्भवमुद्धबोधा
मवं च संसारमनेककष्टम् ॥ २३ ॥

अर्थ—उत्पत्तिरहित जो जीव ताकै निश्चयतैं जाति आदिका लाभ कदाच होय नाहीं, बहुरि उद्धत है ज्ञान जिनका ऐसे ज्ञानी पुरुष हैं ते उत्पत्तिकौं भव कहैं हैं, बहुरि भव है सो अनेक दुःखरूप संसार है।

भावार्थ—जाति आदि संसारबिना नाहीं तातैं आत्माादिकरि कह्या है, ऐसा जानना ॥ २३ ॥

संसारलाभो विदधाति दुःखं
शरीरिणां मानसमांगिकं च।
यतस्ततः संसृतिदुःखभीतै-
र्विधा निदानं न तदर्थमिष्टम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो संसारका लाभ है सो जीवनिकौं शरीर संबंधी वा मनसंबंधी दुःख करै है तातैं संसारके दुःखनितैं भयभीत पुरुषनि करि संसारके अर्थ निदान है सो मन वचन काय करि नाहीं इष्ट्या है ऐसा जानना ॥ २४ ॥

आगैं अप्रशस्त निदानकौं कहै है,

भोगाय मानाय निदानमीशै-
र्यदप्रशस्तं द्विविधं तदिष्टम्।
विमुक्तिलाभप्रतिबन्धहेतुः
संसारकान्तारनिपातकारि ॥ २५ ॥

अर्थ—गणधरदेवनै जो अप्रशस्त भोग करि निदान है और मानके अर्थ जो निदान सो ऐसा दोय प्रकार का किया है, कैसा है,

अनुराग निदान मुनिनि, त्यागी, रोगनिको कारण भोगार्थ दराकैराग्य ऐसा है।

भावार्थ—पंचेन्द्रियनिके विषयनिकी अभिलाषा सो भोगार्थ निदान कहिए अर आगामी मदनभाव, अर्थ कांक्षा सो भावार्थ निदान कहिए सो कोई निदान भोगार्थ काजके है ऐसा जानना ॥ २५ ॥

ये संति दोषा भुवनांतराले
तानेषमात्रां वितनोति भोगः।
के तेऽपराधा जननिन्दनीया
न दुर्जनो यान् रभसा करोति ॥ २६ ॥

अर्थ—विषय भोग है सो जीवनिके लोकविषै जो दोष है तिनहि विस्तारै है, इहां दृष्टांत कहै है—जननि करि निन्दनीक ते कौन अपराध है जिनहि दुर्जन जबरदस्ती न करै है, सर्व ही करै है ॥ २६ ॥

ये पीडयंते परिचर्यमाणाः
ये मारयंते घन पोष्यमाणाः।
ते कस्य सौख्याय भवंति भोगा
जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—आचार्य कहै हैं बड़े खेदकी बात है जे भोग आचरन करे सेवे सेवे सते पीडा उपजावै है अर पुष्ट करे संते मारै है ते भोग रोगनि समान दुर्निवार कौन मनुष्यके सुखके अर्थ होय हैं, अपि तु नाहीं होय हैं ऐसा जानना ॥ २७ ॥

विनश्वरात्मा गुरुपंककारी
मेघो जलानीव विवर्द्धमानः।
ददाति यो दुःखशतानि कृष्णः
स कस्य भोगो विदुषा निषेव्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—सो विषय भोग कौनकै पंडितजन करि सेयवे योग्य होय अपि तु नाहीं होय। कैसा है विषय भोग जो वर्द्धमान भया संता जैसैं मेघ जलनिकौं देय है तैसैं दुःखनिके सैकडानिकौं देय है, कैसा है मेघविनशनशील है स्वरूप जाका सो यह भोगभी विनसनशील है, बहुरि मेघ महाकीचका करनेवाला है बहुरि मेघ काला है, सो यह भोग भी मलीन है ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यो बाधते शक्रममेय शक्तिं
स कस्य बाधां कुरुते न कामः।
यः प्लोषते पर्वतवर्गमग्निः
स मुंचते किं तृणकाष्ठराशिम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो काम अप्रमाण है शक्ति जाकै ऐसा जो इंद्र ताहि पीडै है सो काम कौनकै बाधा न करै है ? सर्वहीकै करै है। इहां दृष्टांत कहै है—जो अग्नि पर्वतनके समूहकौं जलावै है सो अग्नि कहा तृणकाष्ठके समूहकौं छोडै है, अपि तु नाहीं छोडै है; ऐसा जानना ॥ २९ ॥

मर्मीरणार्हीव विभीमरूपः
कोपप्रभावः परंध्रवर्ती।
अनात्मनीनं परिहर्तुकामै-
र्न याचनीयः कुटिलः स भोगः ॥ ३० ॥

अर्थ—आपकै अर्थ अहित ऐसा जो दुःख ताके त्यागनेकी है वांछा जिनकै ऐसे पुरुषनि करि सो विषयभोग याचना योग्य नाहीं, कैसा है भोग, सर्प समान है भयानकरूप जाका, कैसा है सर्प क्रोधरूप है स्वभाव जाका सो यह भोग भी क्रोधका अभिप्राय लिये है, बहुरि सर्प परके छिद्रमैं तिष्ठै है तैसै भोग भी छी आदि परजनमैं

[illegible] है, [illegible] है, [illegible] ॥ २० ॥

[illegible]

देवं गुरुं धार्मिकसंघमीड्य
[illegible] परिभूय मूढः ।
पाखंडिमाराध्य कुधर्मसक्तो
[illegible] ॥ २१ ॥

अर्थ—[illegible] है [illegible] है [illegible] है।

भावार्थ—[illegible] ॥ २१ ॥

वामनः पामनः कौपनो वैपनः
कर्कशो रोमशः स्थिमलः फल्पनः ।
कोलिको मालिकः शालिकस्थिपकः
विकटो कुप्पको कुम्पकः कुंठितः ॥ २२ ॥
चिप्पटः कांसिको कृषितो आढको
वंजुलो मंजुलः पिप्पलःपद्मगः ।
कुक्कुरक्लिष्टिगो रासभो वायसः
कुक्कुटो मर्कटो मानवो जायते ॥ २३ ॥

अर्थ—मानवो जीव जातिपर्याय पावै है सो कहै हैं;—वामन होय है, पामर होय है, काणो होय है, ठिग होय है, कठोर होय है, रोमश ·

कहिए बडे रोमका धारी होय है, सिध्मल कहिये भूरा होय है, पापी होय है, कोढी होय है, मार्जी होय है, मिलावट होय है छींपा होय है, चाकर होय है, पराधीन लोभी होय है, मूढ होय है, कोढी होय है ॥ ३२ ॥ चीता होय है, घूघू होय है, मूसा होय है जाहक होय है, बहुरि वंजुल मंजुल पिप्पल कोईनीच तिर्यचविशेष है सो होय है, बहुरि सर्प अर कुत्ता अर तीतर अर गधा अर कागला अर मुर्गा अर बन्दर इत्यादि नीच मनुष्य तिर्यचन पर्याय जीव मानतैं पावै है तातैं मान त्यागना योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या
निहत्य सत्या जनपूजनीयाः ।
निषेव्यमाणो रभसेन मानः
श्वभ्रालये निक्षिपतीति घोरे ॥ ३४ ॥

अर्थ—सेया भया मान है सो सत्यार्थ रूप अर लोकनि करि पूजनीक ऐसी जो लक्ष्मी अर क्षमा अर कीर्ति अर दया अर पूजा इनकौं नासकैं अर जबरदस्ती घोर नरकवासविषैं पटकै है ॥ ३४ ॥

अनंतकालं समवाप्य नीचां
यदैकदा याति जनोऽप्युच्चाम् ।
तथाप्यनंता बत याति जाती-
र्घो गुणः कोऽपि न चात्र तस्य ॥ ३५ ॥

अर्थ—जीव है सो अनंतकाल ताईं नीचजातिकौं पाय करि एक-काल उच्चजातिकौं प्राप्त होय है, आचार्य कहै हैं, बडे खेदकी बात है तो भी जीव अनंत जातिनकौं प्राप्त होय है। बहुरि ताजीवकै इहां ऊंचा गुण कोई भी न देखिए है।

[illegible] है, [illegible] और [illegible] करना [illegible] किया जाता ॥ २५ ॥

इन्द्रान् दीनान् च हि न केषां
[illegible] को [illegible] इन्द्रियार्थी ।
इन्द्रो च [illegible] दृष्टिः
न [illegible] ॥ २६ ॥

अर्थ—[illegible] है, [illegible] और है [illegible] है [illegible] ॥ २६ ॥

इष्टोऽपि मोहे ज्वमवेक्षमाणो
मोहस्य दुःखं न बिभेति योग्य ।
मोघोऽपि पश्यति यः स्वमुखं
स मोहमुखस्य न किं प्रयाति ॥ २७ ॥
उदारवर्णाभ्यवविकल्प एव
विकल्प्यमानः सुखदुःखकारी ।
उदारवर्णाश्रयमर्थो न यान्ति-
इदानि दुःखानि सुखानि जातु ॥ २८ ॥

अर्थ—[illegible] है सो भी आपको [illegible] देखना [illegible] सोचके [illegible] दुःखको न प्राप्त होय है, [illegible] है । यदि [illegible] है सो भी [illegible] देखना [illegible] उपमा पुण्यके सुखको न पावे है, [illegible] ही है ॥ २७ ॥ पर उपमा [illegible] विकल्प है सो कल्पना -

भया संता दुःख करनेवाला है। बहुरि ऊंचपना नीचपना भयी जाां है सो सुखनिकौं वा दुःखनिकौं कदाचित् न देय है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—कोऊ पुरुष औरनतैं आप वडा है सो आपतैं वडेकं देखि आपको दुखी मानै है। बहुरि कोई पुरुष औरनितैं छोटा है सं भी आप तैं छोटेनिकौं देखि आपको वडा मान सुख मानै है। तातैं मोही जीवकी मिथ्या माननेमैं सुख दुःख हैं किछू बाह्य जाति आदि सुख दुःखका कारन नाहीं। ऐसा जानि जात्यादिकका गर्व न करना ऐसा इहां प्रयोजन जानना ॥ ३७–३८

हिनस्ति धर्मं लभते न सौख्यं
कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी।
उपैति कष्टं सिकतानिपीडी
फलं न किंचिज्जननिन्दनीयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—ऊंचपनेका निदान करनेवाला कुबुद्धि पुरुष है सो धर्मका नाश करै है अर सुखकौं न पावै है, इहां दृष्टांत कहै हैं, जैसैं लोकविषैं निंदनीक मूर्ख पुरुष बालू रेतका पेलनेवाला कष्टकौं प्राप्त होय है अर किछू फलकौं नहीं प्राप्त होय है तैसैं।

भावार्थ—निदान कीयें सुख न मिलै है, जातैं सुख तौ पुण्योदयकै आधीन है, अर पुण्यकै आदायतैं पुण्य होय नाहीं तातैं जैसैं बालू रेत पेलै किछू तेल न कढै उलटा कष्ट होय है तैसा निदान भी जानना ॥ ३९ ॥

यशांसि नश्यंति समानवृत्ते-
र्मदातुरस्येव गुणानि मद्यः।
विवर्द्धते तस्य जनापवादो
विशाङ्कलस्येव मनोविमोहः ॥ ४० ॥

अर्थ—[illegible] प्राप्त होय है [illegible] है [illegible] गुण प्राप्त होय है । [illegible] होय है [illegible] ॥ ४० ॥

गुणान्वितेनैव गुणानुरागि-
   [illegible] विवर्धते [illegible] ।
मेघागमेन विवर्धते हीनो
   [illegible] ॥ ४१ ॥

अर्थ—जैसे [illegible] गुणवंत [illegible] प्राप्त होय है [illegible] प्राप्त होय है । [illegible] हीन है [illegible] होय है, ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

कृता गुणा सर्वजनः समस्ता भवंति येषां यमसंयमाद्याः ।
प्रशस्यमाना विविधा विचित्राः किमुच्यते भूमिगताः फलंति ॥४२॥

अर्थ—[illegible] गुण [illegible] नियम [illegible] इत्यादि पवित्र गुण हैं [illegible] होय है । [illegible] है, उत्तम भूमिविषै [illegible] है, अपि तु [illegible] है ॥ ४२ ॥

न जातु मानेन निहन्ति मित्रं करोति दोषं परिपीड्य मित्रं ।
प्रलापवादे न विलोक्यमानो विषेण वृष्टिं वितनोति कोऽपि ।४३

अर्थ—या प्रकार मानके नानाप्रकार दोषकौं विचारिकै मानसहित निदानकौं कदाच भी न करैहै। जैसैं प्राणके नाशकौं देखता पुरुष कोई भी विषकौं तृप्तिकौं न विचारैहै तैसैं ॥ ४३ ॥

यो पालकत्वादि निदानमज्ञः करोति कृत्वा चरणं विचित्रं ।
हि पर्द्धयित्वा फलदानदक्षं स चंदनं भस्मयते वराकः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो नाना प्रकार चारित्रकौं करकै भर अज्ञानी पालकपना आदिका निदान करैहै सो पापरूप पुरुष फलदेनेमैं प्रवीण ऐसा जो चंदन वन ताहि बढ़ाय करि भस्म करैहै ।

भावार्थ—जो चारित्रधारी होयकरकै ऐसा मानै आदिका निदान करैहै सो चारित्र का नाश करैहै अनंतसंसारी होयहै ऐसा जानना ॥ ४४ ॥

यः संयमं दुष्करमादधानो
भोगादिकांक्षां वितनोति मूढः ।
कंठे शिलामेव निधाय गुर्वी
विगाहते तोय मगाध मध्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो मूढ [illegible] संयमको धारता संता भोगादिककी [illegible] करैहै सो [illegible] बड़ी शिलाकौं कंठविषै बांधि [illegible] ॥ ४५ ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ४६ ॥

अर्थ—[illegible]
[illegible]

करणा योग्य नाहीं, जैसें करैंहैं औषधकी इच्छा जिननें अर जान्यांहै अपथ्यका दोष जिननें ऐसे सज्जनहैं ते अपथ्यका सेवन न करैंहैं।

भावार्थ—संसाररोगको औषध चारित्रहै अर निदान संसाररोग बढावनेवाला कुपथ्यहै। जे चारित्रधारी हैं अर निदानकौं बुरा जानेंहै ते निदान न करैंहैं, ऐसा जानना ॥ ४६ ॥

ऐसा निदानशल्यका वर्णन किया। आगैं मायाशल्यका वर्णन करैंहैं;—

आयासविश्वासनिराशशोक-
द्वेषायशाद्भ्रमवैरभेदाः।
भवंति यस्यामवनाविवागाः
सा कस्य माया न करोति कष्टम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जैसें भूमिमें वृक्ष होय तैसें प्रयास अर विश्वासका अभाव अर शोक अर द्वेष अर कष्ट अर भ्रम अर वैर इत्यादि भेद हैं ते जिस मायाविषैं होयहैं सो कौनकै कष्ट न करै, सर्वहीकै करै ॥ ४७ ॥

स्वल्पापि सर्वाणि निषेव्यमाणा
सत्यानि माया क्षणतः क्षिणोति।
नाल्पा शिखा किं दहतींधनानि
प्रवेशिता चित्ररुचेश्चितानि ॥ ४८ ॥

अर्थ—थोडी भी सेई भई माया क्षणमात्र में सर्व सत्यका नाश करैहै। इहां दृष्टांत करैहैं;—अग्निकी अल्पशिखा प्रवेश करी भई बहुत संचय रूप ईंधनकौं नाहीं दहैहै? दहैहैहै ॥ ४८ ॥

निकर्त्तितुं वृत्तवनं कुठारी
संसारवृक्षं सवितुं धरित्री।

बोधप्रभाध्वंसयितुं त्रियामा
मायाा त्रिवर्ज्या कुशलेन दूरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—प्रवीण पुरुष करि माया दूर त्यागनी योग्य है, कैसी है माया चारित्रवनके काटनेकौं कुल्हाडीसमान है, अर संसार रूप वृक्षके उपजावनेकौं पृथ्वीसमान है, अर ज्ञानरूप प्रभाप्रकाश के नाशनेकौं रात्रिसमान है। ऐसा जानना ॥ ४९ ॥

हिनस्ति मैत्रीं वितनोत्यमैत्रीं
तनोति पापं वितनोति धर्मम्।
पुष्णाति दुःखं विधुनोति सौख्यं
न वंचना किं कुरुते विनिंद्यम् ॥ ५० ॥

अर्थ—माया है सो मैत्री कहिए प्रीति ताका नाश करै है अर अप्रीतिकौं विस्तारै है, पापकौं विस्तारै है अर धर्मका विध्वंस करै है, दुःखकौं पुष्ट करै है अर सुखका अभाव करै है। बहुरि सो माया कौन निंदने योग्य है ताहि न करै है, सर्व ही करै है ॥ ५० ॥

ऐसे मायाका वर्णन किया। आगैं मिथ्यात्व शल्यका वर्णन करै है;

न बुध्यते तत्त्वमतत्त्वमग्नो
विमोह्यमानो रभसेन येन।
सेवंति मिथ्यात्वमिदं पटिष्ठाः
सदा विभेदं बहुदुःखदायि ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस मिथ्यादर्शन करि जबरदस्ती अचेत भया जीव है सो तत्त्व अतत्त्वकौं न जानै है जिस बहुत भेदरूप मिथ्यादर्शनकौं सेवन करै हैं ते पावै है, ऐसा है मिथ्यादर्शन बहुत दुःखका देनेवाला है, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

आगैं मिथ्यात्वके और भेदनि का वर्णन करै हैं।

वदन्ति केचित् सुखदुःखहेतु-
र्न विद्यते कर्म शरीरभाजाम् ।
प्रमाणतो नास्तिविनिश्चयस्य हाने-
र्नास्त्यपेक्षस्य न चास्ति सिद्धिः ॥ ५२ ॥

अर्थ—कोई कहै है—जीवनिकै, सुख दुःखका कारण कर्म नाहीं है, जातैं तिस कर्म विषै लक्षण प्रमाणनिकी हानि है, बहुरि प्रमाण बिनाकी सिद्धि नाहीं।

भावार्थ—कोई कहै है सुख दुःखका कारण कर्म नाहीं जातैं कर्म इंद्रियनिकै गोचर नाहीं अर याका लिंग कोऊ दीखै नाहीं, बहुरि कर्म-समान और पदार्थ दीखै नाहीं, बहुरि कर्म बिना न होय ऐसे पदार्थकी अप्राप्ति है, बहुरि हमारे आगममैं भी कर्मका अभाव कह्या है; ऐसे सर्व प्रमाणकै अगोचर है। बहुरि जो प्रमाणमैं न आवै सो वस्तु नाहीं, तातैं कर्म नाहीं है ॥ ५२ ॥

बहुरि ऐसे कहै है;—

सत्वेऽपि कर्तुं न सुखादिकार्यं
शक्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात् ।
प्रवर्तमानाः स्वयमेव दृष्टाः
विचेतनाः क्वापि यथा न कार्ये ॥ ५३ ॥

अर्थ—जीवनिकै सुखादिकार्यकैं दूर करनेकी वा कर्मकै शक्ति नाहीं, जातैं कर्मकैं अचेतनपनाहै। जैसे कोई कार्यविषै अचेतनपदार्थकौं स्वयमेव प्रवर्तते न देखे।

भावार्थ—जीवकै सुख ज्ञानादि घात करनेकौं कर्म समर्थ नाहीं जातैं आप अचेतन है। लोकमैं अचेतन पदार्थ कार्य करते न देखेहैं, ऐसा तातैं कर्मका अभाव भाख्या ॥ ५३ ॥

आगे आगमकूं कहै हैं ।

> एता महामोहपिशाचगृहीता
> नैं युज्यते [illegible]
> प्रमाणमस्माक मतागमाने
> मनोऽस्य सिद्धानुमानमस्ति ॥ ५४ ॥

अर्थ—महा मोहरूप पिशाचके वशीभूत जे मिथ्याती तिनकी कही यह वाणी युक्त नाही, जातै इन वचनकी सिद्धिविषै हमारे प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण है ॥ ५४ ॥

आगैं सो ही अनुमान दिखावै है ।

> रागद्वेषमदमत्सरशोक-
> क्रोधलोभभयमन्मथमोहाः ।
> सर्वजन्तुनिवहैरनुभूताः
> कर्मणा किमु भवंति विनैते ॥ ५५ ॥

अर्थ—सर्व जीवनिके समूहनि करि अनुभवरूप किए ऐसे जे रागद्वेष मद मत्सर शोक क्रोधलोभ भय काम मोह इत्यादि विभावभावहैं ते कर्म विना ये कैसे होय ।

भावार्थ—संसारी जीवनिके कर्म बंधहै जातैं कर्मनिके उदयका कार्य जो रागादिभावहै ते सर्व जीवनि करि स्वसंवेदन प्रत्यक्षकरि जानिए है, कर्मोदयविना रागादिक कैसैं होय; जाकै कर्म बंध नाहीं सो रागादि सहित नाहीं जैसैं मुक्तजीव । इहां कार्यलिंगतैं अनुमान कियाहै ॥ ५५ ॥

आगैं फेर आशंकाका उत्तर कहैं,—

> ते जीवजन्याः प्रभवंति नूनं
> नैवापि भावा खलु युक्तियुक्ता ।

नित्यप्रसक्तिः कथमन्यथैषां
संपद्यमाना प्रतिषेधनीया ॥ ५६ ॥

अर्थ—वादी कहैहै कि ते रागादिभाव जीवहीतैं उपजैहैं; ताकै आचार्य कहैहैं—कि ऐसा वाणी निश्चयकरि युक्त नाहीं, जातै जो रागादि जीवहीतैं उपजे होय तो इन रागादिकनिकी नित्यसंबंधता आ... सो कैसैं निषेध करने योग्य होय।

भावार्थ—रागादि भाव आत्माके स्वभाव होय तौ स्वभावका अभाव होनेतैं सर्व अवस्थामें रहे चाहिए तब जीवकै मोक्ष कैसैं होय, तातैं रागादिकहै ते कर्मोदयके निमित्त विना न होयहै, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

आगैं फेर कहैहैं;—

नित्येजीवे सर्वदा विद्यमाने
कादाचित्का हेतुना केन संति।
निर्मुक्तानां जायमाना निषेद्धुं
ते शक्यंते केन मुक्तिश्च तेभ्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—सदाकाल विद्यमान जो नित्य जीव ता विषैं कही होय कही न होय ऐसे कदाच होनेवाले जे रागादिक ते कौन कारणकरि होयहैं, अर मुक्त जीवनिकै उत्पन्न भए जे रागादिक ते काहे करि निषेधनेकौं समर्थ हूजिए अर तिनतैं मुक्ति काहेकरि होय।

भावार्थ—जैसैं स्फटिकमणि निर्मल सो सदा है तामैं काला पीला आदिजैसा डांक लगै तैसा परिणमैं सो परिणमन कदाचित् होयहै तातैं ताकौं कदाचित्क कहिए आत्मा सो नित्यहै ताकै मोहादि कर्मका निमित्त मिलै रागादिरूप परिणमन होयहै सो कादचित्कहै, अर जे रागादि कर्म निमित्तविना होय तो रागादिक नित्यस्वभाव ठहरै तब

तिनका मुक्तजीवकैंभी अभाव कैसैं होय अर तिनतैं कैसैं छूटै, तातैं कर्मका अस्तित्व मानना योग्यहै ॥ ५७ ॥

आगैं फेर कहैंहैं;—

तुल्यप्रतापोद्य मसाहसानां
केचिल्लभंते निजकार्य सिद्धिम्।
परे न तामत्र निगद्यतां मे
कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥ ५८ ॥

अर्थ—समान है प्रताप अर उद्यम जिनके ऐसे पुरुषनिकै मध्य केई पुरुष अपने कार्यकी सिद्धिकौं पावैं हैं, बहुरि और केई ता कार्य-की सिद्धिकौं न पावै हैं; सो इहां कर्मसिवाय और कोई भी कारण होय तौ मोसैं कहि ।

भावार्थ—समान पुरुष समान उद्यम करै तहां कोईकै सिद्धि होय कोई कै न होय सो इहां कर्मसिवाय और कारण नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

आगैं फेर कहै हैं;—

विचित्रदेहाकृति वर्णगंध-
प्रभावजातिप्रभवस्वभावाः।
केन क्रियंतेभुवनेंगिवर्गा-
श्चिरंतनं कर्म निरस्य चित्राः ॥ ५९ ॥

अर्थ—लोकविषैं नानाप्रकार शरीर वर्ण गंध वीर्य जाति इनके उपजावने रूप है स्वभाव जिनके ऐसे जे अनेकजीवनिके समूह ते पहला पुरातन कर्मबिना कौन करि करिए है ।

भावार्थ—पहला कर्म न होय तो आगामी नाना शरीर काहे तैं उपजैं, तातैं प्राचीन कर्म मानना योग्य है ॥ ५९ ॥

विवर्द्धयेँ मासानव गर्भमध्ये
बहुप्रकारैः कलिलादिभावैः ।
उद्धर्त्य निष्कासयते सवित्र्या
को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ॥ ६० ॥

अर्थ—गर्भविषैं नव मास ताईं नानाप्रकार रुधिरादि भावनि करि बढायकै अर पलटकै माताके गर्भ तैं पूर्व कर्मविना कौन निकासै है।

भावार्थ—पहला कर्म न होय तो गर्भ मैं वृद्धि होना अर मुख पलटकै गर्भ तैं निकासना इत्यादि कार्य कैसैं होय, तातैं पूर्व कर्म अवश्य मानना ॥ ६० ॥

आगैं वादीनैं कही थी कि कर्म अचेतन है सो कार्य कैसैं करै ताका उत्तर करै है;—

विलोकमानाः स्वयमेव शक्तिं
विकारहेतुं विषमद्यजाताम् ।
अचेतनं कर्म करोति कार्यं
कथं वदंतीति कथं विदग्धाः ॥ ६१ ॥

अर्थ—विष वा मदिरा इन अचेतननितैं उपजी जो विकारकी कारण शक्ति ताहि आपही देखते सैते चतुर पुरुष हैं ते " अचेतन जो कर्म सो कार्यकौं कैसैं करै है " ऐसी कैसैं कहै है।

भावार्थ—मदिरादि अचेतन वस्तु है सो जैसें गहलपना उपजावै है तैसैं कर्म भी अचेतन है सो अपना कार्य करै है, यामैं दोषा कहा, प्रत्यक्ष अचेतनका कार्य देखिए है ॥ ६१ ॥

आगैं फेर कहै हैं;—

नानाप्रकारा भुवि वृक्षजाती-
र्विधूय पत्राणि पुरातनानि ।

अचेतनः किं न करोति कालः
प्रत्यग्रपुष्पप्रसवादिरम्याः ॥ ६२ ॥

अर्थ—पृथ्वीविषैं अचेतन जो काल है सो नानाप्रकार वृक्षकी जो जाति ताहि पुरानें पत्रनकौं झड़ाय करि नवीन पुष्प पत्रादिकनि करि मनोहर कहा न करै है ? करै ही है।

भावार्थ—जैसैं अचेतनकाल है सो वृक्षनिके पहले पत्र झड़ाय नवीन पत्रादि करै है तैसैं अचेतन कर्म भी अपना कार्य करै है, ऐसा जानना ॥ ६२ ॥

आगैं फेर कहैं हैं;—

यैर्निःशेषं चेतनामुक्तमुक्तं
कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधैः ॥
धर्माधर्माकाशकालादि सर्वं
द्रव्यं तेषां निष्फलत्वं प्रयाति ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिन पुरुषनि करि चेतनारहित अचेतन द्रव्य है सो सर्वथा कार्यका करनेवाला नाहीं ऐसा कह्या तिनकै धर्म अधर्म आकाश काल आदि सर्व द्रव्य निष्फलपनेकौं प्राप्त होय हैं, कैसे हैं ते पुरुष नष्ट भया है कार्यका ज्ञान जिनकै।

भावार्थ—जे सर्वथा अचेतनकौं कार्यका करनेवाला न मानें हैं तिनकैं धर्मादि द्रव्य अचेतन हैं ते निष्फल ठहरैं तातैं तिनकैं कार्य कारणपने का ज्ञान नाहीं। यद्यपि धर्मादि द्रव्य प्रेरक कर्त्ता नाहीं तथापि निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र परस्पर कार्य कारणपना है, सो स्याद्वाद तैं अविरोध सधै है ॥ ६३ ॥

आगैं कोऊ कहैकि अमूर्त्त जीवकै मूर्तीक कर्म नहीं बंधै है, ताका समाधान करै हैं;—

जीवैरमूर्तैः सह कर्म मूर्तं
संबध्यते नेति वचो न वाच्यम्।
अनादिभूतं हि जिनेन्द्रचन्द्राः
कर्मांगिसंबंध मुदाहरंति ॥ ६४ ॥

अर्थ—अमूर्तीक जीवनि सहित मूर्तीक कर्म न बंधैहै ऐसा कहना योग्य नाहीं; जातै जिनेंद्रचंद्रहै ते कर्म अर जीवनिका अनादितैं संबंध कहैहैं।

भावार्थ—जीव कर्मका अनादि संबंधहै सो अनादिस्वभावमें तर्क नाहीं, ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

आगैं इस कथनको संकोचैं हैं।

इत्यादि मिथ्यात्वमनेकभेदं
यथार्थतत्वप्रतिपत्तिमुदि।
विवर्जनीयं त्रिविधेन सद्भि-
र्जिनं मतं रत्नमिवाथयद्भिः ॥ ६५ ॥

अर्थ—ऐसा करि इत्यादिक मिथ्यात्व नानाप्रकार यथार्थ तत्वज्ञानका नाश करनेवालाहै सो मन वचनकायकरि त्यागना योग्यहै कैसेहैं सत्पुरुष जिन भगवानके मतकौं रत्नकी ज्यौं सेवैहैं ॥ ६५ ॥

आगैं एकादश प्रतिमानका वर्णन करैं हैं।

एकादशोक्ता विदितार्थतत्वै-
रुपासकाचारविधेर्विभेदाः।
पवित्रमारोढुमनन्यलभ्यं
सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जानेहैं पदार्थनिके स्वरूप जिननें ऐसे अर्हंतादिकनि करि श्रावकके आचारकी विधिके भेद ग्यारह कहेहैं, ते भेद पवित्र मोक्ष

महलके चढनेकौं सिवाणके मार्ग समानहै, कैसाहै मोक्षमहल अन्य सामान्य जनकरि नाहीं पावने योग्यहै, ऐसा जानना ॥ ६६ ॥

आगैं ग्यारह प्रतिमानमैं प्रथम दर्शनप्रतिमाकौं कहैहैं;—

यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्तः
पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम् ।
गुणावनद्धां हृदये निधत्ते
स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि ॥ ६७ ॥

अर्थ—नाहीहै और ठिकाने चित्त जाका ऐसा जो पुरुष पवित्र अर गोल हारकी लडीसमान निर्मलदृष्टिकौं हृदयमैं धारैहै सो दर्शनसहित पुरुष अतिशयकरि धन्य कह्याहै, कैसी है हारकी लडी गुण जे डोर तिनकरि बंधीहै, अर निर्मल दृष्टि वात्सल्य आदि गुण कर बंधी है ऐसा जानना ॥ ६७ ॥

आगैं व्रतप्रतिमाकौं कहैहैं;—

विभूषणानीव दधाति धीरो
व्रतानि यः सर्वसुखाकराणि ।
आक्रष्टुमीशानि पवित्रलक्ष्मीं
तं वर्णयंते व्रतिनं वरिष्ठाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—सर्व सुखनिके स्थान जे बारह व्रत तिनहि जो आभूषणनिकी ज्यों धारैहै ता पुरुषकौं आचार्य व्रती कहैहैं, कैसेहैं बारह व्रत पवित्रलक्ष्मी जो स्वर्गमोक्षकी लक्ष्मी ताके प्राप्तकरनेकौं समर्थहैं, ऐसा जानना ॥ ६८ ॥

आगैं सामायिकप्रतिमाकौं कहैहैं;—

रौद्रार्तमुक्तो भवदुःखमोची
निरस्तनिःशेषकषायदोषः ।

सामायिकं यः कुरुते त्रिकाले
सामायिकव्रतः कथितः स सद्भिः ॥ ६९ ॥

अर्थ—जाके मैत्री आदि भावनानि करि सहित अर समताभाव दुःखनिकरि व्याकुलतारूप जो चलितपना ताकरि रहित जो तीनूं कालविषै सामायिक करै ऐसा जो पुरुष सो सत्पुरुषनि करि सामायिक प्रतिमाधारी कह्या है ॥ ६९ ॥

आगे प्रोषधप्रतिमाको कहै है,—

नेन्द्रियार्थे सुखाभिलाषः
करोति यः पर्वचतुष्टयेऽपि ।
सदोपवासं परकर्म मुक्त्वा
सः प्रोषधी शुद्धधियामभीष्टः ॥ ७० ॥

अर्थ—नाहीं है इंद्रिय विषय जनित सुखकी अभिलाषा जाकै ऐसा जो पुरुष पर्वचतुष्टय कहिये एक मासमें दोय अष्टमी दोय चतुर्दशी इन च्यारनि विषै आरंभ छोड़करि निश्चयकरि सदा उपवास करै है सो प्रोषधप्रतिमाधारी शुद्धबुद्धीनके अभीष्ट कहिये है ॥ ७० ॥

आगे सचित्तत्यागप्रतिमाको कहै है।—

दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी
न वल्भते किंचन यः सचित्तम् ।
अनन्यसाधारणधर्मपोषी
सचित्तमोषी स कषायमोषी ॥ ७१ ॥

अर्थ—दयाकरि भीज्या है चित्त जाका अर जिनेंद्रके वचननिका जाननेवाला ऐसा जो पुरुष कछुभी सचित्तकों न खायहै सो और के समान नाहीं ऐसे असाधारण धर्मका पुष्ट करनेवाला कषायरहित सचित्तत्यागी कह्या है ॥ ७१ ॥

आगैं रात्रिभोजनका त्याग वा दिनमें अब्रह्मत्याग प्रतिमाकौं कहैहैं;—

निषेवते यो दिवसे न नारी-
मुद्दामकंदर्पमदापसारी।
कटाक्षविक्षेपशरीरविद्धो
सुधीर्दिन ब्रह्मचरः स बुद्धः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तीव्र कामके मदका दूर करनेवाला दिवसविषैं नारीकौं न सेवैहै, सो पंडितनि करि स्त्रीकटाक्षका चलावनारूप बाणनि करि नाहीं वींध्या दिनविषैं ब्रह्मचारी कह्याहै। दिनविषैं तो स्त्रीका न सेवना सो दिनब्रह्मचारीहै वा यह रात्रिभोजनकाभी त्यागीहै, तातैं याहीका नाम रात्रिभोजन त्यागी भी कह्याहै; ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

आगैं ब्रह्मचर्यप्रतिमाकौं कहैंहैं.—

यो मन्यमानो गुणरत्नचौरीं
विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम्।
पवित्र चारित्रपदानुसारी
स ब्रम्हचारी विषयापहारी ॥ ७३ ॥

अर्थ—जे विरक्त पुरुष स्त्री कौ मन वचन काय करि गुणरत्नकौ चोरनेवाली मानता संता पवित्र चारित्रके पदका अनुसारी विषयनका त्यागी सो ब्रह्मचारी कह्या है ॥ ७३ ॥

आगैं आरंभ त्याग प्रतिमाकौं कहै हैं;—

विलोक्य पड्जीवविघातपूर्व-
रारंभमत्यस्यति यो विवेकी।
आरंभमुक्तः स मतो मुनीन्द्रै-
र्विरागिकः संयमवृक्षसेकी ॥ ७४ ॥

अर्थ—अतिशयकरि षट्कायिक जीवनिका घात देखकै जो विवेकी आरंभकौं त्यागै है सो मुनींद्रनिकरि आरंभ रहित कह्या है, कैसा है सो विरागी संयमवृक्षका सींचनेवाला है ॥ ७४ ॥

आगैं परिग्रह त्याग प्रतिमाकौं कहैं हैं;—

यो रक्षणोपार्जननश्वरत्वै-
र्ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि ।
विमुच्यते येनपरिग्रहोऽसौ
गीतोऽपसंगैरपरिग्रहोऽसौ ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो परिग्रह रक्षा करणा उपार्जन करणा विनसना दुःखतैं उतरे जाय ऐसे दुःखनिकौं देय है, ऐसा यहु परिग्रह जाकरि त्यागिए सो यहु परिग्रह रहित जे मुनींद्र तिन करि अपरिग्रह कह्या है ॥७५॥

आगैं अनुमति त्याग प्रतिमाकौं कहैं हैं;—

आरंभसंदर्भ विहीनचित्तः
कार्येषु मारीमिव हिंसरूपाम् ।
यो धर्मसतानुमतिं न दत्ते
निगद्यते सोऽननु मंतुमुख्यः ॥ ७६ ॥

अर्थ—आरंभकी रचना करि हीन है चित्त जाका अर धर्मका अनुमोदन करनेवाला ऐसा जो पुरुष पापकार्यनिविषै हिंसकरूप मारी समान जो अनुमति कहिए सलाह ताहि न देवै सो नाहीं अनुमति करनेवालेनि मैं प्रधान कहिए है ।

भावार्थ—पापकर्मकी अनुमोदनाका त्यागकरै सो अनुमतित्यागी दशमप्रतिमा धारी कहिए, ऐसा जानना ॥ ७६ ॥

आगैं उद्दिष्टत्याग प्रतिमाकौं कहैहैं;—

यो बंधुराबंधुरतुल्यचित्तो
गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम्।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो
विभीलुकः संसृति मातुधान्याः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो पुरुष भले बुरे आहारमैं समानहै चित्त जाका ऐसा जो पुरुष नवकोटिशुद्ध कहिए मन वचनकाय करि करया नाहीं कराया नाहीं करे हुएकौं अनुमोद्या नाहीं ऐसे आहारकौं ग्रहण करैहै सो उद्दिष्टत्यागी गुणवंतनिनैं कह्याहै, कैसाहै सो संसाररूप राक्षसीतैं विशेषभयभीत है ॥ ७७ ॥

ऐसैं ग्यारह प्रतिमाका वर्णन किया। इहां संक्षेप ऐसाहै, जो मिथ्यात्व अर अनंतानुबंधी कषाय इनके उदयका अभाव तैं सम्यग्दर्शन होतैंही भया, बहुरि अप्रत्याख्यानावरणके उदयके अभावतैं देशविरतनामा पंचम गुणस्थान होयहै ताकै दर्शन प्रतिमामैं लगाय ऊपर ऊपर विशुद्धताकी अधिकतातैं ग्यारह भेद कहेहैं सम्यक्त्वसहित बारह व्रतनिहीकी ऊपर ऊपर निर्मलता होती जायहै, ऐसा जानना। इहां कोऊ कहैकि देशव्रतका घातक जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय ताके उदयका तो अभाव भया अब हीनअधिक विशुद्धिता किस कर्मके उदयतैं होयहै—ताका उत्तर;—यद्यपि इहां अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नाहीं तथापि प्रत्याख्यानावरणकषायके मंद तीव्र उदयतैं हीन अधिक विशुद्धिता होयहै जैसैं प्रत्याख्यान कषायका अभाव होतैं षष्टमादि गुणस्थानमैं हीनाधिक विशुद्धता संज्वलनके तीव्रमंद उदयतैं होयहै तैसैं, ऐसा जानना ॥ ७७ ॥

क्रमेणापूर्वेति निदधाति मुदंकादश गुणा-
नलं निंदा गर्हानिहितमनसो येऽस्ततमसः।

भयान् द्विशान् भ्रांत्वाऽमरमनुजयोर्भूरिमहसो-
विधूतैनोबंधाः परमपदवीं यांति सुखदाम् ॥७८॥

अर्थ—दूर भयाहै अज्ञान अंधकार जिनका, बहुरि निंदा गर्हा विषैं लगाया है मन जिननैं ऐसे पुरुष अतिशय करि हर्षसहित इन पूर्वोक्त ग्यारह गुणनकौं चित्तविषैं धारैं हैं ते पुरुष बडे हैं तेज जिनके ऐसे देव मनुष्यनिविषै दोय तीन भव भ्रमण करि बहुरि नाश कियेहै पापबंध जिननैं ऐसे ते सुखकी देने वाली परमपदवी जो मुक्ति ताहि प्राप्त होयहैं।

भावार्थ—जे सम्यग्दृष्टी ग्यारह प्रतिमाकौ धारैं हैं। आपकी निंदा गर्हा करैं हैं ते दो तीन भव देवादिकके सुख भोगकै सिद्ध होयहैं, ऐसा जानना ॥ ७८ ॥

इदं धत्ते भक्त्या गृहिजनहितं योऽत्र चरितं
मदक्रोधायासप्रमदमदनारंभमकरम्।
भवांभोधिं तीर्त्वाजननमरणावर्त्तनिचितं
प्रजत्येषोऽध्यात्मामितगतिमतं निर्वृतिपदम्॥७९॥

अर्थ—जोपुरुष इहां भक्तिसहित ये गृहस्थ जनका हितरूप चारित्रकौ धारैहै सो यहु आत्मा ज्ञानी संसार समुद्रकौं तिरके सर्वज्ञदेवकरि कह्या जो शिवपद ताहि प्राप्त होयहै, कैसाहै संसार समुद्र क्रोध खेद हर्ष काम आरंभ येहीहै मगर जाविषै, बहुरिजन्म मरणरूप भौंरनिकरि व्याप्तहै ॥ ७९ ॥

कवित्त छंद।

दर्शन व्रत सामायिक प्रोषध सचित रात्रिभोजन परिहार।
ब्रह्मचर्य आरंभ परिग्रह अनुमतिविरति दसम सुखकार॥

पुनि उद्दिष्टत्याग पडिमा इम धारत जो श्रावक दुखहार।
-सो स्वर्गादि संपदा लहिकैं होय अमितगति पद अविकार

इत्युपासकाचारे सप्तम परिच्छेदः।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं
सप्तम परिच्छेद समाप्त भया।

अथ अष्टम परिच्छेदः ।



आगै छह प्रकार आवश्यकको कहै है —

जिने प्रवचने साधौ सर्वज्ञे सर्वतो मुखम् ।
आवश्यकं मया षोढा संक्षेपेण निगद्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जिनेंद्रको सामायिक करिके चौबीस छह प्रकार आवश्यकको आवश्यक कहिये है, जैसे जिनेंद्र साधौ करिये सर्वसिद्धान्त दीपिका जो ज्ञान ता स्वरूपहि, बहुविस्तारसंक्षेपतारै, यहां सर्व सारकै सुगम कहत भाहै,

भावार्थ—सर्वदर्शि ॥ १ ॥

आगमोऽनंतपर्यायो यतो जैनो व्यवस्थितः ।
अभिधातुं ततः सोऽत्र विस्तरेण न शक्यते ॥ २ ॥

अर्थ —जातै जिनभाषित आगमहै सो अनंतपर्यायरूप तिष्ठै है तातै विस्तारसहित यहांपरि कहनेको समर्थ दूजिये ॥ २ ॥

मनागपि सति ये बान्धाविभावारेषु जंतुषु ।
अनुग्रहोपकारोऽनुपकारो भविष्यति ॥ ३ ॥

अर्थ—नाना प्रकार जीवनिकी होनसनै भी जे कहानीहै तिनका इसके जाननै उपकार होयगा ।

भावार्थ—आगमको अनेकहै सो सर्व कौन कहिसकै परंतु इहां संक्षेपमात्र आवश्यकका स्वरूप कहिएहै, जाके जाने थोरै भी जे मंदज्ञानी है तिनका उपकार होयगा, ऐसा जानना ॥ ३ ॥

संसारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसंकुले ।
रागद्वेषमहानक्रे रौद्रव्याधिझषाकुले ॥ १२ ॥
चिरं वंभ्रम्यमाणानां जिनेंद्रपद वंदना ।
दुरापा जायतेऽत्यर्थमिति यो हृदि मन्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—अनेक जोनि है पाताळ जा विषैं, बहुरि नानाप्रकार गति ही है पत्तन कहिए पुर जा विषै, अर जन्म मृत्यु जरा ही है आवर्त कहिए भौंरे जामैं अर महापापही है जल जा विषैं अर दुःख रूप लहरन करि व्याप्त अर रागद्वेष ही हैं बडे नक्र जा विषैं अर भयानक रोगरूप मच्छनि करि भरया ऐसा जो भयानक संसारसमुद्र ता विषैं बहुत काळतैं अतिशय करि भ्रमते जे जीव तिनकौं जिनेंद्रके चरणनिकी जो वंदना सो अतिशय करि दुर्लभ है ऐसा जो पुरुष हृदय विषैं मानै है ॥ ११–१२–१३ ॥

बहुरि कहै हैं;—

अनर्थकारिणः कांताजननी जनकादयः ।
स्वस्योपकारिणो योऽलं बुध्यते परमेष्ठिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्री माता पितादिकनिकौं अनर्थके करनेवाले मानै है अर आपके उपकार करने वाले पंच परमेष्ठीनकौं मानै है ॥ १४ ॥

बहुरि कैसे हैं;—

सर्वाणि गृहकार्याणि परकार्याणि पश्यति ।
सुदृष्टिर्धर्मकार्याणि निजकार्याणि सर्वदा ॥ १५ ॥
यौवनं जीवितं धिष्ण्यमैश्वर्यं जनपूजितम् ।
नश्वरं वीक्षते सर्वं शारदभ्रमिवानिशम् ॥ १६ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं भवकानने ।
जानीते दुर्लभं भूयो भ्रष्टं रत्नमिवांबुधौ ॥ १७ ॥

मयूरस्येव मेघौघे वियुक्तस्येव बांधवे।
तृषार्तस्येव पानीये विबद्धस्येव मोक्षणे ॥ १८ ॥

सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने।
जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने ॥ १९ ॥

परीषहसहः शांतो जिनसूत्रविशारदः।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः ॥ २० ॥

आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिषूदनम्।
सम्यक्कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता ॥ २१ ॥

अर्थ—बहुरि जो सर्व गृहसंबंधी कार्यनकों परके कार्य मानैहै, अर सुबुद्धी धर्मकार्यनकों सदा अपने कार्य मानैहै ॥ १५ ॥

बहुरि जो यौवनकों जीवनकों घरकों अर लोकमान्य ऐश्वर्यकों सबकों शरदके मेघसमान निरंतर विनाशीक देखैहै ॥ १६ ॥

बहुरि संसारवनमैं दर्शज्ञानचारित्रके त्रितयकौं जैसैं समुद्रविर्षे पड्या रत्न फेर दुर्लभहै तैसैं मानैहै ॥ १७ ॥

बहुरि मेघनके समूहविर्षे मयूरनके हर्ष होय तथा विछुरे पुरुषकै बांधवविर्षे हर्ष होय तथा प्यासकरि पीडित पुरुष कै जलविर्षे हर्ष होय वा बंधेकै छूटनै विर्षे हर्ष होय ॥ १८ ॥

वा रोगसहितकै नीरोगपनेमैं हर्ष होय अंधेकै नेत्र विर्षे हर्ष होय तैसैं जाकै जिनेंद्रके मुख देखने विर्षे हर्ष होयहै ॥ १९ ॥

बहुरि क्षुधादि परीषहनिका सहनेवाला होय शांत होय जिनसूत्रविर्षे प्रवीण होय सम्यग्दृष्टि होय मानरहित होय गुरुभक्त होय प्रियबोलनेवाला होय ॥ २० ॥

सो यद्वुधीर पुरुष सर्व कर्मका नाश करनेवाला जो यह्व आवश्यक ताहि करने योग्य है, और पुरुषकैं आवश्यक करनेकी योग्यता नाहीं; ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगैं फेर कहैहैं;—

> औचित्यवेदकः श्राद्धो विधान करणोद्यतः ।
> कर्मनिर्जरणाकांक्षी स्ववशीकृतमानसः ॥ २२ ॥
> भक्तिको बुद्धिमानर्थी बहुमान परायणः ।
> पठने श्रवणे योग्यो विनयोद्यमभूपितः ॥ २३ ॥

अर्थ—उचितपनेका जाननेवाला होय ।

भावार्थ—यह कालादिक आवश्यकके उचितहै ऐसा जाकै ज्ञान होय, बहुरि श्रद्धावान होय, अर आवश्यकके विधान करनेमैं उद्यमी होय, अर कर्मकी निर्जराका वाछक होय, अर अपने वश कियाहै मन जानैं ऐसा होय ॥ २२ ॥

बहुरि भक्तिमान् होय, बुद्धिमान होय धर्मार्थी होय महाविनयमैं तत्पर होय, अर पढनेविर्षे सुननेविषैं योग्य होय, अर विनयसहित आवश्यकके उद्यम करि भूपित होय ॥ २३ ॥

आगैं फेर कहैहैं;—

> गुणाय जायते शांते जिनेंद्रवचनामृतम् ।
> उपशांतज्वरे पूतं भेपज्यमिव योजितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—रागद्वेपकी मंदतातैं शातभया जो पुरुष ताविषैं जिनेंद्रका वचनामृत गुणके अर्थ होयहै, जैसैं उपशात भयाहै ज्वर जाका ऐसा पुरुषविषैं योजित किया औषध जैसे गुणके अर्थ होय तैसैं ॥ २४ ॥

> अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थहेतवे ।
> यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीपिभिः ॥ २५ ॥

[illegible] होती ।

[illegible] ॥ २५ ॥

[illegible]दातृ[illegible] स्तवं आदत्ते [illegible]नागमम् ।
[illegible] इदं [illegible]वम् ॥ २६ ॥

[illegible]

[illegible] ऐसा जानना ॥२६॥

आगे आवश्यक करनेकी विधि कहैं हैं;—

स्वकाले अवगाहेन निद्रादिवर्जनम् ।
अनुप्रेक्षमनालस्यं नियमस्यपरोदयम् ॥ २७ ॥
कालक्रम स्पृहा[illegible]सुपयोग्यमादरम् ।
विशेषानीति पितानि षडावश्यककारिणः ॥ २८ ॥

अर्थ—[illegible] गुरुके [illegible], और [illegible] गुरुसेवा [illegible], और [illegible], और आलस्यरहितता, और नियमसेवा [illegible] ॥ २७ ॥

और [illegible] इत्यादिक [illegible] ये षट् आवश्यकका करनेवाला जो पुरुष ताके जानने योग्य हैं ॥ २८ ॥

आगे छह आवश्यकके नाम कहैं हैं;—

सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा ।
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढावश्यकमीरितम् ॥ २९ ॥

सो बहुधीर पुरुष सर्व कर्मका नाश करनेवाला जो यह आवश्यक ताहि करने योग्य है, और पुरुषकैं आवश्यक करनेकी योग्यता नाहीं; ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगैं फेर कहैहैं;—

औचित्यवेदकः श्राद्धो विधान करणोद्यतः ।
कर्मनिर्जरणाकांक्षी स्ववशीकृतमानसः ॥ २२ ॥
भक्तिको बुद्धिमानर्थी बहुमान परायणः ।
पठने श्रवणे योग्यो विनयोद्यमभूषितः ॥ २३ ॥

अर्थ—उचितपनेका जाननेवाला होय ।

भावार्थ—यह कालादिक आवश्यकके उचितहै ऐसा जाकै ज्ञान होय, बहुरि श्रद्धावान होय, अर आवश्यकके विधान करनेमैं उद्यमी होय, अर कर्मकी निर्जराका वांछक होय, अर अपने वश कियाहै मन जानैं ऐसा होय ॥ २२ ॥

बहुरि भक्तिमान् होय, बुद्धिमान होय धर्मार्थी होय महाविनयमैं तत्पर होय, अर पढनेविषैं सुननेविषैं योग्य होय, अर विनयसहित आवश्यककै उद्यम करि भूषित होय ॥ २३ ॥

आगैं फेर कहैहैं;—

गुणाय जायते शांति जिनेंद्रवचनामृतम् ।
उपशांतज्वरे पुंसं भैषज्यमिव योजितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—शांतरूपकी मदनातैं शांतभया जो पुरुष ताविषै जिनेंद्रका वचनामृत गुणकैं अर्थ होयहै, जैसे उपशांत भयाहै ज्वर जाका ऐसा पुरुष विषैं योजित किया औषध जैसैं गुणके अर्थ होय तैसैं ॥ २४ ॥

अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थहेतवे ।
यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अर्थ [illegible] जिनेंद्रका वचन कल्पांतहिं होवै।

भावार्थ—मिथ्या[illegible] जिन वचनका प्रयोजन न जानि उच्छा स्थापन पर्वति अपना विचार [illegible] ताते दीर्घसंसारी [illegible] होत होवै॥ २५॥

कषायाद्[illegible] स्वयं जायते जिनशासनम्।
सन्निपात[illegible]ग्रहाविष्टे दत्तं पथ्यमिवौषधम्॥ २६॥

अर्थ—[illegible] कषायकरि आकुलित पुरुषविषै जिनशासन निरर्थक होवै, जैसे [illegible] सन्निपात ग्रसित पुरुषविषै दिया हितकारी औषध व्यर्थ होय तैसे।

[illegible]—तीव्रकषायीको जिन वचन न रुचै, ऐसा जानना॥२६॥

[illegible] श्रोताके गुण कहैं हैं:—

मन्दता श्रवणानां निद्राधवच्चर्जनम्।
अलुब्धत्वमनालस्यं निषद्मंस्पर्शोहनम्॥ २७॥
कालक्रम व्युत्क्रमित्वमुपशान्तत्वमार्दवम्।
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिणः॥ २८॥

अर्थ—[illegible] मुनिके ही [illegible], अर [illegible] मुनिका त्याग, अर निर्लोभपना, अर आलस्यरहितपना, अर निषद्यका त्याग॥ २७॥

अर कालके उल्लंघनेका त्यागीपना, अर मानरहितपना, इत्यादिक चिह्न ते षट आवश्यकका करनेवाला जो पुरुष ताके जानने [illegible]॥ २८॥

[illegible] छह आवश्यकके नाम कहैं हैं:—

सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा।
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढावश्यक[illegible]॥ २९॥

अर्थ—अयोग्य जे नामादिक कहिए नामस्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव छहौंनकौं आगामी पापके निषेधके अर्थ मन वचन काय करि त्याग करना सो प्रत्याख्यान कह्याहै ।

भावार्थ—आगामी पापका त्याग करनेके अर्थि अयोग्य द्रव्यादिका त्याग करना सो प्रत्याख्यान कहिए ॥ ३५ ॥

आगैं कायोत्सर्गकौं कहैहैं;—

आवश्यकेषु सर्वेषु यथाकालमनाकुलः ।
कायोत्सर्गस्तनूत्सर्गः प्रशस्तध्यानवर्द्धकः ॥ ३६ ॥

अर्थ—सर्व आवश्यक क्रियानिविषैं जितना काल चाहिए तितनी काल आकुलतारहित शरीरविषैं ममत्वका त्याग सो प्रशस्त ध्यानका बढ़ावने वाला कायोत्सर्ग है ।

भावार्थ—सामायिकादि क्रियानिविषैं यथाकाल शरीरसे ममत्व त्या-गना सो कायोत्सर्ग कहिए ॥ ३६ ॥

आगैं आवश्यकक्रियानिविषैं आसनादिकका विधान करै है;—

ज्ञेयास्तत्रासनं स्थानं कालो मुद्रा तनूत्सृतिः ।
नमावर्तप्रमा दोषा षडावश्यककारिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवाले पुरुषनि करि यहां आसन १ स्थान १ काल १ मुद्रा १ कायोत्सर्ग १ प्रणाम १ आवर्त १ प्रमाण दोष इनकी वस्तुता जानना योग्य है ॥३७॥

आगै आसनका वर्णन करै है,—

आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वंदनोद्यतैः ।
तदासनं विबोद्धव्यं देशपद्मासनादिकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—वंदना करनेमें उद्यमी जे पुरुष तिनकरि जाविषैं वा जाकरि आस्यते कहिये स्थिररूप हूजिए सो देश कहिए क्षेत्र अर पद्मासनादिक आसन जानने योग्यहैं। ऐसें आसन शब्दकी निरुक्ति करी ॥ ३८ ॥

आगैं आवश्यक करनेके अयोग्य क्षेत्रनिकौं कहैंहैं;—

> संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपांस्वादिदूषितः।
> विक्षोभको हृषीकाणां रूपगंधरसादिभिः ॥ ३९ ॥
> परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभिः।
> असंबद्धजनालापः सावद्यारंभगर्हितः ॥ ४० ॥
> आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषूदकः।
> योऽशिष्ट जनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—संसक्त कहिये स्त्रीपुरुष नपुंसकादिकनिकी भीड जहां होय बहुरि बहुत छिद्रनिकरि युक्त होय, अर तृण धूलि आदिककरि दूषित होय, बहुरि रूप गंधरस इत्यादिकनि करि इंद्रियनिकौं विशेष क्षोभ करनेवाला होय ॥ ३८ ॥ बहुरि शीत वात देश आताप आदिकरि परीषहका करनेवाला होय, बहुरि असंबद्ध कहिए संबंधरहित निःप्रयोजन मनुष्यनिका जहां वचनालाप होय, बहुरि पापसहित आरंभ करि निंदित होय ॥ ४० ॥ गालो होय, मनकौं अनिष्ट होय, समाधानका नाश करनेवाला होय, अर नीचलोकका जहा संचार होय ऐसा होय ता क्षेत्रकौं त्यागैं ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आवश्यक करनेवाला पूर्वोक्त क्षेत्रकौं चित्तकौं क्षोभकारी जानि परित्याग करै ॥

आगैं आवश्यक योग्य स्थानकौं कहैंहैं;—

> विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्द्धकः।
> देवर्जुदृष्टिसंपातवर्जितो देवदक्षिणः ॥ ४२ ॥

जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः ।
नासन्नो नातिदूरस्थः सर्वोपद्रव वर्जितः ॥ ४३ ॥

अर्थ—एकांत होय, अर प्रासुक होय, सेव्य कहिए प्रवीन के सेवने-योग्य होय, अर समाधानका बढावनेवाला होय, अर देव कहिए जिन-चैत्यादिक तिनकी सूधी दृष्टिके पडनेकरि रहित होय।

भावार्थ—प्रतिमादिकके सन्मुख न होय, अर जिनचैत्यादिकके दाहना होय ॥ ४२ ॥ अर मनुष्यनिके आने जानेकरि रहित होय अर न अतिनिकट न अतिदूर होय, सर्व उपद्रवकरि वर्जित होय, ऐसा निराकुल क्षेत्र ग्रहण करना योग्य है।

भावार्थ—ऐसे क्षेत्रमें सामायिक करै ॥ ४३ ॥

आगें जापै बैठे ताका स्वरूप कहै हैं;—

स्थेयोऽच्छिद्रं सुखस्पर्शं विशब्दकमजंतुकम् ।
तृणकाष्ठादिकं ग्राह्यं विनयस्योपबृंहकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—थिर होय, छिद्ररहित होय, सुखरूप होय स्पर्श जाका ऐसा होय, शब्दरहित होय, जीवरहित होय, वैराग्य का बढावनेवाला होय, ऐसा तृणकाष्ठादिकका आसन ग्रहण करना योग्य है ॥ ४४ ॥

आगें आसनका स्वरूप कहै हैं;—

जंघाया जंघया श्लेषे समभागे प्रकीर्तितम् ।
पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः ॥ ४५ ॥

अर्थ—समभागविषै जंघाकरि जंघाका आश्लेष कहिए मिलाप जिस-विषै होय सो सुखका आधार सबनि करि सुखतैं साधनेयोग्य सो पद्मासन कह्या है ॥ ४५ ॥

बुधैरुपर्यधोभागे जंघयोरुभयोरपि ।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यंकासनमासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जहां दोउ जंघानको उपर कर नीचेमाहीं करै सो पर्यं-कासनतै एकदृश नामका आसन जानने योग्य है ॥ ४६ ॥

ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति ।
वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥ ४७

अर्थ—दोउ चरणनिको ऊरु कहिये जांघ उपरि धरे सो वीरा-सन आसन होयहै । या वीरासनको बहुत काल ताईं धीर पुरुष ही करनेको समर्थहै, कायरपुरुष नहीं; ऐसा जानना ॥ ४७ ॥

पुतपार्ष्णिभवे योगे प्रोक्तमुत्कुटुकासनम् ।
गवासनं जिनैरुक्तमार्याणां यतिवंदने ॥ ४८ ॥

अर्थ—दोउ एडीनके योगमें उत्कुटकासन जानना, बहुरि आर्यिका जब मुनिनकी वंदना करै तब जिनभगवान करि गवासन नामका आसन कह्याहै ॥ ४८ ॥

विनयासनविधाना कृतिकर्मविधायिनाम् ।
न कार्यव्यतिरेकेण परमासनमिष्यते ॥ ४९ ॥

अर्थ—विनयकरि आसन विना जिनका ऐसे जे कृतिकर्म करनेवाले पुरुष तिनको कार्यविना और आसन न कहिएहै ।

भावार्थ—पद्मासन अर कायोत्सर्ग इन आसननिकरिना और आसन किन्हूं कार्यविशेष होयतो करै, कार्यविना दोयही आसन करना योग्यहै, ऐसा जानना ॥ ४९ ॥

ऐसे आसनका वर्णन किया । आगैं स्थानका स्वरूप कहैहैं;—

स्थीयते येन तत् स्थानं द्विःप्रकारमुदाहृतम् ।
वंदना क्रियते यस्मादूर्ध्वीभूयोपविश्य वा ॥ ५० ॥

अर्थ—जा करि स्थिर हूजिए सो स्थान दोय प्रकार कह्याहै जातें वंदना है सो खडेहोयकरि वा बैठकरि करिये है ।

भावार्थ—खडे रहना वा बैठना ऐसा दोय प्रकार स्थान जानना ॥ ५० ॥

आगैं कालका स्वरूप कहैहैं;—

घटिकानां मतं षट्कं संध्यानां त्रितये जिनैः।
कार्यस्यापेक्षया कालः पुनरन्यो निगद्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—संध्यानिका कालत्रय कहिए प्रभात मध्याह्न सायंकाल इन तीनौं संध्यानविषैं छह घडी काल जिनदेवनिनैं आवश्यकका कहिएहै, बहुरि कार्यकी अपेक्षा करि और कहिएहै।

भावार्थ—मुख्य काल तौ छहघडीही काल कह्याहै बहुरि कार्यकी अपेक्षाकरि दोय घडी आदिभी कह्याहै ॥ ५१ ॥

आगैं मुद्राका स्वरूप कहै हैं;—

जिनेंद्रवंदनायोगमुक्ताशुक्तिविभेदतः।
चतुर्विधोदिता मुद्रा मुद्रामार्गविशारदैः ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिनेंद्रमुद्रा १ वंदना मुद्रा १ योगमुद्रा १ मुक्ताशुक्तिमुद्रा १ इन भेदनिकरि मुद्राके मार्गविषैं प्रवीण जे पुरुष तिनकरि च्यार प्रकार मुद्रा कहीहै ॥ ५२ ॥

आगैं जिनमुद्राका स्वरूप कहैहैं;—

जिनमुद्रांतरं कृत्वा पादयोश्चतुरंगुलम्।
ऊर्द्धजानोरवस्थानं प्रलंबितभुजद्वयम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—दोऊ पादनका चार अगुल अतर करिकैं घुटनेके ऊपर स्थित ऐसी लंबायमान दोऊ भुजा जामैं सो जिनमुद्रा जानना ॥५३॥

आगैं वंदनामुद्रका स्वरूप कहैहैं;—

मुकुलीभूतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्।
स्थितस्य वंदना मुद्रा करद्वन्द्वं निवेदितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—मुकुलीभूत कहिए कमलकी डोडीसमान अर फैले उंगली जाविषैं, ऐसें विनती करनेवाला हस्तयुग्मकौं धारिकैं जिनपद जो पुरुष तासैं वंदनामुद्रा कहिहै ॥ ५४ ॥

आगैं योग मुद्राका स्वरूप कहै हैं ।

> जिनाः पद्मासनादीनामंकमध्ये निवेशनम् ।
> उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे ॥ ५५ ॥

अर्थ—ऊंचाहै हथेलीनका मुख जाका ऐसा हस्तयुग्मको पद्मासनादिकनिकी गोदीके मध्यविषैं जो धारना ताहि जिन जे अर्हंतादिक ते योगमुद्रा कहै हैं ॥ ५५ ॥

आगें मुक्ताशुक्तिमुद्राका स्वरूप कहै हैं;—

> मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम् ।
> ऊर्द्धजानोः कर द्वंद्वं संलग्नांगुलि सूरिभिः ॥ ५६ ॥

अर्थ—पेटके उपरै कूर्पर कहिए कुहनी जानिये अर गोडेके उपरैं हस्तयुग्म जाके अर मिले प्रकार लग रहीहैं अंगुली जाकी सो मुक्ताशुक्तिमुद्रा आचार्यनि करि कहिहै ॥५६॥

आगें कायोत्सर्गका स्वरूप कहै हैं;—

> त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सर्गस्तिदाहृता ।
> उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥ ५७ ॥

अर्थ—शरीरके ममत्वका जो त्याग सो कायोत्सर्ग है सो उपविष्टोपविष्टादि भेदकरि च्यार प्रकार कहै हैं ॥ ५७ ॥

तहां प्रथम उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्गकौ कहै हैं,—

> आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
> उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जाविषैं आर्त्त रौद्रध्यान दोनौं बैठ करि चिंतिए सो उ॰ पविष्टनामा कायोत्सर्ग कहिए है।

भावार्थ—जामें जीवके परिणाम या शरीर दोनौं पड़तेंहैं तातें उ॰ विष्टोपविष्ट कह्याहै ॥ ५८ ॥

आगें उपविष्टोत्थित कायोत्सर्गकों कहैंहैं;—

घर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते।
उपविष्टोत्थितां संतस्तां वदंति तनूत्सृतिम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—जाविषैं धर्म अर शुक्ल दोनौं ध्यान बैठकरि चिंतिए ताँ संतजन उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहैंहैं।

भावार्थ—इसमैं शरीर तौ बैठाहै अर परिणाम चढ़तेंहैं, तातें उ॰ विष्टोत्थित कह्याहै ॥ ५९ ॥

आगें उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग कहैंहैं;

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुत्थितोपविष्टाह्वां निगदंति महाधियः ॥ ६० ॥

अर्थ—जाविषैं आर्त्त रौद्र दोनौं ध्यान ठाढ़े होयकरि करिए ताकूं महाबुद्धिपुरुष उत्थितोपविष्ट नाम कायोत्सर्ग कहैहैं।

भावार्थ—जा विषैं परिणाम तो पड़ेहैं अर शरीर ठाढ़ाहै, तातें उत्थितोपविष्ट कह्याहै ॥ ६० ॥

आगें उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहैंहैं;—

धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनामानं तं भाषंते विपश्चितः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जाविषैं धर्म शुक्ल दोनौं ध्यान ठाढ़े होय करी करिए, ताकों [illegible] उत्थित कायोत्सर्ग कहैहैं।

भावार्थ—जा विषैं परिणाम चढतेहैं अर शरीर भी चढ़ै ताते उत्थितोत्थित कह्याहै, ऐसा जानना ॥ ६१ ॥

आगैं प्रणामका स्वरूप कहैहैं;—

एकद्वित्रिचतुः पंचदेहांशप्रनैर्मतः ।
प्रणामः पंचधा देवैः पादानततनरामरैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—एक दोय तीन च्यार पांच जे शरीरके अंग तिनकै नमनतै पांच प्रकार प्रणाम जिनदेवनिनै कह्याहै, जिनदेव कैसेहैं जिनके चरननकौ सर्वतरफतै देव अर मनुष्य नमैहैं ॥ ६२ ॥

एकांगः शिरसो नामे स्यद्व्यंगः करयोर्द्वयोः ।
त्रयाणां मूर्द्धहस्तानां स्यत्र्यंगो नमने मतः ॥ ६३ ॥
चतुर्णां करजानूनां नमने चतुरंगकः ।
करमस्तकजानूनां पंचांगः पंचक्ष नते ॥ ६४ ॥

अर्थ—एक मस्तकहीके नमावने विषैं एकांग नमस्कार कहिए अर दोऊ हाथनके नमावनेमैं द्व्यंग कहिए दोय अंगनि करि नमस्कार कहिए, अर मस्तक अर दोयहाथके नमावनेमैं त्र्यंग कहिए तीन अंग करि नमस्कार कह्या है ॥ ६३ ॥ अर दोय हाथ अर दोय गुडे इन च्यारौ नमनमैं च्यार अंगनिकरि नमस्कार कह्याहै, अर दोय हाथ अर एक मस्तक अर दोय गूडे इन पांचनकौ नमावै तौन पंचांग नमस्कार है । ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

आगैं आवर्तनका स्वरूप कहै है;—

कर्तव्या द्वादशावर्त्ता वपुर्वचनचेतसाम् ।
स्तवसामायिकाद्यंतपरावर्तनतश्चवाः ॥ ६५ ॥

अर्थ—शरीर वचन चित्त इनकै [illegible] अर सामायिककै आदि अंतमैं आवर्तन करिए, [illegible] [illegible] बारह आवर्त

भावार्थ—सामायिकादिकके आदि अंतमैं मन वचन कायके योगतैं हाथ जोडिकैं तीन वार भक्ति सहित वन्दना तब एकवार मस्तक नवावना, ऐसैं च्यार वार मस्तक नवावनेमैं बारह आवर्त्त जानना ॥ ६५ ॥

आगैं कायोत्सर्गकी संख्या कहैहैं;—

अष्टविंशतिसंख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः ।
अहोरात्रगताः सर्वे षडावश्यककारिणाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवालेनके रात्रिदिनविषैं सर्व अट्ठाईस कायोत्सर्ग जिनदेवनै कहेहैं ॥ ६६ ॥

आगैं ते अट्ठाईस कायोत्सर्ग कहां कहां होयहै तिनका स्वरूप कहैहैं,—

स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वंदनायां षडीरिताः ।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ॥ ६७ ॥

अर्थ—पंडितनिनैं स्वाध्यायविषैं बारह कायोत्सर्ग कहेहैं, अर वंदनामैं छह कहेहैं अर प्रतिक्रमणविषैं आठ कहेहैं अर योगभक्तिविषैं दोय कायोत्सर्ग कहेहैं। ऐसैं सर्व अट्ठाईस कायोत्सर्ग करनेका अवसर जानना ॥ ६७ ॥

आगैं कौन कायोत्सर्ग कितने उच्छ्वास ताईं करणा ताका प्रमाण कहैहैं;—

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।
सांध्ये प्राभातिके वार्द्धमन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—एकसौ आठ उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग संध्यासंबंधी प्रतिक्रमणमैं है, अर प्रभातसंबंधी प्रतिक्रमणमें अर्द्ध कहिए चौवन उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग करनाहै, बहुरि और कायोत्सर्ग सत्ताईस उच्छ्वासमात्र ॥ ६८ ॥

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे।
संति पंचनमस्कारे नवधा चिंतिते सति ॥ ६९ ॥

अर्थ—संसारकेनाश नाश करनेमें समर्थ जो पंचनमस्कार मंत्र ताका नव प्रकार चिंतवन करे संते सत्ताईस उच्छ्वास होयहैं।

भावार्थ—एक णमोकारमंत्रका जाप तीन उच्छ्वासमें करै ऐसें नव णमोकारके जापमें सत्ताईस उच्छ्वास जानना ॥ ६९ ॥

प्रतिक्रमद्वयं प्राज्ञैः स्वाध्यायानां चतुष्टयम्।
वंदना त्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रतिक्रमण दोय, स्वाध्याय च्यार, वंदना तीन, योगभक्ति दोय पंडितनि करि कहिएहै ॥ ७० ॥

उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः।
अन्यैरेते यथाशक्ति संसारांतं यियासुभिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे प्रतिक्रमणादि पूर्वे कहे ते उत्कृष्ट श्रावककरि भले प्रकार जत्नतैं करणा योग्यहै, बहुरि और जे संसारके पार जानेके इच्छुकहैं तिनकरि प्रतिक्रमणादिक जैसी शक्ति होय तैसें करणा योग्यहै ॥७१॥

इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थितिः।
विशुद्धवृत्तिभिः सार्द्धं विदधाति प्रियंवदः ॥ ७२ ॥

अर्थ—संयमासंयमविषैं है स्थिति जाकी, भावार्थ—एकदेश त्रस-हिंसाका त्यागी अर स्थावरहिंसाका त्यागी ऐसा देशव्रती, प्रिय वचन-का बोलनेवाला, सो निर्मल है प्रवृत्ति जिनकी ऐसे जे आचार्यादिक तिनके साथ इच्छाकारनामा समाचारकौं करैहै।

भावार्थ—श्रावकहै सो आचार्यादिकके उपदेशमें इच्छा करैहै, कहैहै कि हे भगवन्! आप कह्या सो मैं इच्छूं हूं। ऐसा जानना ॥ ७२

भावार्थ—सामयिकादिकके आदि अंतमैं मन वचन कायके योगकौं हाथ जोडिकै तीन वार भक्ति सहित पल्टना तब एकवार मस्तक नवावना, ऐसैं च्यार वार मस्तक नवावनेमैं वारह आवर्त्त जानना ॥ ६५ ॥

आगैं कायोत्सर्गकी संख्या कहैहैं;—

अष्टविंशतिसंख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः ।
अहोरात्रगताः सर्वे षडावश्यककारिणाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवालेनके रात्रिदिनविषैं सर्व अठाईस कायोत्सर्ग जिनदेवनैं कहेहैं ॥ ६६ ॥

आगैं ते अठाईस कायोत्सर्ग कहां कहां होयहैं तिनका स्वरूप कहैहैं,—

स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वंदनायां षडीरिताः ।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ॥ ६७ ॥

अर्थ—पंडितनिनैं स्वाध्यायविषैं वारह कायोत्सर्ग कहेहैं, अर वंदनामैं छह कहेहैं अर प्रतिक्रमणविषैं आठ कहेहैं अर योगभक्तिविषैं ते दोय कायोत्सर्ग कहेहैं । ऐसैं सर्व अठाईस कायोत्सर्ग करनेका अवसर जानना ॥ ६७ ॥

आगैं कौन कायोत्सर्ग कितने उच्छ्वास ताईं करणा ताका प्रमाण कहैहैं;—

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।
सांध्ये प्राभातिके वार्द्धमन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—एकसौ आठ उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग संध्यासंबंधी प्रतिक्रमणमैं कह्याहै, अर प्रभातसंबंधी प्रतिक्रमणमें अर्द्ध कहिए चौवन उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग कह्याहै, बहुरि और कायोत्सर्ग सताईस उच्छ्वासमात्र कह्याहै ॥ ६८ ॥

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पंचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥ ६९ ॥

अर्थ—संसारके नाश करनेमैं समर्थ जो पंचनमस्कार मंत्र ताहि नव प्रकार चिंतवन करें संते सत्ताईस उच्छ्वास होवै ।

भावार्थ—एक णमोकारमंत्रका जाप तीन उच्छ्वासमें करै ऐसे नव णमोकारके जापमें सत्ताईस उच्छ्वास जानना ॥ ६९ ॥

प्रतिक्रमणद्वयं प्राज्ञैः स्वाध्यायानां चतुष्टयम् ।
वंदना त्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रतिक्रमण दोय, स्वाध्याय च्यार, वंदना तीन, योगभक्ति दोय पंडितनि करि कहिए है ॥ ७० ॥

उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः ।
अन्यैरेते यथाशक्ति संसारांतं यियासुभिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे प्रतिक्रमणादि पूर्वे कहे ते उत्कृष्ट श्रावककरि भले प्रकार जतनतै करणा योग्य है, बहुरि और जे संसारके पार जानेके इच्छुक है तिनकरि प्रतिक्रमणादिक जैसी शक्ति होय तैसैं करणा योग्य है ॥७१॥

इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थितिः ।
विशुद्धवृत्तिभिः सार्द्धं विदधाति प्रियंवदः ॥ ७२ ॥

अर्थ—संयमासंयमविषै है स्थिति जाकी, भावार्थ—एकही समय त्रस-हिंसाका त्यागी अर स्थावरहिंसाका त्यागी ऐसा देशव्रती, प्रिय वचन-का बोलनेवाला, सो निर्मल है प्रवृत्ति जिनकी ऐसे जे आचार्यादिक तिनके साथ इच्छाकारनामा समाचारकौं करै है ।

भावार्थ—श्रावकहै सो आचार्यादिकके उपदेशमैं इच्छा करै है, कहै है कि हे भगवन् ! आप कह्या सो मैं इच्छूं हूं । ऐसा जानना ॥ ७२

वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् ।
उत्कृष्टः कारयत्येष मुंडनं तुंडमुंडयोः ॥ ७३ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक है सो वैराग्यकी परम भूमिका अर संयमका ठिकाना ऐसा, तुंड कहिये मुखडाढी मूंछका अर मुंड कहिए मूंडके बालका मुंडन जो मूडना ताहि करावैहै।

भावार्थ—ग्यारह प्रतिमाका धारी उत्कृष्ट श्रावक डाढी मूछके बाल कतरावैहै, ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।
एकस्थानान्नपानीयो निंदागर्हापरायणः ॥ ७४ ॥

अर्थ—यह उत्कृष्ट श्रावकहै सो केवल कौपीन वा वस्त्रसहित कौपीन कौं अंगीकार करैहै, कैसाहै यह एक स्थानविषै हीहै अन्नपानीका लेना जाकै अर आपकी निंदा अर गर्हा विषै तत्परहै ॥ ७४ ॥

स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमम् ।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—सो श्रावक पात्रसहित घर घर प्रति अमृत समान धर्मलाभ शब्द करि जरा मरणका नाश करनेवाली भिक्षाकौं याचैहै, ऐसा जाना ॥ ७५ ॥

आगै वंदनाके बत्तीस दोषनिका वर्णन करैहैं;—

समस्तादरनिर्मुक्तो १ मदाष्टकवशीकृतः २ ।
प्रविश्य पीडनाकारी ३ कूर्ममृदंगनर्तकः ४ ॥ ७६ ॥
मत्स्यवद्वलितं कायं दोलारूढ इवासितः ५ ।
अग्रतः पार्श्वतः पश्चाद्रिंगन् कूर्म इवासितः ६ ॥ ७७ ॥
कर्ता अंकुशमारूढः कुर्वन् मूर्द्धनतोऽपरः ७ ।
छिद्रं मत्स्य इवोत्प्लुत्य परेषां निपतन् पुरः ८ ॥ ७८॥

कुर्वन् वक्षोभुवद्वंद्वं विभ्रतीं द्राविडीमिव ९।
पूज्यात्मासादनाकारी १० गुर्वादिकर्म पितः ११॥७९॥
भयसप्तकवित्रस्तः १२ परिवारर्द्धिगर्वितः १३।
समावृतो बहिर्भूय किंचिल्लज्जाकुलाशयः १४ ॥ ८० ॥
प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा १५ कुर्वाणो जल्पनादिकम् १६ ॥
कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याकृत्वा क्षमां त्रिधा १७ ॥८१॥
ज्ञास्यते वंदनां कृत्वा भ्रमयंस्तर्जनीमिति १८।
हसनोद्दरने कुर्वन् १९ भृकुटी कुटिलालकः २०॥८२॥
निकटीभूय गुर्वादे २१ रत्नत्रयादिभिरीप्सितः २२।
करदानं गणंमत्वा २३ कृत्वा हास्यपरं गुरोः २४॥८३॥
लब्ध्वोपकरणादीनि २५ तेषां लाभाशयापि च २६।
असंपूर्णविधानेन २७ सूर्यादितपिधायकम् २८ ॥८४॥
कुर्वन् मूक इवात्यर्थ हुंकारादि पुरः सरः २९।
वंदारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ३०॥८५॥
गुर्वादेरग्रतो भूत्वा ३१ मूर्द्धोपरिकरभ्रमी ३२।
द्वात्रिंशदिति मोक्तव्या दोषा वंदनकारिणाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—समस्त आदररहित क्रियाकर्म करना सो अनादृत दोषहै १ बहुरि जात्यादि अष्टमदके वशीभूत भया वंदना करै सो स्तब्ध दोषहै २ बहुरि प्रतीक्ष्य अति देखकरि अंगनकौं पीडै दाबै सो पीडित दोष है ३ बहुरि हाडोके वा मूढके सिरके बाडनकौं मोडै सो दुविध दोषहै ४ बहुरि डोलानै बैठेवो ज्यों समस्त शरीर चलायमान वंदना करै सो दोलायित दोषहै ५ बहुरि आगेतें ललाटतें पीछेतें कछुवेकी ज्यौं रेंग-तौ चेष्टा करै अंग संकोचै वा विस्तारै सो कच्छपरिंगित दोषहै ६ बहुरि हाथके अंगूठाकौ मस्तकविषै अंकुशकी ज्यौं धारण करके करै

भगि०—१५

वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् ।
उत्कृष्टः कारयत्येष मुंडनं तुंडमुंडयोः ॥ ७३ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक है सो वैराग्यकी परम भूमिका अर संयमका निकेतन ऐसा, [illegible] करिके [illegible] मस्तक मुंडन जो [illegible] करावैहै ।

भावार्थ—[illegible] करावैहै, ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।
एकस्थानान्नपानीयो निन्दागर्हापरायणः ॥ ७४ ॥

अर्थ—यह उत्कृष्ट श्रावक है सो केवल कौपीन वा वस्त्रसहित कौपीन को अंगीकार करैहै, बहुरि यह एक स्थानविषै ही है अन्नपानीका जाके ऐसा है अर आपकी निंदा अर गर्हा विषै तत्पर है ॥ ७४ ॥

स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमम् ।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—सो श्रावक पात्रसहित घर घर प्रति अमृत समान धर्मलाभ शब्द करि जरा मरणको नाश करनेवाली भिक्षाको याचैहै, ऐसा जानना ॥ ७५ ॥

आगैं वंदनाके बत्तीस दोषनिका वर्णन करैहैं;—

समस्तादरनिर्मुक्तो १ मदाष्टकवशीकृतः २ ।
प्रतीक्ष्य पीडताकारी ३ कूर्चमूर्द्धजकुंचकः ४ ॥ ७६ ॥
चलयन्निखिलं कायं दोलारूढ इवाभितः ५ ।
अग्रतः पार्श्वतः पश्चाद्रिंगन् कूर्म इवाभितः ६ ॥ ७७ ॥
करटी वांकुशारूढः कुर्वन् मूर्द्धनतोन्नती ७ ।
क्षिप्रं मत्स्य इवोत्प्लुत्य परेषां निपतन् पुरः ८ ॥ ७८॥

कुर्वन् वक्षोभुजद्वंद्वं विन्नर्शी द्राविडीमिव ९।
पूज्यात्मासादनाकारी १० गुर्वादिजनर्मर्पितः ११॥७९॥
भयसप्तकविन्नस्तः १२ परिवारार्द्धिगर्वितः १३।
समाजतो वहिर्भूय किंचिल्लज्जाकुलाशयः १४ ॥ ८० ॥
प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा १५ कुर्वाणो जल्पनादिकम् १६ ॥
कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याकृत्वा क्षमां त्रिधा १७ ॥८१॥
ज्ञास्यते वंदनां कृत्वा भ्रमयंस्तर्जनीमिति १८।
हसनोद्घट्टने कुर्वन् १९ भृकुटी कुटिलालकः २०॥८२॥
निकटीभूय गुर्वादे २१ राचार्यादिमिरीक्षितः २२।
करदानं गणेर्मत्वा २३ कृत्वा दृष्टिपथं गुरोः २४॥८३॥
लब्ध्वोपकरणादीनि २५ तेषां लाभाशयापि च २६।
असंपूर्णविधानेन २७ सूत्रोदितपिधायकम् २८ ॥ ८४ ॥
कुर्वन् मूक इवात्यर्थं हुंकारादि पुरः सरः २९।
वंदारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ३०॥८५॥
गुर्वादेरग्रतो भूत्वा ३१ मूर्द्धोपरिक्रमभ्रमी ३२।
द्वात्रिंशदिति मोक्तव्या दोषा वंदनकारिणाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—समस्त आदररहित क्रियाकर्म करना सो अनादृत दोषहै १ बहुरि आत्यादि अष्टमदके वशीभूत भया वंदना करै सो स्तब्ध दोषहै २ बहुरि प्रतीक्ष्य कहिए देवकीर अंगनकौं पीडै दाबै सो पीडित दोष है ३ बहुरि डाडीके वा मूत्रके सिरके वाडनकौ मरोडे सो कुंचित दोषहै ४ बहुरि डोलामैं बैठेकी ज्यों समस्त शरीर चलायमानकैन वंदना करै सो दोलायित दोषहै ५ बहुरि आगेतैं पसवाडेतैं पीछेतैं कछुवेकी ज्यों सर-कनौं चेष्टा करै अंग संकोचे वा विस्तारै सो कच्छपरिंगित दोषहै ६ बहुरि हाथके अगूठाकौ मस्तकविषै अंकुशकी ज्यों स्थापन करके वाकी

मस्तककौं नीचा ऊंचा करै सो अंकुशित दोषहै ७ बहुरि मच्छकी ज्यौं उछलकरि औरनके आगैं पड़ै वा मछलीकी ज्यौं तड़फड़ै सो मत्स्योद्वर्तदोषहै ८ बहुरि द्रविड़देशके पुरुषकी स्त्रीसमान वक्षस्थलपरि दोऊ हाथ धरकै वंदना करै सो द्राविडीविजृंभि दोषहै तथा याहीका नाम वेदिकाबद्ध दोषहै ९ बहुरि आचार्यादिक पूज्य पुरुषनकी विराधना करता वंदना करै सो आसादना दोषहै १० बहुरि गुरु आदिकके भयतैं वंदना करै सो भिभीत दोषहै ११ बहुरि जो मरणादिक सात भयकरि भयभीत भया वंदना करै सो भय दोषहै १२ बहुरि परिवार-ऋद्धि करि गर्वित भया संता वंदना करै सो ऋद्धिगौरव दोषहै १३ बहुरि साधर्मीनके समाजतैं बाहिर होय करि मानौं लज्जातैं किंचित् आकुल भया वंदना करै सो लज्जित दोषहै १४ बहुरि गुरुकै प्रतिकूल होयकरि वंदना करै सो प्रतिकूलदोषहै १५ बहुरि वचनालाप आदि करता संता वंदना करै सो शब्ददोष है १६ बहुरि काहूके ऊपर क्रोध-रूप भया ताभैं मन वचन कायकरि क्षमा न करायकै वंदना करै सो प्रदुष्ट दोषहै १७ बहुरि कोई जाणैगा ऐसैं वंदना करि अंगुलीकौं भ्रमावै सो मनो दुष्टदोषहै १८ बहुरि हंसना अर अंग घिसना इनकौं करता संता वंदना करै सो हसनोद्वहन दोषहै १९ बहुरि भौंह टेढीकरि वंदना करै सो भृकुटीकुटिल दोषहै २० बहुरि गुरु आदिकनिके अति-निकट होय करि वंदना करै सो प्रविष्ट दोषहै २१ बहुरि आचार्यादि-कनि करि देख्या संता वंदना करै,—

भावार्थ—आचार्यादिकनिकै आगैं तौ भले प्रकार करै अन्यथा यद्वा तद्वा करै सो दृष्टदोषहै २२ संघाविषैं करदान मानकरि वंदना करै,

भावार्थ—संघके खुशी रहनेके अर्थ वा संघतैं भक्त्यादिककी वांछा करि वंदना करै सो करमोचन दोषहै २३ बहुरि गुरुनकी

आंख्यां छिपाय वंदना करै सो अदृष्ट दोषहै २४ बहुरि उपकरणादि पाय करि वंदना करै सो आलब्ध दोषहै २५ बहुरि तिन उपकरणादिकनिके मिलनेके वांछा करि वंदना करै सो अनालब्ध दोषहै २६ बहुरि सम्पूर्ण विधान करि रहित काल शब्द अर्थ इत्यादिक करि हीन वंदना करै सो हीनदोषहै २७ बहुरि सूत्रके अर्थकौं टारि करि वंदना करै सो निश्चलिक दोषहै २८ बहुरि गूंगेकी ज्यों अतिशय करि हुंकारादि करता वंदना करै सो मूकदोषहै २९ बहुरि और वदना करनेवालेनिके शब्दनकौं दाबकर वंदना करै, सो दर्दुर दोषहै ३० बहुरि गुरु आदिकनि के आगैं होय करि वंदना करै सो भ्रम दोषहै ३१ बहुरि अंतमें वंदनाकी चूलिकामें क्रम भूलि जल्दी करै.

भावार्थ—जब वंदना थोडीसी बाकी रहै तब जल्दी जल्दी करै क्रम भूलि जाय सो उत्तर चूलिक दोषहै ३२ या प्रकार बत्तीस दोष वंदना करनेवालेनकौं त्यागने योग्यहैं ॥ ८६ ॥

क्रियमाणा प्रयत्नेन क्षिप्रं कृतिरिवेप्सितम् ।
निराकृतमला दत्ते वंदना फलमुत्तमम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—दूर कीयेहैं मल जाके ऐसी यत्नसैं करी भई जो वंदना सो वांछित महाफलकौं देयहै, जैसें दूर कीयेहैं तृण कंटकादि मल जाके ऐसी यत्न करि करी भई खेती महाफल देय हैहै, ऐसा जानना ॥ ८७ ॥

आगैं कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहैं;—

सर्व्वोद्धृतैकपादस्य स्थानमश्वस्येव १ ।
चलनं वातधूताया लताया इव सर्वतः २ ॥ ८८ ॥
स्तम्भं स्तम्भकुड्यादेः ३ परस्याद्युपरिस्थितिः ४ ।
उपरि मालमालम्ब्य शिरसावस्थितिः कृता ५ ॥ ८९ ॥

निगडेनेव बद्धस्य विकटांघ्रिस्थितिः ६।
कराभ्यां जघनाच्छादः किरातयुवतेरिव ७॥ ९०॥
शिरसो नमनं कृत्वा ८ विधायोन्नमनस्थितिः ९।
उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः शिशोर्धात्र्या इव स्तनम् १०॥ ९१॥
काकस्येव चलाक्षस्य सर्वतः पार्श्ववीक्षणम् ११।
ऊर्द्धाधः कंपनं मूर्ध्नः खलीनार्तहयेरिव १२॥ ९२॥
स्कंधारूढगजस्येव कृतग्रीवानतोन्नतीः १३।
सकपित्यकरस्येव मुष्टिबंधनकारिणः १४॥ ९३॥
कुर्वतः शिरसः कंपं १५ मूकसंज्ञाविधायिनः १६।
अंगुलीगणनादीनि १७ भ्रूनृत्यादिककल्पनम् १८॥ ९४॥
मदिराकुलितस्येव घूर्णनं १९ दिगवेक्षणम् २०।
ग्रीवोर्द्धनयनं भूरि २१ ग्रीवाधोनयनादिकम् २२॥ ९५॥
निष्ठीवनं २३ वपुःस्पर्शः २४ प्रपंचबहुला स्थितिः २५।
सूत्रोदितविधेर्न्यूनं २६ वयोपेक्षा विवर्जनम् २७॥ ९६॥
कालापेक्षव्यतिक्रांतिः २८ व्याक्षेपासक्तचित्तता २९।
लोभाकुलितचित्तत्वं ३० पापकार्योद्यमः परः ३१॥९७॥
कृत्याकृत्यविमूढत्वं ३२ द्वात्रिंशदिति सर्वथा।
कायोत्सर्गविधेर्दोषास्त्याज्या निर्जरणार्थिभिः॥ ९८॥

अर्थ—घोड़ेकी ज्यों एक पाव उठाय करि खड़े रहना सो घोटक-दोषहै १ बहुरि पवनकरि हाली जो लता ताकी ज्यों सर्व तरफ चलना सो लतादोषहै २ बहुरि थंभ भीत आदिका आसरा लेना सो स्तंभकुड्य-दोषहै ३ बहुरि पाट आदिके ऊपर तिष्ठ करि कायोत्सर्ग करै सो पट्टिकादोषहै ४ बहुरि सिरके ऊपर माताकौं अवलंबकै तिष्ठना सो मालादोषहै ५ बहुरि बेड़ीकरि बंधे पुरुषकी ज्यों टेढ़े चरण धारि तिष्ठना

सो निगडदोपहै ६ बहुरि भीलकी स्त्रीकी ज्यों हाथनकरि जंघान कौ ढांपना सो किरातयुवति दोपहै ७ बहुरि शिरकौं नमाय करि तिष्ठना सो शिरोनमन दोपहै ८ बहुरि ऊंचा शिर करके तिष्ठना सो उन्नमन दोपहै ९ बहुरि बालककौं धायके स्तनकी ज्यों छातीकौं ऊंची करके तिष्ठना सो धात्री दोपहै १० बहुरि कागलाकी ज्यों चंचल नेत्रका सर्वतरफ पसवाडेनका देखना सो वायसदोपहै ११ बहुरि लगामकरि पीडित घोडेकी ज्यों ऊपर नीचें मस्तकका नवावना सो खलीन दोपहै १२ बहुरि कंधापर आरूढहै पुरुष जाके ऐसे गजकी ज्यों ग्रीवाका नवावना ऊंचाकरना सो गजदोपहै या याहीका नाम युगदोपहै १३ बहुरि कैंथसहित हस्तकी ज्यों मूठी बंधन करनेवालेके सो कपित्थदोप है १४ बहुरि सिरका कंपावना सो शिरः प्रकंपित दोपहै १५ बहुरि गूंगेकी ज्यों नासिकादि अंगनिकी सैनानी करनेवालेके मूकदोपहै १६ बहुरि कायोत्सर्गमें अंगुली गिनना सो अंगुली दोपहै १७ बहुरि कायोत्सर्गमें भृकुटी नचावना आदि करै सो भ्रूदोपहै १८ बहुरि मदिराकरि आकुलित पुरुषकी ज्यों घूमे सो मदिरा पायी दोप है १९ बहुरि कायोत्सर्गमें दशों दिशान प्रति देखना सो दिगवेक्षणदोपहै २० बहुरि ग्रीवाकौं बहुत ऊपर करना सो ग्रीवोर्द्धनयन दोपहै २१ बहुरि ग्रीवाकौं नीची करना इत्यादि ग्रीवाधोनयनादि दोपहैं २२ बहुरि थूकारना सो निष्ठीवनदोपहै २३ बहुरि अंगका स्पर्शना सो वपुःस्पर्शन दोपहै २४ बहुरि माया करि बहुत प्रपंचसहित तिष्ठना सो प्रपंचबहुल दोप है २५ बहुरि सूत्रभाषितविधिकी हीनता करनी सो विधिन्यून दोपहै २६ बहुरि वृद्धादि वयकी अपेक्षादिकका त्यागना,

भावार्थ—अपनी अवस्था बिना देखे कायोत्सर्ग करना सो वयोपेक्षादिवर्जन दोपहै २७ बहुरि कालकी अपेक्षाका उल्लंघन करना

कायोत्सर्गके काल कायोत्सर्ग न करना सो कालापेक्ष व्यतिक्रात दोषहै २८ बहुरि चित्तकी विक्षिप्तताके कारणमैं आसक्तचित्तपनां सो आक्षेप सक्तचित्तता दोषहै २९ बहुरि लोभकरि आकुलित चित्तपनां सो लोभाकुलित दोषहै ३० बहुरि कायोत्सर्गविषैं पाप कार्यमैं परम उद्यम करना सो पापकार्योद्यम दोषहै ३१ बहुरि करने योग्य न करने योग्यविषैं मूढपना सो मूढ दोषहै ३२। या प्रकार कायोत्सर्गकी विधिके बत्तीस दोषहैं, ते निर्जराके अर्थी जे पुरुषहैं तिनकरि सर्वथा त्यागना योग्यहै॥ ८७—९८॥

समाहितमनोवृत्तिः कृतद्रव्यादिशोधनः।
विविक्तं स्थानमास्थाय कृतेर्यापथशोधनः॥ ९९॥
गुर्वादिवंदनां कृत्वा पर्यंकासनमास्थितः।
विधाय वंदनामुद्रां सामान्योक्तनमस्कृतिः॥ १००॥
ऊर्द्धः सामायिकस्तोत्रं समुक्तामुक्तमुद्रकः।
पठित्वा वार्चितावर्त्तां विदधाति तनूत्स्रुतिम्॥ १०१॥
कृत्वाजैनेश्वरीं मुद्रां ध्यात्वा पंचनमस्कृतिम्।
उक्त्वा तीर्थकरस्तोत्रमुपविश्य यथोचितम्॥ १०२॥
चैत्यभक्तिं समुच्चार्य भूयः कृत्वा तनूत्स्रुतिम्।
उक्त्वा पंचगुरुस्तोत्रं कृत्वा ध्यानं यथाबलम्॥ १०३॥
विधाय वंदनां सूरेः कृतिकर्मपुरः सराम्।
गृहीत्वा नियमं शक्त्या विधत्ते साधुवंदनाम्॥ १०४॥
आवश्यकमिदं प्रोक्तं नित्यं व्रतविधायिनाम्।
नैमित्तिकं पुनः कार्यं यथागममतंद्रितैः॥ १०५॥

अर्थ—एकाग्र है मनकी वृत्ति जाकी अर यहांहि द्रव्यादिक की शोधना जानैं सो एकांत स्थानपै तिष्ठकरि करयाहै ईर्यापथका शोधन जानैं ॥ ९९ ॥

गुरु आदिकनिकी वंदना करके पर्यंकासनपरि तिष्ठया वंदनामुद्राकौं धारिकै सामान्यपनैं कह्याहै नमस्कार जानैं ॥ १०० ॥

ता उपरात सामायिकस्तोत्रकौं भले प्रकार कहिकै छोड़ीहै मुद्रा जानैं सो पाठ पढकै जान्याहै आवर्त्त जानैं ऐसा पुरुषहै सो कायोत्सर्गकौं करै ॥ १०१ ॥

बहुरि जैनदंशी मुद्राकौं करिकै अर पंच नमस्कार मंत्रका ध्यान करकै अर तीर्थंकरनिका स्तोत्र कहिकै यथायोग्य बैठकरि ॥ १०२ ॥

चैत्य भक्तिका उच्चारन करि फेर कायोत्सर्ग करिकै बहुरि पंच गुरुनिके स्तोत्रकौं कहिकै बहुरि जैसा बणै होय तैसा ध्यान करिकै ॥ १०३ ॥

बहुरि कृतिकर्मपूर्वक आचार्यकी वंदनाकौं करिकै फेर शक्ति माफिक नियमकौं ग्रहण करि साधुवंदनाकौ करै ॥ १०४ ॥

यह आवश्यक व्रत धरने वालेनकौं नित्य कह्या । बहुरि आलस्य रहित पुरुषनि करि नैमित्तिक कहिए पर्वआदिकनि निमित्त पाया सो जैसा आगममैं कह्या तैसा करना योग्यहै ॥ १०५ ॥

भावार्थ—एकाग्र चित्त होयके अर द्रव्यक्षेत्रादिक शोधनकरि एकांतस्थानमैं तिष्ठकै प्रथम ईर्यापथ दडक पढै, फेर गुरु आदिकनिकी वंदना करकै पर्यंकासन तिष्ठिकै पूर्वोक्त वंदनामुद्रा रचिकै कायोत्सर्ग करै, फेर पूर्वोक्त जैनेंद्रकी मुद्रा करिकैं पंचनमस्कारका ध्यान करै फेर तीर्थंकरनिका स्तोत्र पढकै यथायोग्य बैठै, फेर पंचपरमेष्ठीनिका स्तोत्र पढकै शक्तिसारू ध्यान करै फेर नमस्कार शिरोनति आवर्तपूर्वक आचा-

र्यवंदना करै फेर शक्तिसारू नियमकौं ग्रहण करि साधुवंदना करै; या प्रकार यह आवश्यक तौ नित्य ही करै। बहुरि अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वविर्षै तथा औरभी निमित्त पाय जैसैं आगममैं कह्या तैसैं आवश्यक करना योग्यहै ॥ ९९—१०५ ॥

येन केन च संपन्नं कालुष्यं दैवयोगतः।
क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्तव्याऽऽवश्यकक्रिया ॥ १०६ ॥

अर्थ—कर्मयोगतैं जिसकिसी पुरुष करि परिणामनिर्मैं मलिनपना कलुषपना उपज्या होय ता पुरुषसौं मन वचन कायकरि क्षमा कराय आवश्यकक्रिया करणी योग्यहै ॥ १०६ ॥

क्रियां पक्षभवां मूढश्चतुर्मासभवां च यः।
विधत्तेऽक्षमयित्वासौ न तस्याः फलमश्नुते ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो मूढ विना क्षमा कराये पक्षजनितक्रियाकौं बहुरि चतुर्मासजनितक्रियाकौं करैहै सो यह ता क्रिया के फलकौं न पावैहै।

भावार्थ—पंदरहदिनमैं प्रतिक्रमणादि करिए सो पाक्षकी क्रिया कहिए, चार महिनामैं करिए सो चातुर्मासिक क्रिया कहिए सो इन क्रियानकौं जासैं कलुषता भई होय तासैं क्षमा कराये बिन करै तो परिणामनिकी शल्यतैं क्रियाके फलकौं न पावै ॥ १०७ ॥

देवनराद्यैः कृतमुपसर्गं
वंदनकारी सहति समस्तम्।
कंपनमुक्तो गिरिरिव धीरो
दुष्कृतकर्मक्षपणमवेक्ष्य ॥ १०८ ॥

अर्थ—वंदना करनेवाला मनुष्य है सो पापकर्मकी निर्जराकौं विचारिकैं देव मनुष्यादिकनि करि कस्या समस्त उपसर्गकौं सहैहै, कैसोहै? पर्वतकी ज्यों कंपरहित है धीर है ॥ १०८ ॥

आगे अधिकारकौं संकोचै है,—

> इत्यमदोषं सततमनूनं
> निर्मलचित्तो रचयति नूनम्।
> यः कृतिकर्मामितगतिदृष्टं
> याति स नित्यं पदमनदृष्टम्॥ १०९॥

अर्थ—जो निर्मलचित्त पुरुष या प्रकार निर्दोष न्यूनता रहित निरंतर कृतिकर्म कहिए आवश्यक क्रिया ताहि करैहै सो नित्य अर देखनेमें न आवै ऐसा जो मोक्षपद ताहि प्राप्त होय है, कैसाहै कृतिकर्म अमितगति कहिए अनंतहै ज्ञान जाका ऐसा जो सर्वज्ञ देवताकरि कह्याहै; ऐसा जानना॥ १०९॥

अडिल।

> रागद्वेष तजि सामायिक सजि कीजे तीर्थंकर गुणगान,
> पंच परमगुरु चरण वंदि नित पूर्वदोषको करि अवसान।
> आगामी अघत्यागि देहसौं ममताभाव निवारि सुजान,
> षट आवश्यक साधि जीव इम लहै अमितगति पद निरवान।

इति श्रीमदमितगत्याचार्यकृते श्रावकाचारे
अष्टमः परिच्छेदः।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं
आठवां परिच्छेद समाप्त भया।

अथ नवम परिच्छेद ।



दानं पूजा जिनैं शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ १ ॥

अर्थ—दान १ पूजा २ शील ३ उपवास ४ यह संसारवनकौं अग्निसमान चार धर्म श्रावकनिका जिनदेवनिनैं कह्याहै ॥

तहां प्रथमही दानका स्वरूप कहैहैं;—

दानं वितरता दाता देयं पात्रं विधिर्मतिः
फलेपिणाऽवबोद्धव्यानि धीमता पंच तत्त्वतः ॥ २ ॥

अर्थ—फलका वांछक अर बुद्धिसहित ऐसा जो दान देनेवाला पुरुष ताकरि दाता १ देने योग्य वस्तु २ पात्र ३ विधि ४ मति ५ ये पाच स्वरूपसहित जानना योग्यहैं ।

भावार्थ—दान देनेवालेकरि पूर्वोक्त पंच वस्तुका स्वरूप जानना योग्यहै ॥ २ ॥

तहां दाताका स्वरूप कहैहै;—

भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपम् ।
सात्विकं क्षमकं संतो दातारं सप्तधा विदुः ॥ ३ ॥

अर्थ—सतजनहैं ते दाताकौं सात प्रकार कहैं हैं; सात कौन ? प्रथम तौ भक्तिसहित १ अर प्रसन्नचित्त २ अर श्रद्धासहित ३ अर विज्ञानसहित ४ अर लोलुपतारहित ५ अर सात्विक कहिये शक्तिमान ६ अर क्षमावान ७ ऐसा जानना ॥ ३ ॥

आगैं भाक्तिक आदिका स्वरूप कहैहैं;—

यो धर्मधारिणां धत्ते स्वयं सेवापरायणः ।
निरालस्योऽशठः शांतो भक्तिकः स मतो बुधैः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मके धारनेवालेनकी सेवामें तत्पर भयासंता स्वयं कहिये अपेक्षा रहित आपही धारैहै सो पंडितनि करि आलस्यरहित बुद्धिमान शांतचित्त ऐसा भाक्तिक कहिये भक्तिसहित कह्या है ।

भावार्थ—धर्मात्मानकी सेवा करै सो भाक्तिक कहिए ॥ ४ ॥

तुष्टिर्दत्तवतो यस्य ददतश्च प्रवर्त्तते ।
देयासक्तमतेः शुद्धास्तमाहुस्तौष्टिकं जिनाः ॥५॥

अर्थ—जिसके आगे देता भया ताकै वा वर्त्तमानमें देतेंकै हर्ष प्रवर्त्ते है ताहि कर्ममलरहित जे शुद्ध जिनदेव हैं ते तौष्टिक कहिए हर्षसहित कहैहैं, कैसाहै सो देनेयोग्य वस्तुविषै नाहीं है लोभरूप बुद्धि जाकी ॥ ५ ॥

साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीप्सितम् ।
यस्येषा जायते श्रद्धा नित्यं श्राद्धं वदंति तम् ॥ ६ ॥

अर्थ—साधूनके अर्थ दान देता जो पुरुष ताकरि वांछित फल पाइए है यह जाके नित्यही श्रद्धा प्रतीति है ता पुरुषकौं आचार्य श्रद्धावान कहैहैं ॥ ६ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं भावं सम्यक् विविच्य यः ।
साधुभ्यो ददते दानं सविज्ञानमिमं विदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावको भले प्रकार विचारिकै साधूनकै अर्थ सुबुद्धी दान देयहै इसको आचार्य सविज्ञान कहैहैं ॥ ७ ॥

क्षिपापि याचते किंचिद्यो न सांसारिकं फलम् ।
ददानो योगिनां दानं भाषंते तमलोलुपम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो योगीनकौं दान देता संता मन वचन काय करिभी सांसारिक फलकौं न याचै है ताहि आचार्य अलोलुप कहैं हैं ॥ ८ ॥

स्वल्पवित्तोऽपि यो दत्ते भक्तिभारवशीकृतः ।
स्वाढ्याश्चर्यकरं दानं सात्त्विकं तं प्रचक्षते ॥ ९ ॥

अर्थ—जो थोडा धनवान भी भक्तिके भारकरि वश किया संता धनवानकौं आश्चर्य करनेवाला दानकौं देयहै ताहि आचार्य सात्त्विक कहैहैं ।

भावार्थ—जो धनरहित भी भक्तिकरि दान देयहै जाकौ देखिकै धनवान भी आश्चर्यमानै जो धन्य है यह जो ऐसा दान देयहै ता पुरुषकौं सात्त्विक कहिएहै ॥ ९ ॥

कालुष्यकारणे जाते दुर्निवारे महीयसि ।
यो न कुप्यति केभ्योऽपि क्षमकं कथयंति तम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्रोधका मलिनपरिणामका दुर्निवार महान कारण उपजे संते जो किसीतें भी क्रोध न करैहै ताहि आचार्य क्षमावान कहै हैं ॥ १० ॥

आगे उत्तम मध्यम जघन्य दातानिका लक्षण कहैहैं;—

सर्वैरलंकृतो वर्यो जघन्यो वर्जितो गुणैः ।
मध्यमोऽनेकधाऽवाचि दाता दानविचक्षणैः ॥ ११ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त भक्ति तुष्टि आदि गुण वा आगै कहैंगे तिन सर्व गुणनिकरि भूषित होय सो तो उत्तम दाता है अर तिन गुणनिकरि रहित सो जघन्य दाता है, बहुरि दातारके विचक्षण जे पुरुष तिनकरि मध्यम दाता अनेक प्रकार कहाहै ॥ ११ ॥

आगे दातारका विनय गुण कहैहैं,—

विनीतो धार्मिकः सेव्यस्तत्कालक्रमवेदकः ।
जिनेशागमनाभिज्ञो भोगनिस्पृहमानसः ॥ १२ ॥
दयालुः सर्वजीवानां रागद्वेषादिवर्जितः ।
संसारासारतावेदी समदर्शी महोद्यमः ॥ १३ ॥
परीषहसहो धीरो निर्जिताक्षो विमत्सरः ।
परात्मममयाभिज्ञः प्रियवादी निरुत्सुकः ॥ १४ ॥
वासितो व्रतिनां पूतैः परासाधारणैर्गुणैः ।
लोकलोकोत्तराचारविचारी संघवत्सलः ॥ १५ ॥
आस्तिको निरहंकारो वैयावृत्यपरायणः ।
सम्यक्त्वालंकृतो दाता जायते भुवनोत्तमः ॥ १६ ॥

अर्थ—विनयवान होय, धर्मात्मा होय, मूरतादिकके अभावतैं औरन करि सेवनेयोग्य होय, तत्कालक्रम का जाननेवाला होय ।

भावार्थ—जिस कालमैं जैसी वस्तु आदि चाहिये तैसा जानता होय; अर जिनेंद्रके उपदेशका ज्ञाता होय, बहुरि भोगनिविषै वांछारहित चित्त जाका ऐसा होय ॥ १२ ॥ सर्व जीवनि पर दयासहित होय, रागद्वेषादिरहित होय संसारकी असारताका जाननेवाला होय, अर समान देखनेवाला होय,

भावार्थ—कोऊका इष्टानिष्टपनें करि हीनाधिक देखने वाला न होय, अर उद्यमी होय ॥ १३ ॥ परीषहनिका सहन करनेवाला होय, धीर होय, अर जीतीहैं इंद्रिया जानैं ऐसा होय, बहुरि मत्सरतारहित होय अर श्रेष्ठ अध्यात्मशास्त्रका जाननेवाला होय, प्रियवचन बोलनेवाला होय, विषयनि की वांछारहित होय ॥ १४ ॥ बहुरि व्रतीनके और विषैं न पाइए ऐसे असाधारण पवित्र गुणनिकरि वासित होय ।

भावार्थ—व्रतीनके गुणनिमैं अनुरागी होय, बहुरि लौकिक आचार वा लोकोत्तर कहिए परमार्थ आचार ताका विचारसहित होय, अर च्यार प्रकार संघविषैं वच्छासे गौकी ज्यों प्रीतिसहित होय ॥ १५ ॥ बहुरि अस्तिक कहिए परलोकादिकहैं ऐसी अस्तिबुद्धिसहित होय।

भावार्थ—परलोक नाहीं पुण्य नाहीं पाप नाहीं इत्यादिक जो नास्तिकबुद्धि ता करि रहित होय, अहंकाररहित होय, धर्मात्मानकी टहल चाकरीमैं तत्पर होय अर सम्यक्त करि भूषित होय ऐसा दाता लोकविषैं उत्तम होयहै,

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणनिसहित होय सो उत्तमदाता जानना॥१६॥

आगैं और भी कहैंहैं;—

आत्मीयं मन्यते द्रव्यं यो दत्तं व्रतवर्त्तिनाम्।
शेषं पुत्रकलत्राद्यैस्तस्करै रिव लुंठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो दाता व्रतीनकूं दिया जो द्रव्य ताहि अपना मानेहै बहुरि बाकी रह्या जो द्रव्य ताहि पुत्र स्त्री चौरनकरि मानौ लूटलिया तैसा मानैहै।

भावार्थ—पात्रनिकूं दानमैं जो धन लग्या सो तो पुण्यबंधके कारण तैं इस भवमैं वा पर भवमैं आपकौं सुखदायी है तातैं अपना है अर पुत्र स्त्री आदिकनिनैं सो पापबंधके कारणतैं दोऊ भवमैं दुखदायीहै तातैं अपना नाही चौरनकरि लूट लिए समानहै, ऐसा जानना ॥१७॥

ये लोकद्वितये सौख्यं कुर्वते मम साधवः।
बांधवा दारुणं दुःखमिति पश्यति चेतसा ॥ १८ ॥

अर्थ—ये साधुजनहैं ते मेरे इस भवविषैं वा परभवविषैं सुखकौं करैहैं अर बांधवहैं ते भयानक दुःखकौं करैहैं, ऐसा दाता मनविषैं विचारैहै ॥ १८ ॥

योऽत्रैव स्थावरं वेत्ति गृहकार्ये नियोजितम्।
सहगामि परे वित्तं धर्मकार्ये यथोचितम् ॥१९॥

अर्थ—जो पुरुष घरके कार्यमें लगाया जो द्रव्य ताहि इहांही रह-नेवाला मानैहै अर केवल धर्मकार्यमें लगाया योग्य द्रव्य ताहि संग जानेवाला मानैहै।

भावार्थ— विवाहादि कार्यमें द्रव्य लगाया सो तो इस लोकमें रहा बाकी धर्मकार्यमें लगाया सो द्रव्य पुण्यबंधके कारण तैं आपके साथ जायहै ऐसा जानना ॥ १९ ॥

शरदभ्रसमाकारं जीवितं यौवनं धनम्।
यो जानाति विचारज्ञो दत्ते दानं स सर्वदा ॥ २० ॥

अर्थ—जो पुरुष शरदकालके बादलके समान अथिर जीवनकौं अर जोवनकौं अर धनकौं जानैहै सो विचारका जाननेवाला सदाकाल दानकौं देयहै ॥ २० ॥

यो न दत्ते तपस्विभ्यः प्रासुकं दानमंजसा।
न तस्याऽऽत्मंभरेः कोऽपि विशेषो विद्यते पशोः ॥२१॥

अर्थ—जो पुरुष तपस्वीनके अर्थि प्रासुकदानकौं भले प्रकार न देयहै तिस आपापोषीके अर पशुके किछू विशेष नाहीं है।

भावार्थ—दान न देयहै सो पशुसमानहै जातैं अपना उदर तो पशुभी भर लेयहै मनुष्यपनेकी विशेषता तो दानहीतै है ॥ २१ ॥

गृहं तदुच्यते तुंगं सत्यंते यत्र योगिनः।
निगद्यते परे प्राज्ञैः शारदं घनमंडलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिसविषैं योगीश्वर तृप्त कीजिएहैं योगीश्वरनिकौं दान दीजिए है सो ऊंचा घर कहिए है अर दानरहित केवल घर है सो पंडितनिकरि शरदकालके बादलनिका मंडल कहिए है ॥ २२ ॥

[illegible] गिरनं साधूनां [illegible] ।
[illegible] कर्दमालिप्तं [illegible] ॥ २३ ॥

अर्थ—साधुनके योगे जे पात्र तिनके [illegible] [illegible] है, अर [illegible] है सो [illegible] मनुष्य[illegible] कहनेका [illegible] है ॥ २३ ॥

स गेही मन्यते मर्त्यो यो दत्ते दानमंजसा ।
न परो गेहयुक्तोऽपि पतत्रीव कदाचन ॥ २४ ॥

अर्थ—जो भले प्रकार दान देयहै सो मनुष्य पंडितनि करि गृही मानियेहै अर दानरहित गृहसहित भी पक्षीकी ज्यों गृही न मानियेहै।

भावार्थ—दान देयसो गृहस्थ है अर दानरहित केवल घर तो पक्षीके भी होयहै, तातैं दानबिना गृहवालेनै गृहस्थ न कहिये ऐसा जानना ॥ २४ ॥

किं द्रव्येण कुबेरस्य किं समुद्रस्य वारिणा ।
किमंधसा गृहस्थस्य भुक्तिर्यत्र न योगिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जहां योगीश्वरनिका भोजन नाहीं तिस कुबेरके द्रव्य करि कहा अर समुद्रके जलकरि कहा अर गृहस्थके भोजन करि कहा।

भावार्थ—जहां दान नाहीं तिन बहुत द्रव्यादिकनि करि कहा साध्य है किछू साध्य नाहीं, ऐसा जानना ॥ २५ ॥

ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः ।
सत्येन वचसा राजा गृही दानेन चारुणा ॥ २६ ॥

अर्थ—योगी तो ध्यानकरि सोहैहै अर तपोधन जो तपस्वी है सो संयमकरि सोहैहै अर सत्यवचन करि राजा सोहैहै अर गृहस्थ सुंदर-दानकरि सोहैहै ॥ २६ ॥

तपोधनं गृहायातं यो न गृह्णाति भक्तितः।
चिंतामणि करप्राप्तं स कुधीस्त्यजति स्फुटम् ॥ २७ ॥

अर्थ—घर प्रति आया जो तपोधन साधु ताहि जो भक्तितैं न पड-गाहैहै सो कुबुद्धी हस्तविर्षे आया जो चिंतामणी ताहि प्रकटपनैं तजैहै ॥ २७ ॥

विद्यमानं धनं धिष्ण्ये साधुभ्यो यो न यच्छति।
स वंचयति मूढात्मा स्वयमात्मानमात्मना ॥ २८ ॥

अर्थ—घरविर्षे विद्यमान जो धन ताहि जो साधुनके अर्थ न देयहै सो मूढात्मा आपही आपकरि आपकौं ठगै है। घरमैं धन होतैं मुनी-नकौं आहारादि दान न देयहै सो आपकौं ठगैहै ॥ २९ ॥

स भण्यते गृहस्वामी यो भोजयति योगिनः।
कुर्वाणो गृहकर्माणि परं कर्मकरं विदुः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो योगीनकौं भोजन करावैहै सो घरका स्वामी कहियेहै अर दानविना केवल घरके कार्यकौं करैहै ताहि पंडित हैं से गुलाम कहैहैं, ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यः सर्वदा क्षुधां धृत्वा साधुवेलां प्रतीक्षते।
सः साधूनामलाभेऽपि दानपुण्येन युज्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—जो सदा क्षुधा धारणकरि साधुनिके आहारकी वेळाकी प्रतीक्षा करैहै अर आहारवेलाटलें पीछें भोजन करैहै सो पुरुष साधू-नका अलाभ होतैं भी दानके पुण्यकरि युक्त होयहै ॥ ३० ॥

भवने नगरे ग्रामे कानने दिवसे निशि।
यो धत्ते योगिनश्चित्ते दत्तं तेभ्योऽमुना ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो पुरुष घरविषैं नगरविषैं ग्रामविषैं वनविषैं दिवसविषैं रात्रिविषैं योगीश्वरनिकौं चित्तविषै धारैहै, सो इन पुरुष करि निश्चयतैं मुनिनके अर्थ दान दिया।

भावार्थ—जो सदा मुनीश्वरनिकी भक्तिका परिणाम राखैहै ताकै मुनिनका मिलना न होतैं भी भावनाकी शुद्धितातैं दानका पुण्य होयहै ॥ ३१ ॥

यः सामान्येन साधूनां दानं दातुं प्रवर्तते।
त्रिकालगोचरास्तेन योगिनो भोजिताः स्तुताः ॥३२॥

अर्थ—जो सामान्य पनेकरि साधूनके दान देनेकौं प्रवर्तै है ता पुरुषकरि भूत भविष्यत वर्तमानकालके सर्व योगीश्वर जिमाए अर स्तुतिगोचर किये।

भावार्थ—जाकै मुनिमात्रके दानमैं हर्षहै प्रकृतिहै ताकै सर्व मुनीनिकी भक्ति होनेतैं सर्वकौं दान दिया अर सर्वहीकी स्तुति क ऐसा जानना ॥ ३२ ॥

दत्ते दूरेऽपि यो गत्वा विमृश्य व्रतशालिनः।
सः स्वयं गृहमायाते कथं दत्ते न योगिनि ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो दूर जायकरि भी व्रतीनकौं हेर करि दान देयहै ' आपही योगीश्वरनिकौं घर आये संते दान कैसैं न देयहै ' देयही ॥ ३३ ॥

सद्रव्याद्रव्ययोर्मध्ये यः पात्रं प्राप्य भक्तितः।
ददानः कथ्यते दाता न दाता भक्तिवर्जितः ॥ ३४ ॥

अर्थ—एक तो द्रव्यसहित पुरुष अर एक द्रव्यरहित पुरुष इ दोउनिके मध्य जो पात्रकौं पायकै भक्तिनैं दान देयहै सो दाता कहियेहै अर भक्तिरहितहै सो दाता न कहियेहै, ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

पात्रे ददाति योऽकाले तस्य दानं निरर्थकम् ।
क्षेत्रेऽप्युप्तं विना कालं कुत्र बीजं प्ररोहति ॥ ३५ ॥

अर्थ—बहुरि जो अकालमें पात्रविषैं दान देयहै ताका दान निष्प्रयोजनहै जैसैं बिना काल खेतविषैं बोया भी बीज कहूं ऊगैहै ? नाहीं ऊगै, ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति ।
निक्षिप्तमूषरे बीजं किं कदाचिदवाप्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—बहुरि जो दानके कालमैं भी अपात्रविषैं दान देयहै ताका दान नाशकौं प्राप्त होयहै जैसें ऊसर भूमिविषैं बोया बीज कहा कहीं पाइएहै अपि तु नाहीं पाइएहै ॥ ३६ ॥

प्रक्रमेण विना वंध्यं वितीर्णं पात्रकालयोः ।
फलाय किमसंस्कारं निक्षिप्तं क्षेत्रकालयोः ॥ ३७ ॥

अर्थ—बहुरि पात्र अर काल इन दोऊनविषैं दिया दान भी दानकी विधि विना निष्फलहै जैसे सुंदर क्षेत्र अर योग्यकाल विषैं भी धरतीका जोतना आदि संस्काररहित बोया बीजहै सो फल फलके अर्थ होयहै ? अपि तु नाहीं होयहै ॥ ३७ ॥

कालं पात्रं विधिं ज्ञात्वा दत्तं स्वल्पमपि स्फुटम् ।
उप्तं बीजमिव प्राप्नोति धत्ते विपुलं फलम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—कालकौं पात्रकौं अर विधिकौं जानिकै थोडा भी दिया जो दानहै सो बोये बीजकी ज्यों प्रकटपणे विस्तीर्ण फलकौं धारन करैहै, ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

देयं स्तोकादपि स्तोकं व्यपेक्षो न
इच्छानुसारिणी शक्तिः कदा

अर्थ—थोडेतैं भी थोडा देना योग्यहै अर महा उदयकी अपेक्षा करनी योग्य नाहीं जातैं इच्छानुसारिणी शक्ति कहीं कोईकै होयहै? अपि तु नाहीं होयहै।

भावार्थ—आपकै थोडा भी धन होयहै थोडेमैंसे थोडा धन दानमैं लगायना ऐसी न विचारना जो हमारे बहुत धन होयगा जब दान करैंगे, जातैं जितनी इच्छाहै तितना धनतौ कहीं कोईकै होय नाहीं; ऐसा जानना॥ ३९॥

श्रुत्वा दानमतिर्येषां भण्यते वीक्ष्य मध्यमः।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च यो दत्ते न दानं स जघन्यकः॥ ४०॥

अर्थ—दान देतेकौं सुनकरि दान देनेमैं जाकी बुद्धि होय सो उत्कृष्ट पुरुषहै अर दान देतेकूं देखकरि जाकी दान देनेकी बुद्धि होय सो मध्यम पुरुषहै अर सुनकरि देखकरि भी जो दान न देयहै सो जघन्य पुरुष कहिए अधमहै॥ ४०॥

ताडनं पीडनं स्तेयं रोपणं दूषणं भयम्।
यः कृत्वा दददे दानं स दाता न मतो जिनैः॥ ४१॥

अर्थ—जो और जीवनिकूं ताडना करिकैं वा पीडना करिकैं वा चोरी करिकैं वा रोप करिकैं वा दृष्णादि दूषण करिकैं वा भय करिकैं जो दानकौं देयहै सो जिन देवनिनैं दाता नाही कह्याहै॥ ४१॥

यहीपमया सदा दानं प्रदेयं प्रियवादिना।
प्रियेण रहितं दत्तं परमं वैरकारणम्॥ ४२॥

अर्थ—प्रियवचनसहित बुद्धिमान पुरुष करि सदा दान देना योग्यहै जातैं प्रियवचनविना दिया बहुत दानहै सो वैरका कारण है।

भावार्थ—दान देना सो मीठेवचन सहित देना अर मीठे वचनबिना दान भी वेरका कारण है, जातैं कटुकवचन सबकौं बुरा लागैहै ॥ ४२ ॥

यः शमायाकृतं वित्तं वितरत्यति दुर्मतिः ।
कालिं गृह्णाति मूल्येन दुर्निवारमसौ ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि पुरुष समभावरहित धनकौं देवैहै सो यह निश्चयतै मोलकरि दुर्निवार कहिये दुःखसै निवारण करिने योग्य पापकौं ग्रहण करैहै ।

भावार्थ—क्रोधसहित दान देनेमें उल्टा पापबंध होयहै तातैं समतासहित दान देना योग्यहै ॥ ४३ ॥

आगें दान न देने योग्य वस्तुकौं सामान्यपनै कहैहैं;

जीवा येन निहन्यंते येन पात्रं विनश्यते ।
रागो विवर्द्धते येन यस्मात् संपद्यते भयम् ॥ ४४ ॥
आरंभा येन जन्यंते दुरितं यत्र जायते ।
धर्मकामैर्न तद्देयं कदाचन निगद्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाकरि जीव हनिये अर जाकरि पात्रजनका नाश होजाय अर जाकरि राग बढाईए अर जातैं भय उपजै ॥ ४४ ॥ अर जाकरि आरंभ उपजै अर जातैं दुखी होय सो वस्तु धर्मके वांछक पुरुषनिकरि देने योग्य कदापि नाहीं कहियेहै ॥ ४५ ॥

आगें तिन न देने योग्य वस्तुनिके विशेष कहैहैं;

हलैर्विदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति ।
म्रियंते प्राणिनो यस्यां सा भूः किं ददते फलम् ॥४६॥

अर्थ—हलनिकरि विदारी भई गर्भिणी स्त्रीविषै जैसें जाविषै प्राणी मरैहै सो पृथ्वी कहा फल देय अपि तु नाहीं देयहै ।

भावार्थ—जैसें दामिनी धर्मके ध्यावें कन्नरके जैसें भूमीके खनेमें अनेक जीव मरै हैं ता भूमीकों दानविषै अनेक जीवनिकी हिंसा होय तातैं भूमिदानमैं पुण्य नाहीं, पापही है; ऐसा जानना ॥ ४६ ॥

गर्तेषु भ्रमता येन कुर्वाणेनेव देहिनः ।
हिंस्यंते न गृहोदं दत्तं कस्यापि शांतये ॥ ४७ ॥

अर्थ—जाकरि गर्त जायगा भ्रमण करते थकी ज्यों जीव हिंसाइयेहैं सो मोह दिया सता काहूके भी शांतिके अर्थ नाहीं।

भावार्थ—मोह जहांती नाम जहांतें हिंसा होय तातें मोहदान पुण्यके अर्थ नाहीं पापहीके अर्थ है ॥ ४७ ॥

यदर्थं हिंस्यते पात्रं यन्मदा भयकारणम् ।
संयमा येन हीयंते दुष्कालेनेव मानवाः ॥ ४८ ॥
रागद्वेषमदक्रोध लोभमोहमनोभवाः ।
जन्यंते तापका येन काष्ठेनेव हुताशनाः ॥ ४९ ॥
तयेनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया ।
तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशांतये ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसके अर्थ पात्रकी हिंसा कीजिए अर जो सदा भयका कारण अर दुर्भिक्ष करि मनुष्य जैसें हीन होय तैसें जाकरि संयम हीन होय ॥ ४८ ॥ अर जैसें काष्ठ करि अग्नि उपजैहै तैसें संतापकारी रागद्वेष मद क्रोध लोभ मोह काम जाकरि उपजैहैं ॥४८॥ सो अष्टापद कहिये सुवर्ण जाकरि जिसकौं हितकी वांछा करि दीजिए सो तिसकौं जीवनेकी शांतिके अर्थ अष्टापदनामा क्रूर हिंसक जीव तानैं दिया ऐसा मैं मानूहूं ।

भावार्थ—जैसें कोऊ जीवनेके अर्थ काहूकौं अष्टापद नाम हिंसक जीवकौं देय ता ताका मरनही होय है तैसें धर्मके अर्थ मिथ्यादर्शनकौं

दिया जो सुवर्ण तातैं हिंसादिक होनेतैं परके वा आपके पापही होय, ऐसा जानना ॥ ५० ॥

मंसजंत्यंगिनो येषु भूरिशस्त्रसकायिकाः ।
फलं वितरणे तेषां तिलानां कल्मषं परम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिनविर्षे घने त्रसकायिक जीव उपजैंहै तिन तिलनके देनेविर्षे फल केवल पापहै ।

भावार्थ—तिल देनेमैं त्रसकायिक जीवनिकी हिंसातैं केवल पापही है पुण्य नाहीं ॥ ५१ ॥

प्रारंभा यत्र जायंते चित्राः संसारहेतवः ।
तन्मष्र ददतो घोरं केवलं कलिलं फलम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिसविर्षे संसारके कारण नाना प्रकार आरंभ होय है तिस परके देनेवालेके फल केवल घोर पाप होय है ॥ ५२ ॥

पीडा संपद्यते यस्या वियोगे गोनिकायतः ।
यथा जीवा निहन्यंते पुच्छशृंगखुरादिभिः ॥ ५३ ॥
यस्यां च दुह्यमानायां तर्णकः पीड्यतेतराम् ।
तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसकौं गौनके समूहतैं वियोग होनेकरि पीडा उपजैंहै अर जाकरि पूंछ सींग खुर आदिकनि करि जीव हनिएहैं अर जाका दुहे सैतें बच्छा अतिशय करि पीडिएहै तिस गौंके देनेवाले पुरुषकरि किछू भी पुण्य न पाइएहै ।

भावार्थ—गौ देनेमैं पुण्यका अंश भी नाहीं, पापही होय है ॥ ५३-५४

या सर्वतीर्थदेवानां निवासीभूतविग्रहा ।
दीयते गृह्यते सा गौः कथं दुर्गतिगामिभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो गौ सर्व तीर्थ अर देवनिके वसनेका स्थानहै शरीर जाका सो गौ दुर्गतिके जानेवालेन करि कैसैं दीजिए है और कैसैं ग्रहण करियेहै।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी गौ के शरीरमें सर्व तीर्थ अर देव वसते मानैंहैं, ऐसी गौ कौं पापी कैसैं देयहैं अर कैसैं लेयहैं; ऐसी तर्क करीहै ॥ ५५ ॥

तिलधेनुं घृतधेनुं कांचनधेनुं च रुक्मधेनुं च।
परिकल्प्य भक्षयंत श्चांडालेभ्यस्तरां पापाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—तिलनिकी गौ घृतकी गौ सुवर्णकी गौ रूपेकी गौ वनाय वनाय करि जे भखैंहैं ते चाडालतैं भी अधिक पापीहैं।

भावार्थ—चांडाल गौ तौ न खायहै अर इन मिथ्यादृष्टीननैं तिलादिककी वनाय करी गौ भी खाय लीनी तातैं ते चाडालतैं भी सिवाय पापीहैं, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

या धर्मवनकुठारी पातकवसतिस्तपोदया चौरी।
वैरायासासूया विषादशोकश्रमक्षोणी ॥ ५७ ॥
यस्यां सक्ता जीवा दुःखतमाधोत्तरंति भवजलधेः।
कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः ५८ ॥

अर्थ—जो कन्या धर्मवनके काटनेकौं कुल्हाडीसमान अर पापकी वसती अर तपरूप दया की चोरनेवाली अर वैर प्रयास ईर्षा शोक खेद इनकी भूमिकाहै ॥ ५७ ॥ अर जा विषै आसक्त जीवहैं ते अनिवारकी दुःखस्वरूप जो संसारसमुद्र तातैं न उतरैं तिस कन्याकौ दिये संतै कहा धर्म होयहै ? पापही होयहै।

भावार्थ—कन्यादानतैं पूर्वोक्त पापनिका संतान वधैहै तातैं पापहीहै धर्म नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

सर्वारंभकरं ये सौधाहं कारयंति धर्माय।
ते तरुखंडविवृद्ध्यै क्षिपंति वह्निं ज्वलज्ज्वालम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो पुरुष सर्व हिंसादिक आरंभका करनेवाला जो जिनाल[illegible] ताहि धर्मके अर्थ करावैहै ते वृक्षनके वनकी बढावनेके अर्थि ज्वा[illegible] मानहै ज्वाला जाकी ऐसी अग्निको गेरैहै।

भावार्थ—जैसैं अग्निमैं वन बढै नाहीं उलटा जल जाय तैसें जिन[illegible] बनावे धर्म नाहीं धर्मका नाश होहै ॥ ५९ ॥

यः संक्रांतौ ग्रहणे वारे वित्तं ददाति मूढमतिः।
सम्यक्त्ववनं छित्त्वा मिथ्यात्ववनं वपत्ययं ॥ ६० ॥

अर्थ—जो मूढबुद्धी पुरुष संक्रांतिविषै ग्रहणविषै आदित्यवारा[illegible] वारनिविषै धनकौं देहै सो सम्यक्त्व वनकौं छेदिकैं मिथ्यात्व वनकौं बोवैहै ॥ ६० ॥

ये ददते मृततृप्त्यै बहुधा दानानि नूनमल्पधियः।
पल्लवयितुं तरुं ते भस्मीभूतं निषिंचंति ॥ ६१ ॥

अर्थ—जे निर्बुद्धि पुरुष मरे जीवकी तृप्तिके अर्थ बहुत प्रकार दान देवैंहैं ते निश्चयकरि अग्निकरि भस्मरूप भए वृक्षकौं पल्लवित करनेकौं सींचे है।

भावार्थ—जैसैं भस्म भए वृक्षकौं सींचे पेर हरा न होय [illegible] निष्फल है तैसैं मरे जिनकी तृप्तिके अर्थ दान देना वृथा है, [illegible] पुष्ट होनेमैं पावती है ॥ ६१ ॥

विप्रगणे सति भुक्ते तृप्तिः संपद्यते यदपि सुताद्।
नान्येन भुक्ते पीते भवति तदान्यः कथं पुष्टः ॥ ६२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके समूहकौं भोजन करावे संते जो [illegible] तृप्ति होय तो काह और ही जिमै अर अन्य पुष्ट कैसे न होय ॥ ६२ ॥

दाने दत्ते पुत्रैर्मुच्यंते पापतोऽत्र यदि पितरः।
विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्तिं परो याति ॥ ६३ ॥

अर्थ—पुत्रनि करि दान दिये संतें जो पितर पापतें छूटैंहैं तो और करि चारित्र करे संतें और मुक्तिकौं प्राप्त होय ॥ ६३ ॥

गंगागतेऽस्थिजाले भवति सुगती यदि मृतोऽत्र चिरकाले।
भस्मीकृततन्वदांसः सिक्तः पल्लवयते वृक्षः ॥ ६४ ॥

अर्थ—हाड़नके समूहकौं गंगानदीविषैं गये संतें जो यहु प्राणी बहुत सुगती होयहै तो भस्म करया वृक्ष सींच्या भया हरया होयहै ॥ ६४ ॥

उपयाचंते देवान्नष्टधियो ये धनानि ददमानाः।
ते सर्वस्वं दत्त्वा नूनं क्रीणंति दुःखानि ॥ ६५ ॥

अर्थ—जे नष्टबुद्धी दान देते संते देवनि प्रति धननिकौं याचैंहैं ते निश्चयकरि सर्व अपना धन देकरि दुःखनिकौ खरीदैं हैं ॥ ६५ ॥

पूर्णेकाले देवैर्न रक्ष्यते कोऽपि नूनमुपयातः।
चित्रमिदं प्रतिबिंबैरचेतनै रक्ष्यते तेषाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—कालकौं पूर्ण भये संते निश्चयकरि कोई भी पुरुष निकट आये जे देव तिन करि नाहीं रक्षिए है, बहुरि तिन देवनिके अचेतन प्रतिबिंबनि करि रक्षा मानिये सो यहु बडा आश्चर्य है।

भावार्थ—कोई मिथ्यादृष्टी कुदेवनिकी प्रतिमा बनाय तिनकै आगैं अपना जीवना यांचै है तहां आचार्य कहैहैं कि आयु पूर्ण भये साक्षात् देवभी रक्षा न करिसकैहै तो तिनके अचेतन प्रतिबिंबनितैं जीवितव्य वाछना यहु बडे आश्चर्यकी बात है ॥ ६६ ॥

मांसं यच्छंति ये मूढा ये च गृह्णंति लोलुपाः।
द्वये वसंति ते श्वभ्रे हिंसामार्गप्रवर्तिनः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे मूढ मांसको देयहै अर जे लोलुपी मासका ग्रहण करैहैं ते दोऊ हिंसामार्गके प्रवर्तावनहारे नरकविषैं वास करैहैं ॥ ६७ ॥

धर्मार्थं ददते मांसं ये नूनं मूढबुद्धयः ।
जिजीविषंति ते दीर्घं कालकूटविषाशने ॥ ६८ ॥

अर्थ—जे मूढबुद्धी धर्मके अर्थ मासको देयहै ते निश्चयकरि कालकूट विषको खाय करि जिये चाहैहैं ॥ ६८ ॥

तादृशं यच्छतां नास्ति पापं दोषमजानताम् ।
यादृशं गृह्णतां मांसं जानतां दोषमूर्जितम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दोषके स्वरूपको न जानने ऐसे दानके देनेवाले तिनको तैसा पाप नाहीं जैसा महापाप दोषको जानते जे मांसको ग्रहण करनेवाले तिनकौं है ।

भावार्थ—कुदानका देनेवाला अज्ञानतै धर्म जानि दान देयहै सो पापी तो है ही परंतु जो जानकरि दोषसहित दान ग्रहण करै है सो ताहूतै महापापीहै तातै भोले जीवतै जानिकै प्रपंच करै तार्क कराय अधिकहै, ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

दाता दोषमजानानो दत्ते धर्मधियाऽखिलम् ।
यः स्वीकरोति तद्दानं पात्रं स्वेष न सर्वथा ॥ ७० ॥

अर्थ—दाता है सो तो दोषको न जानता संता धर्मबुद्धिकरि सर्व दान देयहै अर जो ता कुदानको अंगीकार करैहै सो सर्वथा पात्र नाहीं ॥ ७० ॥

यद्दत्ते तानि दानानि विधेयंया न शेमुषी ।
विषयवेतरां प्राणी भूरिमिर्मरहिर्तैर्विवैः ॥ ७१ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनसंभवम् ।
आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपके सुख वांछता संता जीवनिके घाततैं उपज्या जो दान ताहि ग्रहण करै है, ताकै पात्रता कैसी।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तो अपात्र है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।
न च पात्रं ग्रहीतास्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तो देने योग्य वस्तु नाहीं अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नाहीं अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाहीं, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञा है ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनानर्थः प्रवर्तितः ।
येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसनै पात्रका तो विनाश किया अर जिसनै अनर्थ प्रवर्त्तीया जानैं सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दियानै।

भावार्थ—सुवर्णादिकनै निमित्त पात्र डिगै है तातैं देनेवालेनै पात्रका नाश किया अर अधर्म प्रवर्तीया, तातैं ए दान देना योग्य नाहीं ॥ ८० ॥

आगे देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करै है,—

रागो निषूद्यते येन येन धर्मो विवर्धते ।
संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दानं प्रशस्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाश होय अर धर्म बधै अर संयम पोषै अर विवेक उपजै अर जा करि आत्मा शुद्ध होय अर अन्यका उपकार होय ॥ ८२ ॥

अर जा करि आत्मा उपशांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका बिगाड न होय सो देने योग्य वस्तु सराहिएहै ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहैं;—

अभयाहारौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् ।
दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनितैं प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि च्यार प्रकार कहिएहै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।
तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसंतैं होयहै तातैं जीवनको जीवितव्यके दानतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये।

भावार्थ—जानैं जीवनको अभयदानादि दिया तानै धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये तातैं धर्मादिकका आधार जीवनाहीहै तातैं ॥ ८४ ॥

देवैर्दत्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।
त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिवैंनै एक ग्रहण कर ऐसे देवनिकरि कह्या कोऊ पुरुष जीवितव्यको छोडकरि कहा तीन लोकको ग्रहण करैहै, अपि तु नाही करैहै।

भावार्थ—जीवितव्यकै आगै तीन लोकको गिनता कछू नाही अर जीवितव्यको छोडकरि कोऊ भी तीन लोकको न चाहैहै ॥ ८५ ॥

त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न वांछितम् ॥ ८६ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनसंभवम् ।
आत्मीयमात्मनः सौख्यं पातना तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपके सुख वांछता संता जीवनिके घाततें उपज्या जो दान ताहि ग्रहण करै है, ताके पात्रता कैसी।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तौ अपात्र है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।
न च पात्रं ग्रहीतास्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक भी देने योग्य वस्तु नाही अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नाही अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाही, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञा है ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्तितः ।
येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसनैं पात्रका भी विनाश किया अर जिसनैं अधर्म प्रवर्तीया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दियातानैं।

भावार्थ—सुवर्णादिकतैं हिंसादिक पाप उपजै है तातैं लेनेवालेका तो नाशकिया अर अधर्म प्रवर्तीया, तातैं कुदान देना योग्य नाहीं ॥ ८० ॥

आगैं देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करैहै;—

रागो निपूद्यते येन येन धर्मो विवर्द्ध्यते ।
संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते ॥ ८२

अर्थ—जा करि राग नाशकौं प्राप्त होय अर
:प्राप्त होय अर जाकरि संयम पुष्ट होय अर जाकरि

अर जा करि आत्मा उपशांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका बिगाड़ न होय सो देने योग्य वस्तु सराहिएहै ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहैं;—

अभयाद्यौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् ।
दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनितैं प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि च्यार प्रकार कहिएहै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।
तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसंतैं होयहै तातैं जीवनकौं जीवितव्यके दानतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये।

भावार्थ—जानैं जीवनकौं अभयदानादि दिया तानैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये तानैं धर्मादिकका आधार जीवनाहीहै तातैं ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।
त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमैंसैं एक ग्रहण कर ऐसैं देवनिकरि कह्या कोऊ पुरुष जीवितव्यकौं छोडकरि कहा तीनलोकको ग्रहण करैहै, अपि तु नाहीं करैहै।

भावार्थ—जीवितव्यकैं आगैं तीन लोककी संपदा कछू नाहीं जातैं जीवितव्यकौं छोडकरि कोऊ भी तीन लोककौं न चाहैहै ॥ ८५ ॥

त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
तद्रक्षता ततो [illegible] न कांक्षितम् ॥ ८६ ॥

अर जा करि आत्मा उपशांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका बिगाड न होय सो देने योग्य वस्तु कहाहिए है ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहैं;—

अभयाहारौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् ।
दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनितैं प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि च्यार प्रकार कहिएहै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।
तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसंते होयहै तातैं जीवनकौ जीवितव्यके दानतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जानैं जीवनकौं अभयदानादि दिया तानैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये तातैं धर्मादिकका आधार जीवनादिक तातैं ॥ ८४ ॥

देवैरत्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यमाणितव्ययोः ।
त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमैं एक ग्रहण कर ऐसे देवनिकरि कह्या कोऊ पुरुष जीवितव्यकौ छोडकरि कहा तीन लोककौ ग्रहण करैहै, अपि तु नाहीं करैहै ।

भावार्थ—जीवितव्यकै आगैं तीन लोककौ संपदा कछू नाहीं ऐसैं जीवितव्यकौ छोडकरि कोऊ भी तीन लोककौ न चाहै ॥ ८५ ॥

त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
तद्रक्षणा ततो दत्तं प्राणिनां किं न वांछितम् ॥ ८६ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दन संभवम् ।
आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपके सुख वांछता संता जीवनिके घाततें उपज्या जो दान ताहि ग्रहण करैहै, ताकै पात्रता कैसी ।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तो अपात्रही है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।
न च पात्रं ग्रहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तौ देने योग्य वस्तु नाहीं अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नाहीं अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाहीं, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञा है ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्तितः ।
येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—तिसनैं पात्रका तौ विनाश किया अर तिसनैं अधर्म प्रवर्त्तीया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दियातातैं।

भावार्थ—सुवर्णादिकतैं हिंसादिक पाप उपजैहै तातैं लेनेवालेका तौ नाशकिया अर अधर्म प्रवर्त्तीया, तातैं कुदान देना योग्य नाहीं ॥ ८० ॥

आगै देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करैहै;—

रागो निरूप्यते येन येन धर्मो विवर्द्धते ।
संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥
आत्मोपलभ्यते येन येनोपक्रियते परः ।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दानं प्रजल्प्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाशकों प्राप्त होय अर जाकरि धर्म वृद्धिकों प्राप्त होय अर जाकरि संयम पुष्ट होय अर जाकरि विवेक उपजै ॥ ८१ ॥

अर्थ—संयमका आधार जो तपस्वीनका शरीर सो मुनिका धारक जो पुरुष तापकरि यत्नतें प्रासुक औषधनि करि रक्षा करनी योग्य है ॥ १०२ ॥

आगें शास्त्रदानका वर्णन करैहैं।

विवेको जन्यते येन संयमो येन पाल्यते।
धर्मः प्रकाश्यते येन मोहो येन विहन्यते ॥ १०३ ॥
मनो नियम्यते येन रागो येन निहन्यते।
तद्देयं भव्यजीवानां शास्त्रं निर्धूतकल्मषम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जाकरि विवेक उपजाइए अर जाकरि संयम पालिए अर जाकरि धर्म प्रकाशिए अर जाकरि मोह हनिए ॥ १०३ ॥ अर जाकरि मन निग्रह कीजिए अर जाकरि राग छेदिए सो पाप रहित शास्त्र भव्यजीवनिकौ देना योग्य है ॥ १०४ ॥

विवेको न विना शास्त्रं तमृते न तपो यतः।
ततस्तपोविधानार्थं देयं शास्त्रमनिंदितम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जातै शास्त्रविना विवेक नाहीं अर विवेकविना तप नाहीं तातै तप करनेके अर्थि अनिंदित शास्त्र देना योग्य है ॥ १०५ ॥

आगे और भी दान देने योग्य वस्तुनिकौ कहैहैं।

मठप्रपाश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम्।
दातव्यानि विधानेन रत्नत्रितयवृद्धये ॥ १०६ ॥
यथं भव्यजनस्यापि पात्राणामुपकारकम्।
दानं यथायथं देयं वैयावृत्त्यविधायिना ॥ १०७ ॥

अर्थ—मठ पाव [illegible] रत्नत्रयकी वृद्धिके [illegible] देना योग्य है ॥ १०६ ॥ वैयावृत्य

अर जा करि आत्मा उपहास होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका विगाड़ न होय सो देने योग्य वस्तु कहिए है ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहै हैं;—

> अभयाहारौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् ।
> दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ आहारदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ [redacted] भेदनितैं प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि च्यारि प्रकार कहिए है ॥ ८३ ॥

> धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।
> तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसतैं होय है तातैं जीवनको जीवितव्यके दानतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जानै जीवनको अभयदानादि दिया तानै धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये जातैं धर्मादिकका आधार जीवना ही है ॥ ८४ ॥

> दैवैर्दत्ते पूर्णार्घ्ये त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।
> त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमैं एक ग्रहण कर ऐसे देवनिकरि कह्या कोऊ पुरुष जीवितव्यकौ छोड़करि तीन लोकको ग्रहण करै, अपि तु नाहीं करै है ।

भावार्थ—जीवितव्यकै आगै तीन लोककी संपदा कछू नाहीं है जीवितव्यकौ छोड़करि कोऊ भी तीन लोककौं न चाहै है ॥ ८५ ॥

> त्रैलोक्ये न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य वर्तते ।
> तद्ददता ततो दत्तं प्राणिनां किं न वांछितम् ॥ ८६ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दन संभवम् ।
आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपकै सुख वाछता संता जीवनिके घाततैं उपज्या जो दान ताहि ग्रहण करैहै, ताकै पात्रता कैसी।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तो अपात्रही है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।
न च पात्रं ग्रहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तौ देने योग्य वस्तु नाहीं अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नाहीं अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाहीं, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञाहै ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्त्तितः ।
येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—तिसनैं पात्रका तौ विनाश किया अर तिसनैं अधर्म प्रवर्त्ताया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दियातानैं।

भावार्थ—सुवर्णादिकनै हिंसादिक पाप उपजैहै तातैं लेनेवालेका तो नाशकिया अर अधर्म प्रवर्त्ताया, तातैं कुदान देना योग्य नाहीं ॥ ८० ॥

आगैं देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करैहै;—

रागो निपूयते येन येन धर्मो विवर्द्धयते ।
संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाशकों प्राप्त होय अर जाकरि धर्म वृद्धिकों प्राप्त होय अर जाकरि संयम पुष्ट होय अर जाकरि विवेक उपजै ॥ ८१ ॥

अर जा करि आत्मा उपशांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका बिगाड़ न होय सो देने योग्य वस्तु कहिए है ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहैं हैं;—

अभयान्नौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् ।
दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनिकरि प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि च्यार प्रकार कहिए है ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।
तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसंतैं होय है तातैं जीवनको जीवितव्यके दानतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जानैं जीवनकौं अभयदानादि दिया तानैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये तातैं धर्मादिकका आधार जीवनादिक तातैं ॥ ८४ ॥

दैवैस्ततो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।
त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमैं एक वरण कर ऐसैं देवनिकरि कह्या कोऊ पुरुष जीवितव्यकौ छोड़करि कहा तीन लोककौ वरण करै है, अपि तु नाहीं करै है ।

भावार्थ—जीवितव्यकै आगैं तीन लोककी संपदा कछू नाहीं जातैं जीवितव्यकौ छोड़करि कोऊ भी तीन लोककौ न चाहै है ॥ ८५ ॥

त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न वाञ्छितम् ॥ ८६ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दन संभवम् ।
आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपकै सुख वांछता संता जीवनिके घाततैं उपज्या जो दान ताहि ग्रहण करैहै, ताके पात्रता कैसी।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तो अपात्र है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।
न च पात्रं ग्रहीतास्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तौ देने योग्य वस्तु नाहीं अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नाहीं अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाहीं, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञा है ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्तितः ।
येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसनें पात्रका तौ विनाश किया अर तिसनें अधर्म प्रवर्ताया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दिया तानैं।

भावार्थ—सुवर्णादिकतैं हिंसादिक पाप उपजै है तातैं देनेवालेनें तौ पात्र नष्ट किया अर अधर्म प्रवर्ताया, तातैं कुदान देना योग्य नाहीं ॥ ८० ॥

आगैं देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करैहै;—

रागो निधूयते येन येन धर्मो विवर्द्धते ।
संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाशको प्राप्त होय अर जाकरि धर्म वृद्धिको प्राप्त होय अर जाकरि संयम पुष्ट होय अर जाकरि विवेक उपजै ॥ ८१ ॥

अर जा करि आत्मा उपशांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका विगाड न होय सो देने योग्य वस्तु सराहिएहै ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहैं;—

अभयाहारौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् ।
दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनितैं प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि च्यार प्रकार कहिएहै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।
तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसंतैं होयहै तातैं जीवनकों जीवितव्यके दानतैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये।

भावार्थ—जानैं जीवनकों अभयदानादि दिया तानैं धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये जानैं धर्मादिकका आधार जीवनाहीहै तातैं ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।
त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमैंसैं एक ग्रहण कर ऐसैं देवनिकरि कह्या कोऊ पुरुष जीवितव्यकों छोडकरि कहा तीनलोककों ग्रहण करैहै, अपि तु नाहीं करैहै।

भावार्थ—जीवितव्यकैं आगैं तीन लोककी संपदा कछू नाहीं जातैं जीवितव्यकों छोडकरि कोऊ भी तीन लोककों न चाहैहै ॥ ८५ ॥

त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न कांक्षितम् ॥ ८६ ॥

सकलसत्त्वहितोद्यतचेतनो
वितथकर्कशवाक्यपराङ्मुखः ॥ ३४ ॥
धनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो
नियमसंयमशीलविभूषितः ।
कृतकषायहृषीकविनिर्जयः
प्रणिगदंति कुपात्रमिमं बुधाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो परकों कठिन है आचरण जाका ऐसे आचरणकौं आचरैहै, अर विकट अर भयानक ऐसे मिथ्यादर्शन करि वासित है, बहुरि सर्व जीवनिके हितमें उद्यमी है मन जाका, अर झूठ अर कठोर ऐसे वचनतें पराङ्मुख है ॥ ३४ ॥ बहुरि धन स्त्री परिग्रहतें निस्पृही है, अर नियम संयम शील इन करि भूषित है, बहुरि करया है कषाय अर इंद्रियनिका पराजय जानें ऐसा है, इस पुरुषकौं पंडित जनहैं ते कुपात्र कहैहैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो कायक्लेशादि करै है अर व्रत धारै अर कषाय इंद्रियनिकौं भी जीतै है अर सम्यक्त रहित है सो कुपात्र है ऐसा जानना ॥ ३४-३५ ॥

आगै अपात्रका स्वरूप कहैहैं;—

गतकृपः प्रणिहंति शरीरिणो
वदति यो वितथं परुषं वचः ।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा
[illegible] भजतेऽङ्गनाम् ॥ ३६ ॥
[illegible] [illegible]परिग्रहः
[illegible]मयंत्रितमानसः

भवति यो जिन शासनभासकः
सततनिंदनगर्हणचंचुरः ।
स्वपरतत्वविचारण कोविदो
व्रतविधाननिरुत्सुकमानसः ॥ ३२ ॥

जिनपतीरिततत्वविचक्षणो
विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः ।
सकलजंतुदयार्द्रितचेतन
स्तमिह पात्रमुशंति जघन्यकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—चंद्रमाकी किरण समान निर्मल है सम्यग्दर्शन जाका बहुरि जन्म जरा मरण की पीडातैं भय है अर करयाहै प्यार प्रकार संघके हितनिविषै हित कहिये प्रीतिरूप भाव जानै अर संसारके भोग शरीरविषै विरक्त है बुद्धि जाकी ॥ ३१ ॥ बहुरि जो जिन शासनका प्रकाशक है, अर निरंतर अपणी निंदा गर्हा विषै प्रवीण है, बहुरि आत्मतत्व अर परतत्व इनके विचारमैं पंडित है, बहुरि व्रतनिके आचरणविषै निरुत्सुक है मन जाका। भावार्थ व्रत न धार सकै है ॥३२॥ बहुरि जिनभाषित तत्वनिविषै विचक्षण है, अर बडा जो धर्मका फल ताके देखने तै संतुष्ट है।

भावार्थ—धर्मका मुख्य फल जो मोक्ष ता सिवाय अन्य फल न चाहै, अर समस्त प्राणीनिकी दया करि जीव रक्षा है चित्त जाका ऐसा जो अविरत सम्यग्दृष्टी ताहि इहां जघन्यपात्र कहै हैं ॥ ३३ ॥

आगे कुपात्रका स्वरूप कहै हैं.—

भवति यत्करणं परदूषणं
त्रिकटघोरकुदर्शनवासितः ।

सकलसत्त्वहितोद्यमवंचनो
विषयकर्कशवाक्यपराङ्मुखः ॥ ३४ ॥

धनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो
नियमसंयमशीलविभूषितः ।
हतकषायहृषीकविनिर्जयः
प्रणिगदंति बुधाश्रमिमं बुधाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पापकी कठिन है आचरण आरा ऐसे आचरणके [illegible] नाहिं है, अर विकट अर भयानक ऐसे मिथ्यादर्शन करि सहित है [illegible] सर्व जीवनिके हितकी उद्यमी है मन जाका, अर [illegible] वचननें पराङ्मुख है ॥ ३४ ॥ बहुरि धन स्त्री परिग्रहते [illegible] है, अर नियम संयम शील इन करि भूषित है, बहुरि कषाय है [illegible] इंद्रियनिका पराजय जाने ऐसा है, इस पुरुषको पंडित [illegible] कहे हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो पापके स्याग करे है अर [illegible] सो [illegible] है [illegible] कहना ॥ ३४ ३५ ॥

आगे [illegible] स्वरूप कहैं;—

[illegible] प्रविशंति दारिणो
वहति यो विनये परमे मनः ।
हरति वित्तमहत्यमनेकधा
मदनवाणहतो [illegible] ॥ ३६ ॥
[illegible]
[illegible]

कृमिकुलाकुलितं ग्रसते पलं
कलिलकर्मविधानविशारदः ॥ ३७ ॥
दृढकुटुंबपरिग्रहपंजरः
प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः ।
गुरुकपायभुजंगमसेवितं
विपयलोलमपात्रमुशंति तम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो दयारहित जीवनकौं हनैहै बहुरि झूठ अर कठोर वचनकौं बोलैहै, अर विना दिये धनकौं अनेक प्रकार हरैहै, अर कामबाणकरि पीडित भया संता स्त्रीकौं सेवैहै ॥ ३६ ॥ अर नाना दोषनिका करनेवाला जो परिग्रह ता सहितहै, अर नाहींहै वशीभूत मन जाका ऐसा भया संता मदिराकौं पीवैहै, अर कीडाके समूहकरि व्याप्त जो मांस ताहि खावैहै अर पाप कर्म करणेविषै प्रवीणहै ॥ ३७ ॥ अर दृढ कुटुंब परिग्रहके पींजरासहितहै, बहुरि समता शील गुणव्रत इनकरि वर्जितहै तिस विषयलोलुपीकौं आचार्य अपात्र कहैहैं, कैसाहै सो तीव्र कषायरूप सर्पकरि सेवितहै ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्व अर व्रतादिक इन दोऊनि करि रहित है सो अपात्रहै ॥

विबुद्धय पात्रं बहुधेति पंडितै
र्विशुद्धबुद्धया गुणदोषभाजनम् ।
विहाय गर्ह्यं परिगृह्य पावनं
शिवाय दानं विधिना वितीर्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—या प्रकार पंडितनिकरि निर्मलबुद्धिकरि गुण अर दोषनिका भाजन जो बहुतप्रकार पात्र ताहि जानकै अर निंदनीककौं त्यागिकै अर पवित्रकौं ग्रहण करकै मोक्षके अर्थ विधिसहित दान दीजियेहै ।

भावार्थ—या प्रकार गुण दोषनिकूं पात्र अर अपात्रनिकूं जानिकै मोक्षके अर्थ अपात्रनिकूं त्यागकै पात्रनिकूं दान देना योग्य है ॥ ४९ ॥

आगे उत्तम पात्रनिकूं आहार देनेकी विधि कहै हैं;—

कृतोपवासं गतपापविग्रहं
निजालयद्वारगतो निरीक्ष्य ।
ससंभ्रमं स्वीकुरुते तपोधनं
ममोऽद्य सिद्धिरिति तुष्टमानसः ॥ ५० ॥
गुणैरनूने पुण्यमये गृहान्तरे
तपस्विने स्थापयते विधानतः ।
मनीषितानेककलत्रसादायकं
सुदुर्लभं रत्ननिधानमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
अनेकजन्मार्जितकर्मकर्षणं
स्वपाणिभिस्तस्य पवित्रवारिणा ।
स सादरः क्षालयते पदद्वयं
विशुद्धये शीलगुणाभिवाञ्छकः ॥ ५२ ॥
प्रसूनगंधाक्षतदीपकादिभिः
प्रपूज्य सम्यक्करपंकजद्वयम् ।
मुदा मुमुक्षोः पदपंकजद्वयं
स वंदते मस्तकपाणिकुड्मलः ॥ ५३ ॥
मनोवचःकायविशुद्धिदेशना
विधाय शिवसम्पदोऽर्थिनः ।
चतुर्विधाहारमहार्घ्यनिष्कृतं
ददाति यः प्रासुकमन्नमर्थितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—करयाहै उज्ज्वल धोवती दुपट्टा सहित पवित्र शरीर जाने बहुरि अपने घरके द्वारमें प्राप्त भया आकुलता रहित ऐसा भया संता मुनिराजकों अंगीकार करैहै, कैसाहै सो नमस्कार होउ, हे मुनींद्र तिष्ठो ऐसें करयाहै शब्द जानें ॥ ४० ॥ बहुरि ता पीछै भले प्रकार कियाहै संस्कार जाका,

भावार्थ—दयासहित लगाहै चौका आदि जहां ऐसे अतिशय करि प्रशंसा योग्य घरके भीतर तपस्वीकों विधानतें स्थापित करै, कैसाहै तपस्वी वांछित अनेक फलका देनेवालाहै, अर दूषण रहित रत्नकी ज्यों भले प्रकार दुर्लभहै ॥ ४१ ॥ अनेक जन्मकरि उपार्जे जे कर्म तिनका फाटनेवाला ऐसा जो तपोधन मुनि ताके तहां पवित्र जल करि ले आदरसहित चरण युगलकों मुक्तिके अर्थ प्रक्षालन करैहै, कैसेहैं मुनि मुक्तिके सुखकीहै अभिलाषा जाकै ॥ ४२ ॥ बहुरि मनुष्य अर देवनके समूहकरि पूजित जो मोक्षाभिलाषी मुनिका चरणयुगल ताहि पुष्प गंध अक्षत दीपक इत्यादि द्रव्यनि करि हर्षसहित वंदैहै, अर मस्तकसों लगा-येहै हस्तकमल जानें ॥ ४३ ॥ बहुरि नाश कियाहै कामरूप वैरी जानें ऐसे मुनिकों मन वचन कायकी विशुद्धिता भले प्रकार करै आपके अर्थ किया जो चार प्रकार प्रासुक आहार ताहि देयहै, कैसाहै सो पुण्य नाहीं हरणे योग्यहै निश्चय जाका,

भावार्थ—दृढ है श्रद्धान जाका ऐसाहै ॥ ४४ ॥

अनेन दत्तं विधिना तपस्विनां
महाफलं स्तोकमपि प्रजायते ।
वसुंधरायां वटपादपस्य किं
न बीजमुप्तं पर्येति विस्तरम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—इस विधिसहित तपस्वीनिकौं थोडा दिया जो दान सो महाफल उपजावै है जैसैं पृथ्वीविषैं बोया जो वटवृक्षका बीज सो कहा उत्कृष्ट विस्तारकौं प्राप्त होय है, होयही है ॥ ४५ ॥

निवेशितं बीजमिलातलेऽल्पके
विना विधानं न फलावहं यथा ।
तथा न पात्राय वितीर्णमञ्जसा
ददाति दानं विधिना विना फलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसैं निर्दोष पृथ्वीतल विषैं बोया भया बीज है सो विधान जो जतन आदि क्रिया ता विना फलदाता न होय है तैसैं पात्रके अर्थ भले प्रकार दिया भया दान है सो विधि जो पड़गाहन आदि ता विना फलकौं न देय है ॥ ४६ ॥

सदातिथिभ्यो विनयं वितन्वता
निजं प्रदेयं प्रियजल्पिना धनम् ।
प्रजायते कर्कशभाषिणः स्फुटं
धनं वितीर्णं गुरुवैरकारणम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—विनयको विस्तारता अर मिष्ट वचन बोलता जो पुरुष ताकरि पात्रनिके अर्थ अपना धन कहिये यथायोग्य आहारादि वस्तु देना योग्य है जातैं कठोर वचन बोलनेवालेकै दिया भया वस्तु है सो प्रकटपने महावैरका कारण होयहै ॥ ४७ ॥

निगद्य यः कर्कशमप्रियं जनो
निजं च दत्ते द्रविणं शठत्वतः ।
सुखाय दुःखोदयकारणं परं
मूल्येन गृह्णाति स दुर्मनाः कलिम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मिठी कठोर वाणी बोलै है अर मुनिनकौं अन्न दान देय है सो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
जो पाप [illegible] [illegible] [illegible] प्रगट करै है।

भावार्थ—जो थोड़ा वचन बोलकै दान देवै सो [illegible] करै है ॥ ४८ ॥

सम्यग्मक्तिं कुर्वतः संयतेभ्यो
द्रव्यं भावं कालमालोक्य दत्तम्।
दातुर्दानं भूरि पुण्यं विधत्ते।
सामग्रीतः सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ ४९ ॥

अर्थ—भले प्रकार भक्तिकौं करता जो दाता ताके द्रव्य भाव काल इनकौं विचारकै दिया भया दानहै सो घने पुण्यकौं उपजावैहै, जातैं सर्व कार्यकी प्रसिद्धि है सो सामग्रीतैं होय है।

भावार्थ—भक्तिसहित द्रव्यादिक पूर्वं कहे प्रमाण विचारकै पात्रनिके अर्थ थोड़ा भी दिया दान है सो बहुत पुण्यबंधकौं करै है, इहां द्रव्य भाव काल तो कहे अर क्षेत्र पात्रनिकौं जान लेना ॥

वलाहकादेकरसं विनिर्गतं
यथा पयो भूरिरसं निसर्गतः
विचित्रमाधारमवाप्य जायते
तथा स्फुटं दानमपि प्रदातृतः ॥५०॥

अर्थ—जैसैं मेघतैं निकस्या जो एक रसरूप जल सो स्वभावहीतैं नाना प्रकार आधारकौं पाय करि अनेक रसरूप होय है तैसैं दातातैं निकस्या दान भी प्रकटपने नाना प्रकार पात्रनिकौं पाय अनेक प्रकाररूप परिणमै है।

भावार्थ—जैसें पात्रकौं दान दीजिए तैसाही कर्मबंध स्वयमेव होय है, ऐसा जानना ॥ ५० ॥

घटे यथाऽऽमे सलिलं निवेशितं
पलायते क्षिप्रमसौ च भिद्यते।
तथा वितीर्णं विगुणाय निष्फलं
प्रजायते दानमसौ च नश्यति ॥ ५१ ॥

अर्थ—जैसें काचे घट विषैं धरया जो जल है सो शीघ्र निकस जाय है अर घट भी फूट जाय है तैसें गुणरहित पुरुषकै अर्थि दिया भया दान है सो निष्फल होय है अर सो देनेवाला भी नाशकौ प्राप्त होय है पापबंध करै है, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

विना विवेकेन यथा तपस्विता
यथा पटुत्वेन विना सरस्वती।
तथा विधानेन विना वदान्यता
न जायते धर्मकरी कदाचन ॥ ५२ ॥

अर्थ—जैसें विना विवेक तपस्वीपना अर चातुर्यपना विना सरस्वती कदाचित् गुणकारी न होय है तैसें पूर्वोक्त विधान विना दान देना कदाच गुणकारी नाहीं ॥ ५२ ॥

यथा वितीर्णं भुजगाय पावनं
प्रजायते प्राणहरं विषं पयः।
भवत्यपात्राय धनं गुणोज्झते
तथा प्रदत्तं बहुदोषकारणम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जैसें सर्पकै अर्थि दिया भया जो पवित्र दूध सो प्राणनका हरनेवाला विष होय है तैसें अपात्रकै अर्थि गुणनिकरि रहितकौं जो धन सो दिया भया बहुत दोषका कारण होय है ॥ ५३ ॥

वितीर्य यो दानमसंयतात्मने
जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके
समीहते सस्यमपास्तदूषणम्॥ ५४॥

जो मनुष्य असंयत मनुष्यके अर्थ दान देकरि पुण्य है लक्षण जाका ऐसे फलकों चाहे है सो जलती अग्निविषैं बीजकों बोय करि दूषणरहित धान्यकों वांछे है।

भावार्थ—विषय कषायनि सहित मदोन्मत्त मिथ्यादृष्टीनकों दान देकै पुण्य चाहे है सो नाहीं होय है। बहुरि इहां असंयमीकों दान निषेध्या सो दुःखित जीवनिकों करुणा दान नाहीं निषेध्या है, ऐसा जानना॥५४॥

विमुच्य यः पात्रमवद्यविच्छिदं
कुधीरपात्राय ददाति भोजनम्।
स कर्षितं क्षेत्रमपोह्य सुन्दरं
फलाय बीजं क्षिपते बतोपले॥ ५५॥

अर्थ—जो पुरुष पापके नाशके अर्थ पात्रकों छोडके अपात्रकों भोजन देय है तहां आचार्य कहै है बडे खेदकी बात है जो सुंदर जोते भये खेतकों छोडकरि पत्थर विषैं बीजकों खेपै है॥ ५५॥

यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं
विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम्।
प्ररूढमिथ्यात्वमलाय देहिने
तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति॥ ५६॥

अर्थ—जैसैं पुष्टिकारी जो दूध सो धूरकी धारने वाली जो तूंवडी विषैं धरया भया नाशकों प्राप्त होय है तैसैं फैल रहा है मिथ्यात्वरूप मल जाकै ऐसे प्राणीकों दिया भया द्रव्य है सो नाशकों प्राप्त होय है।

भावार्थ—जैसे घृत भरी कटुक तूंबड़ी विषैं भरया दूध नाशकौं प्राप्त होय अर कटुक परिणमै तैसैं मिथ्यादृष्टीकौं दिया धन नाशकौं प्राप्त होय है अर पापबंध करै है, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

यो दातारं मन्मथाक्रान्तचित्तः
संसारार्तेः पाति पापावलीढः ।
अंभोराशेर्दुस्तरा लोहमय्या
नावा लोहं तार्यमाणं न दृष्टम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—कामकरि व्याप्त है चित्त जाका ऐसा पापरूप पुरुष है सो दाताकौं संसारकी पीड़ातैं न बचावै है, जातैं दुस्तर समुद्रतैं लोहमयी नावकरि लोह तिराया न देख्या ॥ ५७ ॥

ग्रंथारंभक्रोधलोभादि दुष्टो
ग्रंथारंभक्रोधलोभादिदुष्टम् ।
जन्माराते रक्षितुं तुल्यदोषो
नूनं शक्तो नो गृहस्थो गृहस्थम् ॥५८॥

अर्थ—आचार्य तर्क करि कहै है, अहो ! जो परिग्रह आरंभ क्रोध लोभ इत्यादिकनि करि दुष्ट है परिग्रहधारी गुरु है सो परिग्रह आरंभ क्रोध लोभ आदि करि दुष्ट जो गृहस्थ ताहि संसार वैरीतै रक्षा करनेकौं समर्थ नाहीं, कैसा है सो गुरु गृहस्थसमानतै दोष जा विषै ।

भावार्थ—परिग्रहादि दोषनि करि जैसा दाता तैसाही पात्र सो दोषसहित पात्रका कैसे भला करै ऐसी आचार्यने तर्क करी है, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

लोभमोहमदमत्सरदीनो
लोभमोहमदमत्सरदीनम् ।

पाति जन्मजलधेरपरागो
रागवंतमपहस्तितपापः ॥ ५९ ॥

अर्थ—दूर किया है पाप जानै ऐसा वीतराग लोभ मोह मद मानकरि रहित पात्र है सो लोभ मोह मद मत्सर मावनिका घर जो रागी पुरुष ताहि संसार समुद्रतैं रक्षा करै है ।

भावार्थ—रागी जीवनकौं तारनेकौं वीतरागही समर्थ है अन्य नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५९ ॥

सर्वदोषनिचिताय फलार्थी
यो ददाति धनमस्तविचारः ।
तद्दधाति स मलिम्लुचहस्ते
कानने पुनरपि ग्रहणाय ॥ ६० ॥

अर्थ—जो विचाररहित पुरुष फलका अर्थी दोषनि करि व्याप्त पुरुषके अर्थ धनकौं देय है सो वनविषै चौरनके हाथमैं फेर पाछा लेनेकै अर्थ धन सौंपै है ॥ ६० ॥

दानं यतिभ्यो ददता विधानतो
मतिर्विधेया भवदुःखशांतये ।
दुरंतसंसारपयोधिपातिनी
न भोगबुद्धिर्मनसापि धीमता ॥ ६१ ॥

अर्थ—विधानसहित यतीनिके अर्थि दान देता जो पुरुष ता करि संसार दुःखकी शांतिके अर्थि बुद्धि करणी योग्य है, अर दुरंत है अंत जाका ऐसा जो संसारसमुद्र ताविषै पटकने वाली जो भोगनिकी बुद्धि सो बुद्धिवानकरि मनकरि भी करणी योग्य नाहीं ।

भावार्थ—दान देकरि परमार्थहीकी बुद्धि करणी भोगनिकी अभिलाषा न करणी ॥ ६१ ॥

प्रदाय दानं व्रतिनां महात्मनां
यो याचते भोगमनर्थकारणम्।
मनीषितानेकसुखप्रदं मणिं
प्रदाय गृह्णाति स दुर्जरं विषम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो पुरुष महात्मा व्रतीनकौं दान देकरि अनर्थ का कारण जो भोग ताहि वाछैहै सो वाछित अनेक सुखका देनेवाला जो रत्न ताहि देकरि दुर्जर विषकौं ग्रहण करैहै ॥ ६२ ॥

पन्नागानामिव प्राणिवित्रासिना
मर्जने रक्षणे पोषणे सेवने।
यांति घोराणि दुःखानि येषां जनः
संति भोगाः कथं ते मतः धीमताम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—प्राणीनकौ दुःख देनेवाले सर्पनके समान जो भोग तिनके उपजावने विषै रक्षण विषै पोषणे विषै सेवने विषै भयानक दुःखनिकौ जीव प्राप्त होयहै ते भोग बुद्धिवाननि के मने भए कैसें होय।

भावार्थ—भोगनिकौं बुद्धिमान सुखकारी कैसें मानै, अपि तु नाहीं मानै ॥ ६३ ॥

श्रद्धीयमाणा अपि वंचयंते
निषेव्यमाणा अपि मारयंते।
ये पोष्यमाणा अपि पीडयंते
ते संति भोगाः कथमर्थनीयाः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जे भोग प्रीति करे भए भी ठिगैहैं अर सेये भयेभी मारैहै अर पोषे भएभी पीडा उपजावै है ते भोग कैसे वाछने योग्य होय हैं, अपि तु नाहीं होय हैं ॥ ६४ ॥

उत्पद्यमाना निलयं स्वकीयं
ये हव्यवाहा इव धार्यमाणाः।
प्लोषयंते हृदयं ज्वलंत
स्ते याचनीयाः कथमिंद्रियार्थाः ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैसें जाज्वल्यमान उपजी भई अग्नि हैं ते अपने स्थानकों जलावै तैसें ये भोग इच्छाकरि धरेभए मनविषैं जलते संते हृदयकों जलावै है ते इंद्रियनिके भोग कैसें वांछने योग्य होय ॥ ६५ ॥

दवप्रलापभ्रमशोकमूर्च्छाः
संतापयंतः सकलं शरीरम्।
ये दुर्निवारां जनयंति तृष्णां
ज्वरा इवेते न सुखाय संति ॥ ६६ ॥

अर्थ—दिवाहै प्रलाप कहिए वृथा बकवाद अर भ्रमकहिये औरका और जानना अर शोक अर अचेतनपना जिननैं बहुरि समस्त शरीरकौं संताप उपजावनै अर दुर्निवार तृष्णाकौं उपजावैहैं ऐसे ज्वरनि के समान जे भोग ते सुखके अर्थ नाही हैं ॥ ६६ ॥

विश्राण्य दानं कुधियो यतिभ्यो
ये प्रार्थयंते विषयोपभोगम्।
ते लांगलंगा ननु काचनीयं
विलिख्य किंपाकवनं वपंति ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे कुबुद्धि यतीनिके अर्थ दान देकरि विषयभोग कौ चाहै हैं ते पुरुष सुवर्णमयी हलनि करि पृथ्वीकौ जोत करि किंपाकनिके वनकौ बोवै हैं।

भावार्थ—किंपाकका फल खानेमें तौ प्रिय लागैहै अर पाछैं प्राण हरैहै तैसें विषय भी भोगते तौ नीके लागैहैं अर परिपाकमें महादुःख देयहैं, तातैं यह दृष्टांत दियाहै ॥ ६७ ॥

भिंदंति सूत्राय मणिं महर्घं
काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनंति ।
नावं च लोहाय विपाटयंते
भोगाय दानं ननु ये ददंते ॥ ६८ ॥

अर्थ—आचार्य तर्क करैहैं जो जे पुरुष भोगनके अर्थ दान देयहैं ते डोराके अर्थ महामोल रत्नकौं फोडैहैं, अर काष्ठके अर्थ कल्पवृक्षकौं काटैहैं अर लोहके अर्थ जहाजकौं तोडैहैं ॥ ६८ ॥

परं दुरापं दमितेंद्रियाश्वा
धरंति धर्मं विषयार्थिनो ये ।
पाषाणमाधाय गले महांतं
विशंति ते नीरमलभ्यपारम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दमेहैं इंद्रियरूप घोडे जिननैं ऐसे जे पुरुष औरनि करि अराध्य जो धर्म ताहि विषयार्थी भए संते धारैहैं ते बडे बडे पाषाणकौं गले विषै धारकैं नाहीं लेनेयोग्य है पार जाका ऐसा जो जल ता प्रति प्रवेश करैहैं ॥ ६९ ॥

दिने दिने ये परिचर्यमाणा
विवर्द्धमानाः परिपीडयंते ।
ते क्रूर रोगा इव संति भोगा
विभिंदनीया विदुषोऽर्थनीयाः ॥७०॥

अर्थ—जे भोग जिन जिन जीवनि प्रार्थना किये भए, वर्तमान नर भवे जैसे रोग पीड़ा उपजावै तैसे पीड़ा उपजावैहैं ते निरंतर भोग कौन पंडित जनकौं वांछने योग्य होयहै, अपि तु नाहीं होयहै ॥ ७०॥

> प्रयच्छंति सौख्यं सुराधीश्वरेभ्यो
> न ये जातु भोगाः कथं ते परेभ्यः ।
> निघ्नंति ये मत्तमत्र द्विपेंद्रं
> न कंठीरवास्ते कुरंगं त्यजंति ॥७१॥

अर्थ—जे भोग सुरनिके नायक जो इंद्र तिनके अर्थ ही कदाचित् सुख न देयहैं ते औरनिके अर्थ सुख कैसें देय, इहां दृष्टांत कहैहैं–जे सिंह इहां लोकमें मतवारे गजेंद्रकौं मारैहैं ते हिरणकौं नाहीं छोडैहैं ॥ ७१ ॥

> न याचनीयाविदुषेति दोषं
> विज्ञाय रोगा इव जातु भोगाः ।
> किं प्राणहारित्वमवेक्षमाणो
> जिजीविषुः खादति कालकूटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—या प्रकार दोषकौं जानिकैं पंडितजन करि रोग समान जे भोग ते कदाचित् वांछने योग्य नाहीं, इहां दृष्टांत कहैहैं—प्राणहारीपणेकौं देखता जीवनेका वांछक जो पुरुष है सो कहा कालकूटकौं खाय है, अपि तु नाहीं खाय है ॥ ७२ ॥

> भोगाः संपद्यमानाः सुरमनुजभवार्थितितप्राप्तसौख्या
> याच्यंते लब्धुकामैः कथमपविपदं धर्मतो मुक्तिकांताम् ।

गस्यं स्वीकर्तुकामाः क्षुद्रुस्तरतमस्कांडविच्छेददक्षं
स्वीकर्तुं किं पलालं फलममलधियः कुर्वते कर्षणं हि ॥

अर्थ—धर्मतें मुक्तिस्त्रीकों प्राप्त होनेकी है इच्छा जिनके ऐसे पुरुषनि करि याचित प्राप्त किये हैं गुण जिननें ऐसे प्राप्त भए जे देव मनुष्य जनित भोग ते विपदारूप कोई प्रकार याचिए है, अपि तु नाहीं याचिए है; जातें धान्यकों अंगीकार करनेके वांछक जे निर्मलबुद्धि पुरुष हैं ते कहा प्यार फलकों अंगीकार करनेकों खेती करें हैं, अपि तु नाहीं करें हैं, कैसा है धान्य पीडारूप जो बडा अंधकारका समूह ताके छेदने विषै प्रवीण है।

भावार्थ—जैसे खेतीमें मुख्य फल तौ धान्य है अर पियार आदि स्वयमेव उपजै है तैसे धर्मका फल तौ मोक्ष है इंद्रादिक पद तौ विना चाहे शुभोपयोग तैं स्वयमेव उपजै है, तातैं इंद्रादिक पदके योग्य धर्मका वांछना योग्य नाहीं ॥ ७३ ॥

त्यक्त्वा भोगाभिलाषं भवमरणजरारण्यनिर्मूलनार्थं
दत्ते दानं मुदायो नयविनयपरः संयतेभ्यो यतिभ्यः।
भुक्त्वा भोगानरोगानमरवरवधूलोचनांभोजभानु
र्नित्यां निर्वाणलक्ष्मीममितगतियतिप्रार्थनीयां स याति

अर्थ—नीति अर विनयविषै तत्पर भया जो पुरुष जन्म जरा मरणरूप वनके नाशके अर्थ भोगनिकी वांछाकों त्यागिकै हर्षसहित संयमी मुनीश्वरनिके अर्थ दान देय है सो देवांगनाके नयनकमलकों सूर्यसमान देव होय रोगरहित भोगनिकों भोगि मोक्ष लक्ष्मीकों प्राप्त होय है, कैसी है मोक्षलक्ष्मी अविनाशी है अर अप्रमाण है ज्ञान जिनका ऐसे यतीन करि वांछने योग्य है ॥ ७४ ॥

दोहा।

भोग चाह तजि साधुकौं देत दान जो जीव।
सुरसुख सब लहि अमितगति होय मोक्षतिय पीव॥

इत्युपासकाचारे दशमः परिच्छेदः

इस प्रकार अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं
दशवां परिच्छेद पूर्ण भया।

अथ एकादश परिच्छेद ।



फलं नाभयदानस्य वक्तुं केनाऽपि पार्यते ।
यस्याऽत्यल्पं सुरे जिह्वा व्यापियंते सहस्रशः ॥ १ ॥

अर्थ—अभयदानके फलकूं कहनेकौं कोऊ करि भी समर्थ हूजिए है, अपि तु नाहीं हूजिए है; जिसके कहनेकौं कल्पकाल पर्यंत हजारौं जीभ सुरनिमैं व्यापार कीजिए है तौ भी अभयदानके फल कहनेकौं कोऊ करि भी समर्थ न हूजिए है ॥ १ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते ।
तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तस्य किं हृतम् ॥ २ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ काम मोक्ष इन च्यारौंही पुरुषार्थनिका मूल जीवना कहिएहै तातैं जिस जीवनेकौं रक्षा करता जो पुरुष ताकरि कहा न दिया अर ता जीवनेकौं हरता जो पुरुष ताकरि कहा न नाश किया, सर्वही नाश किया ॥ २ ॥

गोबालब्राह्मणस्त्रीतः पुण्यभागी यदीष्यते ।
सर्वप्राणिगणत्रायी नितरां न तदा कथम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो गौ बालक ब्राम्हण स्त्री इनकी रक्षातैं पुन्यवान जीव मानिए है तो समस्त प्राणीनिके समूहका रक्षा करनेवाला पुरुष है सो अधिक पुन्यवान कैसें नाहीं ॥ ३ ॥

यद्येकमेकदा जीवं त्रायमाणाः प्रपूज्यते ।
न तदा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः कथं बुधैः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो एककाल एकजीवकी रक्षा करता संता पुरुषहै सो पूजिएहै तौ सदा काल सर्व जीवकी रक्षा करता संता पुरुषहै सो पंडितनि करि कैसैं नाहीं पूजिए है, पूजिए ही है ॥ ४ ॥

चामीकरमयीमुर्वी ददानः पर्वतैः सह ।
एकजीवाभयं नूनं ददानस्य समः कुतः ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य तर्क करैहैं;—पर्वतनि सहित सुवर्णमयी पृथ्वीकौं देता पुरुष है सो एकजीवकी रक्षा करता जो पुरुष ताके समान कहांतै होय, अपि तु नाहीं होय ॥ ५ ॥

गुणानां दुरवापानामर्चितानां महात्मभिः ।
दयालुर्जायते स्थानं मणीनामिव सागरः ॥ ६ ॥

अर्थ—बडे पुरुषनि करि पूजित ऐसे जे दुर्लभ गुण तिनका दयालु स्थानक होयहै, जैसैं रत्ननिका स्थान समुद्र होयहै तैसैं ॥ ६ ॥

संयमा नियमाः सर्वे दयालोः संति देहिनः ।
जायमाना न दृश्यंते भूरुहा धरणीमृते ॥ ७ ॥

अर्थ—दयावान जीव कै संयम नियम सर्व होय है, जातैं पृथ्वी विना वृक्षहैं ते उपजे न देखे ॥ ७ ॥

कारणं सर्ववैराणां प्राणिनां विनिपातनम् ।
तत्सदा त्यजतस्त्रेधा कुतो वैरं प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥

अर्थ—प्राणीनिकौ घातहै सो सर्व वैर भावनिका कारण है, तातैं प्राणीके घातकौं मन वचन काय करि त्यागता जो पुरुष ताकै वैरभाव कहां प्रवर्ते ॥ ८ ॥

मनोभूरिव कांतांग सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः ।
सरस्वानिव गंभीरो विवस्वानिव भास्वरः ॥ ९ ॥

आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः ।
भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामयः ॥ १० ॥

अर्थ—अभयदान करि आदेयनामकर्म सहित सुंदर शरीर होवै, अर सौभाग्य लिए होवै, अर सौम्यस्वभाव सहित होवै, अर सुदर्शन प्रसन्नमुख होय है ॥ ० ॥ त्यागी दानी होवै, स्वामी होवै, भोगी होवै, यशोनिधि होवै, बहुत काल जीवै, रोगरहित होवै, ए सर्व अभयदानका फल है ॥ १० ॥

सौधर्मादिदेवानां संपदः सुखदायिकाः ।
प्राप्यन्तेऽभयदानेन दीयन्ते हरितापदः ॥ ११ ॥

अर्थ—अभयदान करि सौधर्म आदि स्वर्गनिके देव इनिकी संपदा सुख-स्वरूपी दीजिये है, अर्थात् संपदा देवनिकी करि दीजिये अर नाश करिये आपदा जिनने ऐसी है ॥ ११ ॥

तदस्ति न सुखं लोके न भूतं न भविष्यति ।
यन्न संपद्यते प्राणी जीवाभयदानतः ॥ १२ ॥

अर्थ—लोक विषै सो सुख वर्तमानमें नाहीं है अर न भया अर न होयगा सो सुख जीवनिको तिस अभयदानतै नाहीं प्राप्त होवै है, सर्वही सुख प्राप्त होवै ॥ १२ ॥

शरीरं ध्रियते येन शममेव महाव्रतम् ।
कस्तस्याभयदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस अभयदान करि जीवनिका शरीर पोषिए है जैसे सम-भाव करि महाव्रत पोषिए हैं सो, तिस अभयदानके फल कहनेकौ कौन समर्थ होवै ॥ १३ ॥

ऐसे अभयदानका वर्णन किया ॥

आगे आहार दानका वर्णन करै हैं;—

आहारेण विना कायो न तिष्ठति कथंचन ।
भास्करेण विना कुत्र वासरो व्यवतिष्ठते ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसैं सूर्य विना दिन कहांतैं तिष्टै दिन न होय तैसैं आहारविना शरीर कोई प्रकार न तिष्टै है ॥ १४ ॥

शमस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो दमः ।
सर्वे तेन वितीर्यंते येनाऽऽहारो वितीर्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि आहार दीजिए है ताकरि शमभाव तप दया धर्म संयम नियम इंद्रियनिका दमन ये सर्व दीजिए है ॥ १५ ॥

चिंतितं पूजितं भोज्यं क्षीयते तस्य नालये ।
आहारो भक्तितो येन दीयते व्रतवर्त्तिनाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि भक्तितैं व्रतीनकौं आहारदान दीजिए है ताके घरविषैं वांछित अर प्रशंसा योग्य जोभोजन सो क्षीण नाहीं होय है ॥ १६॥

कल्याणानामशेषाणां भाजनं स प्रजायते ।
सलिलानामिवांभोधिर्येनाहारो वितीर्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि आहारदान दीजिए है सो पुरुष जैसैं जलनिका भाजन समुद्र होय तैसैं समस्त कल्याणनिका भाजन होय है ॥ १७॥

स्वयमेव श्रियोऽन्विष्य धन्यं दातारमंबरः ।
आयांति तरसा श्रेष्ठाः सुभगं वनिता इव ॥ १८ ॥

अर्थ—आहारदान देनेवाले पुरुषकौं वेगि करि लक्ष्मी है ते स्वयमेव श्रेष्ठ आप प्राप्त होय है जैसैं श्रेष्ठ स्त्री है ते सुंदर पुरुषकौं आप प्राप्त होय तैसैं ॥ १८ ॥

संपद्स्तीर्थकर्तृणां चक्रिणामर्द्धचक्रिणाम् ।
मंडलेशनरेंद्राणां पयोविमिरनिम्नगाः ॥ १९ ॥

अर्थ—तीर्थंकरनिकी चक्रवर्तीनिकी अर्द्धचक्रवर्तीनिकी सर्व संपदा हैं ते आहार देनेवाले पुरुषकौं सेवै है जैसें नदी समुद्रकौं सेवै तैसै॥ १९॥

प्रक्षीयंते न तस्यार्था ददानस्यापि भूरिशः।
ददाना जनतानंदं चंद्रस्येव मरीचयः॥ २०॥

अर्थ—जैसैं लोचनकौं आनंद देती जे चद्रमाकी किरण ते क्षीण न होयहैं तैसैं बहुतदान देतेकी भी संपदा क्षीण न होयहै॥ २०॥

यत्फलं ददतः पृथ्वीं प्रासुकं यच्च भोजनम्।
अनयोरंतरं मन्ये तृणाब्धिजलयोरिव॥ २१॥

अर्थ—पृथ्वीकौं देता जो पुरुष ताका जो फल है बहुरि प्रासुक भोजनकौं देते पुरुष ताका जो फलहै, इनि दोऊनिका अंतर तृणकी अणीका जल अर समुद्रका जल इनि दोऊनिका अंतर है तैसैं मानूं हूं।

भावार्थ—पृथ्वी दानका तो लोकमैं प्रशंसामात्र फल है अर पाप बडाहै, अर भोजनदान का दोऊ भवनिमैं सुखकारी फल है; तातैं इनिका बड़ा अंतर कह्याहै, ऐसा जानना॥ २१॥

अन्नदानप्रसादेन यत्र यत्र प्रजायते।
तत्रोज्झ्यते भोगैर्नभास्वानिव रश्मिभिः॥ २२॥

अर्थ—जैसैं सूर्य जहां जहां जाय तहां तहां किरणनिकरि न छोडिए है तैसैं अन्नदानके प्रसाद करि जहां जहां जीव जाय तहां तहां भोगनि करि नाहीं छोडिए है॥ २२॥

ददानोऽशनमात्रं यत्फलं प्राप्नोति मानवः।
दानात्सुवर्णकोटीनां न कदाचन तद्भवम्॥ २३॥

अर्थ—भोजनमात्र देता जो पुरुष सो जिसफल कौं पावैहै सो फल कोड सुवर्णकौं देता जो पुरुषसो निश्चयतैं कदाच न पावैहै॥ २३॥

विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानवः ।
न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टि प्रदायिना ॥ २४ ॥

अर्थ—भोग उपभोग विना तौ मनुष्य बहुत काल जीवै है व
संतोष अर पुष्टपनाकौं देनेवाला जो भोजन ताविना न जीवैहै ॥२४

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् ।
आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ २५ ॥

अर्थ—केवलज्ञानतैं और दूजा उत्तम ज्ञान नाहीं, अर मोक्ष सुख
और दूजा सुख नाहीं, अर आहारदानतैं और दूजा उत्तम दा
नाहीं ॥ २५ ॥

अंधसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः ।
न तावान् रत्नकोटीभिः पुंजितामिरपि स्फुटम् ॥ २६॥

अर्थ—प्राणीका जितना उपकार भोजन करि करिये है तितना
उपकार एकठे किये कोड्यां रत्ननि करि भी प्रगटपने नहीं करिये है ॥ २६॥

हीयंते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया ।
गुप्तयो व्यवतिष्ठंते विना कुत्र तितिक्षया ॥ २७ ॥

अर्थ—भोजनरूप मात्रा विना समस्त चेष्टा नाशकौं प्राप्त होय है
जैसैं क्षमा विना मन वचन कायकी गुप्ति हैं ते कहा तिष्ठै हैं, कहूं भी
न तिष्ठै हैं ॥ २७ ॥

क्षीयते तरसा गात्रं जंतोर्वर्जितमंधसा ।
विना नीरं क सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थितिः ॥ २८ ॥

[illegible] है सो भोजन विना शरीर क्षीण होय है
[illegible] स्थिरता कहां होय, अपि तु कहूं भी
[illegible] ॥

यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किंचनापरम् ।
विक्रीयंते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—पुरुषनिकौं जैसा भोजन प्रिय है तैसा और किछू प्रिय नाहीं, जो ऐसैं न होय तौ प्यारे पुत्र तिस आहारके अर्थि कैसैं बेचिये है, तातैं आहार सर्व तैं प्यारा है ॥ २९ ॥

यत्किंचित्सुंदरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये ।
तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो किछू वस्तु तीन लोकविषैं सुंदर देखिये है सो सर्व वस्तु अन्न दान करना जो पुरुष ता करि लीलामात्र करि शीघ्र पाइये है ।३०।

बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना ।
फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इहां बहुत कहने करि कहा है, आहारदानका फल सर्वज्ञ-विना और दूजा कहनेकौं समर्थ नाहीं ॥ ३१ ॥

ऐसैं आहारदानका फल वर्णन किया, आगैं औषधिदानका वर्णन करैं हैः—

रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् ।
पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस औषधदान करनेवाले करि धर्मका साधन जो व्रती-नका शरीर ताकी रक्षा कीजियेहै तिस औषधदानीके फल कहनेकौं समर्थ न हूजियेहै ॥ ३२ ॥

येनौषधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् ।
चुलुकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ॥ ३३ ॥

विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानवः।
न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टि प्रदायिना ॥ २४ ॥

अर्थ—भोग उपभोग विना तौ मनुष्य बहुत काल जीवै है बः संतोष अर पुष्टपनाकौं देनेवाला जो भोजन ताविना न जीवैहै ॥२४

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम्।
आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ २५ ॥

अर्थ—केवलज्ञानतैं और दूजा उत्तम ज्ञान नाहीं, अर मोक्ष सुखं और दूजा सुख नाहीं, अर आहारदानतै और दूजा उत्तम दा नाहीं ॥ २५ ॥

अंधसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः।
न तावान् रत्नकोटीभिः पुंजिताभिरपि स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थ—प्राणीका जितना उपकार भोजन करि करिये है तितना उपकार एकठे किये कोडयां रत्ननि करि भी प्रगटपने नहीं करिये है ॥ २६ ॥

हीयंते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया।
गुप्तयो व्यवतिष्ठंते विना कुत्र तितिक्षया ॥ २७ ॥

अर्थ—भोजनरूप मात्रा विना समस्त चेष्टा नाशकौं प्राप्त होय है जैसैं क्षमा विना मन वचन कायकी गुप्ति हैं ते कहा तिष्टै हैं, कहूं भी न तिष्ठै है ॥ २७ ॥

सीर्यते तरसा गात्रं जंतोर्वर्जितमंधसा।
विना नीरं [redacted] सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थितिः ॥ २८ ॥

अर्थ—प्राणीका शरीर है सो भोजन विना जल्दी क्षीण होय है जैसैं जल विना कोमल धानकी स्थिरता कहां होय, अपि तु कहूं भी न होय है, ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किंचनापरम् ।
विक्रीयंते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—पुरुषनिकूं जैसा भोजन प्रिय है तैसा और किछू प्रिय नाहीं, जो ऐसैं न होय तौ प्यारे पुत्र तिस आहारके अर्थि कैसैं बेचिये है, तातैं आहार सर्व तैं प्यारा है ॥ २९ ॥

यत्किंचित्सुंदरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये ।
तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो किछू वस्तु तीन लोकविषैं सुंदर देखिये है ता सर्व वस्तु अन्न दान करता जो पुरुष ता करि लीलामात्र करि शीघ्र पाइये है ॥ ३० ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सर्वज्ञवेदिना ।
फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इहां बहुत कहने करि कहा है, आहारदानका फल सर्वज्ञ बिना और दूजा कहनेकौं समर्थ नाहीं ॥ ३१ ॥

ऐसैं आहारदानका फल वर्णन किया, आगैं औषधिदानका वर्णन करै हैं:—

रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् ।
पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस औषधदान करनेवाले करि धर्मका साधन जो व्रतीनका शरीर ताकी रक्षा कीजिये है तिस औषधदानीके फल कहनेकूं समर्थ न हूजिये है ॥ ३२ ॥

येनौषधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् ।
चुलुकैर्मीयते तेन पयो मन्ये पयोनिधेः ॥ ३३ ॥

अर्थ—आचार्य कहैहैं मैं ऐसा मानूं हूं कि जिस करि लोकमैं औषध देनेवालेका फल वचन करि कहियेहै, ताकरि स[illegible] जल नदीनि करि मापियेहै ॥ ३३ ॥

वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते।
दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि औषध दीजिएहै सो पुरुष जैसैं दावान[illegible] जल विषैं तिष्ठया पुरुष न पीडिए तैसैं वात पित्त कफ करि उठे रो[illegible] करि न पीडिए है ॥ ३४ ॥

रोगानिपीडितो योगी न शक्तो व्रतरक्षणे।
नास्वस्थैः शक्यते कर्तुं स्वस्थकर्म कदाचन ॥ ३५ ॥

अर्थ—रोगनि करि पीडित जो साधु सो व्रतनिकी रक्षा [illegible] समर्थ न होयहै बहुरि आकुलतासहित जीवनि करि निराकुल [illegible] कदाच करनेकौं समर्थ न हूजियेहै ॥ ३५ ॥

न जायते सरोगत्वं जंतोरौषधदायिनः।
पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते ॥ ३६ ॥

अर्थ—औषध देनेवाले पुरुषकै सरोगपना न होयहै, जातैं अ[illegible] सेवते पुरुषका शीत दूर भागैहै ॥ ३६ ॥

आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः।
किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जाके जन्मतैं लगाय शरीरकौं ताप उपजावने वाला [illegible] न होयहै तिस सिद्धसमान महात्माका सुख कहा कहिए। इहां सि[illegible] समान कह्या सो जैसैं सिद्धनिकौं रोग नाहीं तैसैं याके भी रोग ना[illegible] ऐसी समानता देखि उपमा दीनीहै सर्व प्रकार सिद्ध न जानलेना ॥ ३७ ॥

निधानमेष कांतीनां कीर्त्तीनां कुलमंदिरम्।
लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि औषध दीजिए है सो यहु पुरुष कांति कहिये दीप्तिनिका तौ भंडार होय है, अर कीर्तिनिका कुलमंदिर होय है जामें यश कीर्ति सदा बसै है, बहुरि सुंदरतानिका समुद्र होय है ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

ध्वांतं दिवाकरस्येव शीतं चित्ररुचेरिव।
भैषज्यदायिनो देहाद्रोगित्वं प्रपलायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैसें सूर्यके शरीरतैं अंधकार दूरि भागै है अर अग्निके शरीरतै शीत दूरि भागै है तैसैं औषध देनेवाले पुरुषके देहतैं रोगीपना दूरि भागै है ॥ ३९ ॥

आरोग्यं क्रियते येन योगिनां योगमुक्तये।
तदीयस्य न धर्मस्य समर्थः कोऽपि वर्णने ॥ ४० ॥

अर्थ—जा करि योगीश्वरनके मन वचन कायकी मुक्तिके अर्थि रोगरहितपना कीजिए है ताके धर्मके वर्णनविषैं कोई भी समर्थ नाहीं ॥४०॥

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः।
सर्वेऽपि विहितास्तेन दत्तं येनौषधं सताम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जानें साधूनिकौं औषधदान दिया तानैं चारित्र दर्शन ज्ञान विनय नीति ये सर्वही किये।

भावार्थ—औषधतें शरीर नीरोग होय तब सर्व धर्मका साधन बनै है, ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

ऐसैं औषधदानका वर्णन किया; आगैं शास्त्रदानकौं कहैहै;—

संसृतिश्छिद्यते येन निर्वृतिर्येन दीयते।
मोहो विधूयते येन विवेको येन जन्यते ॥ ४२ ॥

कषायोर्मर्द्यते येन मानसं येन दम्यते ।
अकृत्यं त्याज्यते येन कृत्ये येन प्रवर्त्यते ॥ ५३ ॥

तत्त्वं प्रकाश्यते येन येनात्मा निश्चीयते ।
संयमः क्रियते येन सम्यक्त्वं येन पोष्यते ॥ ५४ ॥

देहिभ्यो दीयते येन सज्ज्ञानं सिद्धिलब्धये ।
कस्तेन सदृशो धन्यो विद्यते भुवनत्रये ॥ ५५ ॥

अर्थ—जाकरि संसार छेदिए है, अर जाकरि मोक्ष दीजिए है, अर जाकरि मोह [illegible] है, अर जाकरि विवेक उपजाइए है ॥ ५२ ॥ अर जाकरि क्रोधादिक कषाय नाश कीजिए है, अर जाकरि मन [illegible] कीजिए, अर जाकरि अकार्य छुडाइए है, अर जाकरि कार्यमें प्रवर्तिए है ॥ ५३ ॥ अर जाकरि पदार्थनि का सांचा स्वरूप निर्धारिए, अर [illegible] आत्मा स्वरूप निर्धारिये, अर जाकरि [illegible] अर जाकरि सम्यक्त पोषिए है ॥ ५४ ॥ ऐसा जो [illegible] [illegible] अर्थि दीजिए है ताकरि समान तीन लोकमें धन्य पुरुष [illegible] है, कोऊ भी नाहीं ॥ ५५ ॥

मुक्तिः प्रदीयते येन ज्ञानदानेन पावनी ।
[illegible] ॥ ५६ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो शास्त्रज्ञानतें विश्वका प्रकाशक केवल ज्ञान पाइएहै तो और मतिज्ञान आदिके पावने विषैं ताकी कथनी कैसी, और ज्ञान पावना तौ सहजहीहै ॥ ४७ ॥

मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा भुवनोत्तमपूजिताम् ।
ज्ञानदानप्रसादेन जीवो गच्छति निर्वृतिम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—ज्ञानदानके प्रसादकरि जीवहै सो लोकविषैं उत्तम अर पूजित ऐसी मनुष्यनिकी अर देवनिकी लक्ष्मीकौं भोगकै मुक्तिकौं प्राप्त होयहै ॥ ४८ ॥

चतुरंगं फलं येन दीयते शास्त्रदायिना ।
चतुरंगं फलं तेन लभ्यते न कथं स्वयम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—जिस शास्त्रके देनेवाले पुरुष करि चतुरंग कहिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये च्यार पुरुषार्थरूप फलदीजिएहै ताकरि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप फल स्वयमेव कैसैं न पाइए है ॥ ४९ ॥

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् ।
वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥ ५० ॥

अर्थ—शास्त्रकौं देनेवाला पुरुष संतनिकै पूजनीक होय है अर पंडितनिकै सेवनीक होय है, अर वादीनिकौं जीतनेवाले हैं वचन जाके ऐसा वादी होय है, बहुरि वाग्मी कहिये सभाकौं रंजायमान करनेवाला वक्ता होय है, अर कवि कहिये नवीनग्रंथ रचनावाला होय है, अर मानने योग्य होय है, अर विख्यात है शिक्षा जाकी ऐसा होय है ॥५०॥

ऐसैं शास्त्रदानका वर्णन किया, आगैं वसतिकादानकौं कहैहैं;—

विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुंगो बहुभूमिकः ।
लभ्यते वासदानेन वासश्चंद्रकरोज्ज्वलः ॥ ५१ ॥

अर्थ—वसतिकादान करि चंद्रमाकी किरण समान उज्ज्वल शिखरन करि रम्या महाऊंचा बहुत खणनिका महल पाइये है ॥ ५१ ॥

आगैं वस्त्रदानकौं कहैहैं;—

कोमलानि महार्घ्याणि विशालानि घनानि च ।
वासोदानेन वासांसि संपद्यंते सहस्रशः ॥ ५२ ॥

अर्थ—वस्त्रदानकरि कोमल अर महामोल अर सघन ऐसे हजारां वस्त्र पाइए है ।

भावार्थ—आर्जिका श्रावक श्राविका इत्यादिकनिकौं वस्त्रदान करै ताका फल इहां कह्या है ॥ ५२ ॥

ददती जनतानंदं चंद्रकांतिरिवामला ।
जायते पानदानेन वाणी तापपनोदिनी ॥ ५२ ॥

अर्थ—पान कहिये पीवने योग्य वस्तु ताके दान करि चंद्रकांतिमणिसमान निर्मल लोकनिकौं आनंद देनेवाली तापकी नाश करनेवाली ऐसी वाणी होय है ॥ ५२ ॥

ददानः प्रासुकं द्रव्यं रत्नत्रितयबृंहकम् ।
कांक्षितं गतक्लें द्रव्यं लभते परदुर्लभम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—रत्नत्रयका बधावनेवाला ऐसा जो प्रासुक द्रव्य है ताहि देता पुरुष औरनिकौं दुर्लभ ऐसा वांछित मनका पदार्थ पावै है ॥ ५४ ॥

विश्राणयति यो दानं सेवमानस्तपस्विनः ।
सेव्यते सुरनाथैः स सदा गुणशालिभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष तपस्वीनकौं सेवता संता दान देवहै सो पुरुष गुणनिकरि युक्त जे इन्द्र तिनकरि सदा सेइए है ॥ ५५ ॥

यः सर्वंपावनी नम्रो दानं यच्छति योगिनाम् ।
[illegible]: स सदा [illegible] इव मन्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुनीनकी प्रशंसामें तत्पर भया दान देय है सो पुरुष सदा प्रशंसा योग्य होयहै, अर सत्पुरुष जैसें तीर्थंकरदेवको नमै तैसें ताहि नमै हैं ॥ ५६ ॥

> दत्ते शुश्रूषयित्वा यो दानं संयमशालिनाम् ।
> शुश्रूष्यते बुधैरेष भक्त्या गुरुरिवानिशम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो शुश्रूषा करिकै संयमी मुनीनकौ दान देयहै सो यह पंडितनिकरि निरंतर जैसें गुरुनिकी शुश्रूषा कीजिए तैसें याकी शुश्रूषा कीजिएहै ॥ ५७ ॥

> आदृत्य दीयते दानं साधुभ्यो येन सर्वदा ।
> आद्रियते लोकेन निधानमिव गृह्यते ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो पुरुष करि आदरसहित साधुनकै अर्थ सदा दान दीजियेहै सो यह पुरुष लोककरि निधान की ज्यौं आदरसहित ग्रहण कीजिए है ॥ ५८ ॥

> पूजापरायणः स्तुत्वा यो यच्छति महात्मनाम् ।
> त्रिदशैस्तीर्थकारीव स्तावं स्तावं स पूज्यते ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो पुरुष पूजाविषै तत्पर स्तुति करिकै साधुपुरुषनिकौं दान देयहै सो पुरुष देवनि करि जैसे तीर्थंकर देवको पूजिए तैसे स्तुति करि करिकै पूजिए है ॥ ५९ ॥

> यद्दाने सतामिष्टे तपःसंयमपोषकम् ।
> तद्विनीतस्य भक्त्या प्राप्यते फलमीप्सितम् ॥ ६० ॥

अर्थ—जो जो दान तप संयमका पुष्ट करनेवाला सत्पुरुषनिकै इष्ट है सो सो दान भक्तिसहित देता जो पुरुष ताकरि वांछित फल पाइए है ॥ ६० ॥

दानानीमानि यच्छंति स्तोकान्यपि महाफलम् ।
बीजानीव वटादीनां निहितानि विधानतः ॥ ६१ ॥

अर्थ—पूर्वे कहे जे दान विधानसहित थोडे भी महाफलकौं देय हैं, जैसें वड आदि वृक्षनिके बीज हैं ते विधानतैं बोए भए बडे फलकौं देय हैं ॥ ६१ ॥

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति ।
स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टी उत्कृष्ट पात्रनिके अर्थ दान देय है सो महान है उदय जाका ऐसा उत्कृष्ट भोग भूमीकौं जाय है ॥ ६२ ॥

क्रोशत्रय वपुस्तत्र त्रिपल्योपमजीवितः ।
चिंताकल्पितमाभिख्ये स भोगसुखमश्नुते ॥ ६३ ॥

अर्थ—तहां उत्कृष्ट भोगभूमिविषै तीन कोसको शरीर अर तीन पल्यकी आयु ताकी सो चिंतामणि कल्पवृक्ष निकट प्राप्त भया ऐसा भोगनिका सुख भोगै है ॥ ६३ ॥

सदा मनोनुकूलाभिः सेव्यमाना दिवाऽनिशम् ।
नारीभिर्न गतं काले जानंते भोगभूभुजः ॥ ६४ ॥

अर्थ—मनके अनुकूल जे स्त्री तिनकरि सदा सेये भये ते भोगभूमिया गये कालकौं न जानैं हैं ॥ ६४ ॥

मन्यमाना न पात्राणां दानतो यांति मत्यपाद् ।
कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो दाता [illegible] पात्रनिकै दानतैं [illegible] भोगभूमिकौं प्राप्त होय है, जातें [illegible] जैसा कारण होय तैसा ही कार्य निपजै है ॥ ६५ ॥

द्विक्रोशोच्छ्रयदेहास्ते द्विपल्यायुर्विराजिताः ।
स मध्यमे महाभागः [illegible] ॥ ६६ ॥

अर्थ—सो यहु मध्यम भोगभूमिया दोय कोश ऊंचा है देह जाका, अर दोय पल्य आयु, रोगरहित, बड़ा है आवास कहिये स्थान जाका, अर स्त्रीके नेत्रकमलनिकौं भ्रमरसमान सो तहां तिष्ठै है ॥ ६६ ॥

जघन्येभ्यः स पात्रेभ्यो जघन्यां याति दानतः।
एकक्रोशोच्छ्रयं भूमिमेकपल्योपमस्थिति ॥ ६७ ॥

अर्थ—बहुरि सो दाता जघन्य पात्रनके अर्थ दिया जो दान तातै जघन्य भोगभूमिकौ प्राप्त होय है, एक कोश ऊंचा अर एक पल्यकी है स्थिति जाकी ॥ ६७ ॥

बदरामलकबिभीतकमात्रं त्रिद्व्येकवासरैः क्रमतः।
आहारं कल्याणं दिव्यरसं भुंजते धन्याः ॥ ६८ ॥

अर्थ—ते पुण्यवान भोगभूमिया बेर आमला बहेड़ा इन प्रमाण क्रमतैं कल्याणरूप दिव्यहै स्वाद जाका ऐसा आहारकौं तीन दोय एक दिन करि खायहै।

भावार्थ—उत्तम भोगभूमिया तीन दिनमैं बेर प्रमाण आहार करैहै, मध्यम भोगभूमिया दोयदिनमैं आंवले प्रमाण आहार करैहै, जघन्यभोगभूमिया एक दिनमैं बहेड़े प्रमाण आहार करैहै ऐसा जानना ॥ ६८ ॥

विश्राणयन् यतीनामुत्तममध्यमजघन्यपरिणामैः।
दानं गच्छति भूमीरुत्तममध्यमजघन्या वा ॥ ६९ ॥

अर्थ—पहले तो तीन प्रकार पात्रनके अर्थ दानतै तीन प्रकारही भोगभूमि मिलैहै ऐसा कह्या; अब कहै है कि दूजा प्रकार यहभीहै कि यतीनकौं उत्तम मध्यम जघन्य परिणामनि करि दान देता जो पुरुष सो उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिकौं पावैहै ॥ ६९ ॥

सर्वे द्वंद्वपरित्यक्ताः सर्वे क्लेशविवर्जिताः।
सर्वे यौवन संपन्नाः सर्वे संति प्रियंवदाः ॥ ७० ॥

अर्थ—जो मार्ग [illegible] आचरणके [illegible] है, [illegible] देखनेवाले हैं या कहीं [illegible] हैं, या कहीं [illegible] हैं ॥ ७० ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ७१ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

न वियोगः प्रियैः सार्द्धं न संयोगोऽप्रियैः सह ।
न व्रतं न तपस्तेषां न वैरं न पराभवः ॥ ७५ ॥

अर्थ—तिन भोगभूमियानके इष्टपदार्थन करि साथ वियोग नाहीं, अर अनिष्ट वस्तुनि सहित संयोगता नाहीं अर तिनके व्रत नाहीं तप नाहीं वैर नाहीं अनादर नाहीं ॥ ७५ ॥

यतः स्वस्वामिसंबंधस्तेषां नास्ति कदाचन ।
परछंदानुवर्तित्वं ततस्तेषां कुतस्तनम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जातैं तिन भोगभूमियानके स्वस्वामि कहिये सेवक ईश्वरपनेका संबंध कदाचित् नाहीं तातैं पराधीन प्रवर्तना तिनकै काहेका होय ॥ ७६ ॥

नाऽपूर्णे समये सर्वे ते म्रियंते कदाचन ।
रचयंति न पैशून्यं सुखसागरमध्यगाः ॥ ७७ ॥

अर्थ—ते सर्व भोगभूमियां आयुके अपूर्ण कालविषैं कदाच न मरै हैं, अर सुखसमुद्रके मध्य प्राप्त भये ते ईर्षा भावकों नाहीं करैं हैं ॥७७॥

आयासेन विना भोगी नीरोगीभूतविग्रहः ।
क्षुतेन पुरुषस्तत्र म्रियते जृंभयांगना ॥ ७८ ॥

अर्थ—खेदबिना भोगनि करि सहित अर रोगरहित है शरीर जाका ऐसा भोगभूमिका पुरुष तौ छींक करि मरै है अर जेंभाई करि स्त्री मरै है ॥ ७८ ॥

ते जायंते कलालापा मकरध्वजसंनिभाः ।
सर्वे भोगक्षमाः रम्यादिनानां सप्त सप्तकैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—ते सर्व भोगभूमिया दिननके सात सप्तक कहिये गुणचास दिनन करि उपजै हैं, कैसे हैं ते भोगभूमिया, सुंदर है शब्द जिनका

[illegible]

अर कामदेवसमान है रूप जिनका अर भोगनिविषै [illegible] ऐसे है ॥ ७९ ॥

कोमलालापया कांतः कांतयाऽभ्यर्च्यते [illegible] ।
कांतेनाऽऽभ्यो पुनः कांता निजभावानुवर्तिना ॥ ८० ॥

अर्थ—कोमल है शब्द जाका ऐसी स्त्री करि अर भोगभूमिया पति सो कहिए है,

भावार्थ—स्त्री कोमल वचनसहित पतिसों बोले है। अर [illegible] गुणामय [illegible] जो पति ता करि भोगभूमियानी स्त्री भी कहिये है,

भावार्थ—पति गुणनाके वचनसहित स्त्रीसौं बोले है ॥ ८० ॥

आदेयाः सुभगाः सौम्याः सुंदरांगा वरोदाः ।
रमंते सह रामाभिः स्वसमाभिर्निशं मुदा ॥ ८१ ॥

अर्थ—आदर करने योग अर सुंदर अर सौम्य अर सुंदर है अंग जिनके अर भले वचन बोलनेवाले ऐसे ते भोगभूमिया अपने समान जे स्त्री तिनकरि सहित परस्पर हर्षकरि रमै है ॥ ८१ ॥

युग्ममुत्पद्यते सार्द्धं युग्मं यत्र विपद्यते ।
शोकाक्रंदादयो दोषास्तत्र संति कुतस्तनाः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जहां स्त्रीपुरुषका युगल साथ उपजे है अर साथ ही युगल मरे है तातें शोक अर रोवना इत्यादि दोष है ते कहांतै होय, नाहीं होय है ॥ ८२ ॥

करिकेसरिणौ यत्र तिष्ठतो बांधवाविव ।
एकत्र सर्वदा प्रीत्या सख्यं तत्र किमुच्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—हाथी अर सिंह जहां बांधवनिकी ज्यों एक जायगां सदा प्रीतिसहित तिष्ठे है तहां वैरभाव कैसे कहिए, अपि तु नाहीं कहिए ऐसा जानना ॥ ८३ ॥

कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्।
उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अर्थ—कुपात्रके दानतें और कुभोगभूमिकौ प्राप्त होय है, इहां दृष्टांत कहैहै—खोटा क्षेत्रविषै बीज बोये संते सुक्षेत्रके फलकौ कौन प्राप्त होय है, अपि तु कोई न होय है ॥ ८४ ॥

येंऽतरद्वीपजाः संति ये नरा म्लेच्छखंडजाः।
कुपात्रदानतः सर्वे ते भवंति यथायथम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—जे अंतरद्वीप कहिए लवणसमुद्र विषै वा कालोद समुद्रविषै छयानवै कुभोगभूमिके टापू कहे हैं तिनविषै उपजे मनुष्य हैं अर म्लेच्छखंडनिविषै उपजे मनुष्य हैं ते सर्व कुपात्रदानतें यथायोग्य होय हैं ॥ ८५ ॥

वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यंचः संति भूमिषु।
कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुंजते तेऽखिलाः फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिन विषै जे तिर्यंच हैं ते सर्व कुपात्रदानरूप वृक्षतें उपज्या जो फल ताहि खावै है ॥ ८६ ॥

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये।
कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—इहां आर्यखंडमें जे दासीदास हाथी म्लेच्छ कुत्ता इत्यादि भोगवंत जीव हैं तिनकौ जो भोगे है सो प्रगटपणे कुपात्रदानतें है, ऐसा जानना ॥ ८७ ॥

व्यंतरे भवनजातानां ये भोगा भोगिनामिह।
सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयंते महोदयाः ॥ ८८ ॥

अर्थ—इहां व्यंतरनिविषै जीव भवनविषै भोगीनिकै जे भोग महाउदयरूप देखिए है ते सर्व कुपात्रदानकरि दीजै है ॥ ८८ ॥

अपात्राय धनं दत्तं [illegible] संचयेऽखिलम् ।
जलसिक्ते पात्रके क्षिप्तं बीजं कुशांकुरीयति ॥ ८९ ॥

अर्थ—पात्रके अर्थ दिया जो धन है सो सर्व पुण्य होवे है, दृष्टान्त कहै है—[illegible] अग्निमें बोया बीज है सो कहा अंकुरित होवे, अपि तु नहीं होवे ॥ ८९ ॥

अपात्रदानतः [illegible] फलं पापाः परम् ।
[illegible] हि फलं [illegible] पात्रापात्रविशेषे ॥ ९० ॥

अर्थ—अपात्रदानको फल पापो [illegible] [illegible] है, [illegible] ॥ ९० ॥

[illegible] विशेषऽपात्रपूजितम् ।
[illegible] दत्तं [illegible] किं न [illegible] ॥ ९१ ॥

अर्थ—[illegible] दान है सो [illegible] [illegible] ॥ ९१ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ९२ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ९२ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ९३ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ९३ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ९४ ॥

अर्थ—एक सूर्य करिही समस्त जगत प्रकाशरूप कीजिए है, बहुरि उदय भये भी सर्व नक्षत्रनिके समूह तिनकरि प्रकाशित न कीजिए है ॥ ९४ ॥

एकेनापि सुपात्रेण तार्यते भवनीरधेः ।
सहस्रैरप्यपात्राणां पुंजितैर्न पुनर्जनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—उपरि दृष्टांत कह्याथा ताका दार्ष्टांत कहिए है;—तैसे एक भी सुपात्र करि जीव संसार समुद्रतैं तारिये है, बहुरि एकठे किये अपात्रनिके सहस्रनि करि भी संसारसमुद्रतैं न तारिये है, ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

अपात्रदानदोषेभ्यो बिभ्यता पुण्यशालिना ।
विबुद्धय यत्नतः पात्रं देयं दानं विधानतः ॥ ९६ ॥

अर्थ—अपात्रके दोषनै डरता पुण्यवान जो पुरुष ताकरि यत्न तै पात्रकौं जानिकै विधानतैं दान देना योग्य है ॥ ९६ ॥

अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम् ।
साधुं विहाय चौराय तदर्पयति सः स्फुटम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो पुरुष उत्तम पात्रकौ छांडिकै अपात्रके अर्थि धन देयहै सो प्रगट साधुकौं छांडिकैं चौरके अर्थि ताधनकौं देयहै, ऐसा जानना ॥ ९७ ॥

अपात्रमिव यः पात्रं विबुद्धिरवलोकते ।
चिंतामणिमसौ मन्ये मन्यते लोष्टसन्निभम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो निर्बुद्धि पात्रकौं अपात्र की ज्यों अवलोकैहै सो [redacted] चिंतामणीरत्नकौं लोष्ट समान मानैहै, ऐसा मैं मानूं हूं ॥ ९८ ॥

त्यक्त्वा शर्मप्रदं पात्रमपात्रं स्वीकरोति यः ।
स कालकूटमादत्ते मुक्त्वा पीयूषमस्तधीः ॥ ९९ ॥

भा०—[illegible] पात्रको छोडिके जो अपात्र को [illegible] करै सो [illegible] अमृतको छोडिके [illegible] विषको ग्रहण करै है ॥ ९९ ॥

पात्रापात्रविभागेन मिथ्यादृष्टेरिदं फलम् ।
उदितं दानतो प्राप्तं [illegible] ॥ १०० ॥

भा०—[illegible] दानतैं [illegible] पात्र अपात्रके [illegible] कहा [illegible] ॥ १०० ॥

दानं त्रिविधपात्राय [illegible] ।
[illegible] कल्याणानां [illegible] ॥ १०१ ॥

भा०—[illegible] तीन प्रकार पात्रनिके [illegible] ॥ १०१ ॥

[illegible] त्रिविधा [illegible] ।
[illegible] ॥ १०२ ॥

भा०—[illegible] ॥ १०३ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०४ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०५ ॥

[illegible]

स्तुवानामां स्तवैःश्रव्यैर्भव्याभरणभासुराः ।
मूर्त्ताः केऽमी विलोक्यंते पुण्यपुंजा इवामितः ॥ १०५ ॥

अर्थ—सुनने योग्य स्तोत्रनि करि स्तुति करते अर सुंदर आभूषणनकरि देदीप्यमान मूर्तीक पुण्यके समूहसमान ये च्यारों तरफ कौन दैखिए है ऐसैं नवीन देव विचारै हैं ॥ १०५ ॥

रम्याः रामा समेमाः काश्चिच्चाटुपरायणाः ।
लावण्यांबुनिधेर्वेला लोकंते कलनिस्वनाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—रमने योग्य अर नानाप्रकार खुशामदमैं तत्पर अर सुंदरताके समुद्रकी वेला सुंदर हैं शब्द जिनके ऐसी स्त्री मोकी देखै है ॥ १०६ ॥

किमिदं दृश्यते स्थानं रामणीयकमंदिरम् ।
कथमत्राहमायातः किं स्वप्नोऽयमुतान्यथा ॥ १०७ ॥

अर्थ—सुंदरताका मंदिर ये कौन स्थान दीखै है, इहा मैं कैसैं आया अथवा कहा यह स्वप्न है ॥ १०७ ॥

किमकारि मया पुण्यं जातो येनात्र बंधुरे ।
न पुण्यव्यतिरेकेण लभ्यते सुरसंपदा ॥ १०८ ॥

अर्थ—अथवा मैं कहा पुण्य करता भया जाकरि इस सुंदर स्थानविषैं उपज्या, पुण्य विना सुखसंपदा न पाइए है ॥ १०८ ॥

इत्थं चिंतयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः ।
संपद्यतेतदा दीप्तः पूर्वसंबंधसूचकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—या प्रकार विचारते जे देव तिनकै भवही है कारण जाकू ऐसा भवप्रत्यय अवधि अतिशयकरि देदीप्यमान पहले संबंधका सूचक उपजै है ॥ १०९ ॥

ज्ञानेन तेन विज्ञाय दानपुण्यप्रभावतः ।
त्रिदशीभूतमात्मानं ते भजंति सुरालिकाम् ॥ ११० ॥

अर्थ—तिस ज्ञानकरि दानके पुण्यके प्रभावतैं आपकौं देव भ जानिकै से देव सुखरूप समाधानताकौं भजै हैं ॥ ११० ॥

प्रीतेनामरवर्गेण स्वसंबंधेन सादरम्।
क्रियमाणास्ततस्तुष्टा भजंतेजननोत्सवम् ॥ १११ ॥

अर्थ—तापीछैं आपके संबंधी जो प्रीतियुक्तदेवनिका समूह ताक प्रसन्नकरे भये जन्मोत्सवकौं भजैहैं ॥ १११ ॥

ज्ञात्वा धर्मप्रभावेन तत्र प्रभवमात्मनः।
पूजयंति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥ ११२ ॥

अर्थ—धर्मके प्रसादकरि तहां स्वर्गमें आपकौं जानिकैं ते दे धर्मकी वृद्धिके अर्थ जिनभगवानकी प्रतिमानकौं भक्ति सहि पूजैहैं ॥ ११२ ॥

सुखवारिनिमग्नास्ते सेव्यमानाः सुधाशिभिः।
सर्वदा व्यवतिष्ठंते प्रतिबिंबैरिवात्मनः ॥ ११३ ॥

अर्थ—ते देव सुखजलविषैं डूबे अर अपनें प्रतिबिंबसमान देवनि करि सेये भये सदा काल तिष्टैहैं ॥ ११३ ॥

ते सर्वक्लेशनिर्मुक्ता द्वाविंशतिमुदन्वताम्।
आसते तत्र भुंजाना दानवृक्षफलं सुराः ॥ ११४ ॥

अर्थ—ते देव सर्वक्लेशरहित दानरूप वृक्षके फलकौं भोगते संते तहां बाईस सागर तिष्ठे हैं ॥ ११४ ॥

तेषां सुखप्रमां वक्ति वचोभिर्यो महात्मनाम्।
प्रमाति पदविक्षेपैर्गगनांतममौ ध्रुवम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—तिन महात्मा देवनिके सुखके प्रमाणकौं जो पुरुष वचननि करि कहैहै सो यह निश्चयकरि पावनके उठावने धरनेकरि आकाशके छोरकौं जायहै।

भावार्थ—तिन देवनि का सुख वचननैं न कह्या जायहै, ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

नवयौवनसंपन्ना दिव्यभूषणभूषिताः ।
ते वरेण्याद्यसंस्थाना जायंतेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥ ११६ ॥

अर्थ—नवयौवनसहित अर दिव्य आभूषणानि करि भूषित अर श्रेष्ट आदिका समचतुरस्र है संस्थान जिनका ऐसे अंतर्मुहूर्तमैं उपजैहैं ॥ ११६ ॥

तेषां खेदमलस्वेदजरारोगादिवर्जिताः ।
जायंते भास्कराकाराः स्फाटिका इव विग्रहाः ॥ ११७ ॥

अर्थ—तिन देवनिके खेद मल पसेव जरा रोग इत्यादि करि देदीप्यमानहैं आकार जिनके मानौं स्फटिकमणिके हैं ऐसे शरीर उपजै हैं ॥ ११७ ॥

राजते हृदये तेषां हारयष्टिर्विनिर्मला ।
निसर्गसंभवा मूर्त्ता सम्यग्दृष्टिरिव स्थिता ॥ ११८ ॥

अर्थ—तिन देवनिके हृदयविषैं विशेषनिर्मल हारकी लडी सोहैहै, मानौ स्वभावकरि उपजी मूर्तिवंत सम्यग्दृष्टि तिष्ठी है ॥ ११८ ॥

मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतित दिगंतरः ।
निषधानामिवादित्यस्तमोध्वंसीव भासते ॥ ११९ ॥

अर्थ—जैसे निषधाचलनके उपरि अंधकारका नाश करनेवाला सूर्य सोहैहै तैसे तिन देवनिके मस्तकविषैं उद्योतरूप किया है दिशानका अंतर जानैं ऐसा मुकुट सोहै है ॥ ११९ ॥

त्रिभुवनकुशलाभिः पूर्णचंद्राननाभिः
स्तनभरविनताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः ।

पृथुतरजघनाभिर्बंधुराभिर्वधूभिः
समममलवचोभिः सर्वदा ते रमंते ॥ १२० ॥

अर्थ—सुंदर स्त्रीन करि निर्मलवचन सहित ते देव सदा रमे हैं, कैसी हैं ते स्त्री कामसेवनविषै प्रवीणहैं अर पूर्णचंद्रमा समान है मुख जिनका अर स्तनके भारकरि नम्रीभूत हे अर कामकरि व्याप्त है अर विस्तीर्ण है जघनस्थान जिनका ऐसी देवीनसहित ते देव रमे हैं ॥१२०॥

दिवोऽवतीर्णा जितचित्तवृत्तयो
महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः।
भवंति वंशेषु गुणार्जितेषु
विशुद्धसम्यक्त्वधना नरोत्तमाः ॥ १२१ ॥

अर्थ—ते देव स्वर्गतें आयकरिकै बाकीके पुण्यतै पृथ्वीविषै गुणनिकरि पूजित वंशनिविषै नरनिविषै उत्तम चक्रवर्त्यादिक होय हैं कैसे हैं ते उदार है चित्तकी परणति जिनकी ऐसे अर महानुभाव अर निर्मल सम्यक्त्व है धन जिनके, ऐसे होय हैं ॥ १२१ ॥

अवाप्यते चक्रधरादिसंपदं
मनोरमामत्र विपुण्यदुर्लभाम्।
नयंति कालं निखिलं निराकुलाः
न लभ्यते किं खलु पात्रदानतः ॥ १२२ ॥

अर्थ—[illegible] इस लोकविषै पुण्यरहित जीवनकौं दुर्लभ ऐसी सुंदर चक्रवर्ती आदिककी संपदाकौं प्राप्त होयकै निराकुल भये संते समस्त कालकौ व्यतीत करै हैं, सो पात्रदानतैं कहा न पाइये? सर्व पाइये, [illegible] ॥ १२२ ॥

निरस्य कर्माणि[illegible] शर्मदायिनीं
प्रयान्ति [illegible]

प्रदहते ध्यानकृशानुनाऽखिलं
श्रयंति सिद्धिं विधुतापदं सदा ॥ १२३ ॥

अर्थ—याप्रकार सुखकी करनेवाली महान लक्ष्मीकौं भोगके दोय तीन भवनिविर्षे समस्त कर्मनिकौं ध्यान अग्नि करि जरायके ते जीव आपदारहित मोक्ष अवस्थाकौं सदा सेवैहै ॥ १२३ ॥

विधाय सप्ताष्टभवेषु वा स्फुटं
जघन्यतः कल्मषकक्षकर्त्तनम् ।
व्रजंति सिद्धिं मुनिदानवासिता
व्रतं चरंतो जिननाथभाषितम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—अथवा मुनिराजनिके दानकी है वासना जिनके ऐसे जीव हैं ते जिनभाषितव्रतकौं आचरते संते जघन्यपनेसंतैं सात आठ भवविर्षे कर्मवनकौं काटकै निश्चयकरि मुक्तिकौं प्राप्त होयहैं, ऐसा जानना ॥ १२४ ॥

पात्रदानमहनीयपादपः
शुद्धदर्शनजलेन वर्द्धितः ।
यद्ददाति फलमर्चितं सतां
तस्य को भवति वर्णने क्षमः ॥ १२५ ॥

अर्थ—निर्मल सम्यग्दर्शनरूप जलकरि वृद्धीकौं प्राप्त भया ऐसा पात्रदानरूपी पूजनीक वृक्षहै सो सत्पुरुषनिके पूजित ऐसा जो फल देयहै ताके वर्णनविर्षे कोन समर्थहै, अपितु कोई समर्थ नाहीं ॥ १२५ ॥

गणेशिनाऽमितगतिना यदीरितं
न दानजं फलमिदमीर्यते परैः ।
विभासितं दिनमणिना यदंबरं
न भास्यते कथमपि दीपकैरिदम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—अपरिमित हैं ज्ञान जिनके ऐसे गणधर देवनि करि यह दानजनित फल कह्या सो फल और करि न कहिए है जैसें जो आकाश सूर्य करि प्रकाशीत किया सो यह दीपकनि करि कोई प्रकार भी नाहीं प्रकाशिये है, ऐसा जानना ॥ १२६ ॥

छप्पय छंद।

पात्र कुपात्र अपात्र भेद भाष्यो इम जिनपति
त्याग कुपात्र अपात्र करहु नितपात्रदानरति।
जा प्रसाद सब भोग भोगि फिर होय महायति
ध्यान धारि अरि टारि लहै शिवरमा अमितगति॥
तिहि काल अनंतानंत निजरूप मांहि अविचल रहैं
तसु ध्यानसलिलनें जीवका तुरत सकल कलिमलहरै॥

इत्युपासकाचारे एकादशमः परिच्छेदः।

ऐसें श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं
ग्यारहवां परिच्छेद समाप्त भया।

अथ द्वादशम परिच्छेद ।



भावद्रव्यस्वभावैर्यैरुन्नताः कर्मपर्वताः ।
विभिन्ना ध्यानवज्रेण दुःखव्यालालिसंकुलाः ॥ १ ॥
कर्मक्षयभवाः प्राप्ता मुक्तिदूतीरपच्छिदः ।
नव केवललब्धीर्ये पंचकल्याणभागिनः ॥ २ ॥
सर्वभाषामयी भाषा घोषयंती जगत्त्रयीम् ।
आश्चर्यकारिणी येषां ताल्वोष्ठस्पंदवर्जिता ॥ ३ ॥
प्रातिहार्याष्टकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम् ।
सपर्यां चक्रिरे सर्वे सादरा भुवनेश्वराः ॥ ४ ॥
वचांसि तापहारीणि पयांसीव पयोमुचः ।
क्षिपंतो लोकपुण्येन भूतले विहरंति ये ॥ ५ ॥
येषामिंद्राज्ञया यक्षः स्वर्गशोभाभिभाविनीम् ।
करोत्यास्थायिकीं कीर्णां लोकत्रितयजंतुभिः ॥ ६ ॥
आद्यसंहतिसंस्थाना निःस्वेदा क्षीरशोणिता ।
राजते सुंदरा येषां सुगंधिरमला तनुः ॥ ७ ॥
येषां द्विषः क्षयं याति तुष्टो लक्ष्मीं प्रपद्यते ।
न रुष्यंति न तुष्यंति ये तयोः समवृत्तयः ॥ ८ ॥
लक्ष्मीं मानिश्रयां येषां भुवनत्रयतोषिर्धीम् ।
अनन्यभाविनीं शक्तो वक्तुं कश्चिन्न विद्यते ॥ ९ ॥
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादयोऽखिलाः ।
येषु दोषा न तिष्ठंति कोपेषु न हुता इव ॥ १० ॥

शक्तितो भक्तितोऽर्हन्तो जगतीपतिपूजिताः ।
ते द्वेधा पूजया पूज्या द्रव्यभावस्वभावया ॥ ११ ॥

अर्थ—जिन करि भाव द्रव्य स्वभावनि करि सहित ऊंचे जे कर्मपर्वत ते ध्यानरूप वज्र करि भेदेहैं, कैसेहैं कर्मपर्वत दुःखरूप सर्पनिकी पंक्तिकरि आकुल हैं।

भावार्थ—जिन भगवाननें भावकर्म रागादिक द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक पुद्गलस्कंध ते ध्यानकरि नाशकिये हैं ॥१॥ बहुरि जे गर्भादि पंचकल्याणके भोक्ता तीर्थंकर देव कर्मकेक्षयतैं उपजी पापके नाश करनेवाली अर मुक्तिकी दूतीसमान ऐसी नव केवललब्धिनकौं प्राप्त भए हैं ॥ २ ॥ बहुरि जिनकी आश्चर्य उपजावने वाली सर्व भाषामयी तालवा होठके चलने करिरहित ऐसी दिव्यध्वनि तीन जगतकौं ज्ञान करती संती है ॥ ३ ॥ बहुरि जिनके छत्र चमरादि अष्ट प्रातिहार्य रचिकै सर्व लोकके नायक जो इन्द्रादिकहैं ते आदरसहित लोकविषैं अतिशय उपजावनेवाली जो पूजा ताहि करते भए ॥ ४ ॥ बहुरि जैसैं मेघ जलनिकौं बरसावते लोकमैं विचरै तैसैं संताप हरने वाले वचननकौं फैलावते संते जे भगवान जीवनके पुण्य करि पृथ्वीतलविषैं विहार करैहैं ॥ ५ ॥ बहुरि इंद्रकी आज्ञा करि कुबेर जिनकी समवसरण भूमिकाकौं करैहैं, कैसी है समवसरण भूमिका स्वर्गकी शोभाकौं जीतनेवाली अर तीन लोकके जीवनि करि भरी ऐसी है ॥ ६ ॥ बहुरि जिनकी देह सुंदर सुगंधरूप निर्मल सोहै है, कैसी है देह आदिका वज्रवृषभनाराच है संहनन जा विषैं अर आदिका समचतुरस्र है संस्थान जाका अर पसेवरहित अर दुग्धसमान श्वेत है रुधिर जाका ऐसी है ॥ ७ ॥ बहुरि जिनका द्वेष करनेवाला पुरुष क्षयकौं प्राप्त होय है अर भक्ति करनेवाला लक्ष्मीकौं प्राप्त होय है, बहुरि ते भगवान न द्वेष करैहैं न राग करै

निन दोऊन विषैं समान परणति है ॥ ८ ॥ जिनकी अतिशयरहित अर तीन भुवनकों संतोष करनेवाली अर अन्य हरिहरादिविषैं न पाइए ऐसी जो लक्ष्मी ताहि कहनेकौं कोऊ समर्थ नाहीं है ॥ ९ ॥ बहुरि राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह इत्यादिक समस्त दोष हैं ते न तिष्ठै जैसें तप्त भूमिमैं नोले नहीं रहै हैं ॥ १० ॥ इंद्रादिकनि करि पूजित ते अर्हंत भगवान शक्ति भारिक भक्ति तैं द्रव्य भाव स्वभावरूप दोय प्रकार पूजा करि पूजने योग्य हैं ॥ ११ ॥

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥ १२ ॥

अर्थ—वचनका अर शरीरका जो संकोच कहिए और क्रियानितै रोकि जिनेंद्रके सन्मुख करना सो द्रव्यपूजा कहिए है, अर मनका संकोच कहिए अन्य तरफतै रोकि जिनभक्तिमैं लगावना सो पुराणे पुरुषनिकरि भावपूजा कहिए है ॥ १२ ॥

गंधप्रसूनसान्नाय्यदीपधूपाक्षतादिभिः ।
क्रियमाणाथ वा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥ १३ ॥

अर्थ—अथवा गंध पुष्प नैवेद्य दीप धूप अक्षतनि करि विधानतै करी भई द्रव्यपूजा जाननी ॥ १३ ॥

व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः ।
गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—बहुरि जिनराजके गुणनिका अनुरागतै बारंबार चिंतवन करना सो यह भावपूजा कहिए है, कैसे हैं जिन व्यापक कहिए सर्वके जाननेवाले अर रागादिरहित विशुद्ध हैं ॥ १४ ॥

द्वेधापि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम् ।
न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जीत्याहै संसार जिननै ऐसे जिनदेवनिकी द्रव्य भाव करि दोऊही प्रकार पूजाकौं करता जो पुरुष ताकौं इसलोक परलोकविषैं उत्तम वस्तु दुर्लभ नाहीं ॥ १५ ॥

यैः कल्मषाष्टकं दग्ध्वा विशुद्धध्यानतेजसा ।
प्राप्तमष्टगुणैश्वर्यमात्मनीनमनव्ययम् ॥ १६ ॥
क्षुधा तृषा श्रम स्वेदनिद्रातोषाद्यभावतः ।
अन्नपानाशनस्नानशयनाभरणादिभिः ॥ १७ ॥
क्षुधादिनोदनैर्येषां नास्ति जातु प्रयोजनम् ।
सिद्धे हि वांछिते कार्ये कारणान्वेषणं वृथा ॥ १८ ॥
कर्मव्यपायतो येषां न पुनर्जन्म जायते ।
विलयं हि गते बीजे कुतः संपद्यतेऽङ्कुरः ॥ १९ ॥
रागद्वेषादयो दोषा येषां संति न कर्मजाः ।
निमित्तरहितं क्वापि न नैमित्तं विलोक्यते ॥ २० ॥
न निर्वृतिममी मुक्त्वा पुनरायांति संसृतिम् ।
शर्मदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥ २१ ॥
सुखस्य प्राप्यते येषां न प्रमाणं कदाचन ।
आकाशस्येव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयसः ॥ २२ ॥
पश्यंति ये सुखी भूता लोकाग्रशिखरस्थिताः ।
लोकं कर्मवशीभूतं नाट्यमानमनारतम् ॥ २३ ॥
येषां स्मरणमात्रेण पुंसां पापं पलायते ।
ते पूज्या न कथं सिद्धा मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिननै निर्मल ध्यान अग्नि करि अष्टकर्मकौ नाशकै आत्माका हित अर अविनाशी ऐसा सम्यक्त्वादि अष्ट गुणरूप ऐश्वर्य पाया ॥ १६ ॥ बहुरि क्षुधा तृषा श्रम पसेव निद्रा हर्ष इत्यादिके

अभावतें क्षुधादिकके दूर करनेवाले जे अन्न पान आसन स्थान भोजना आभूषण इत्यादिकनि करि जिनसिद्धनिके कदाचित् प्रयोजन नाहीं, जातें वांछितकार्यकी सिद्धीभये कारणका ढूंढना वृथाहै।

भावार्थ—लोकमें क्षुधादिककी पीड़ा होयहै तब अन्नादिक हेरिये है, बहुरि सिद्ध भगवानके क्षुधादिक दोषही रहे नाहीं तब अन्नादिककौ हेरना काहेकौं चहिए, वह तो सहज ज्ञानानंदविषैं मग्नहैं ॥ १७-१८ ॥ बहुरि जिनके कर्मनिके अभावतैं फेर जन्म न होयहै, जातैं बीजकौ नाश भये संते अंकुर कहितैं होय, अपि तु नाहीं होय।

भावार्थ—जन्म होनेका कारण कर्महै सो निर्मूल कर्मका अभाव भया अब जन्म कैसे होय ॥ १९ ॥ बहुरि कर्मजनित रागद्वेषादि दोष जिनकै नाहीहैं जातें निमित्तरहित कहूं भी न अवलोकिए है।

भावार्थ—मोहादिकर्म निमित्त पाय नैमित्तिक रागादि होयहै अब सिद्धनिके मोहादि कर्म निमित्त रह्या नाहीं नैमित्तिक रागादि काहेतैं होय अपि तु नाहीं होय ॥ २० ॥ बहुरि ये सिद्धभगवान मोक्ष अवस्थाकौं छोडिकै फेर संसारमें नाहीं आवे है, जातें सुखदायक ठिकानेकौ छोडिकै दुःखदायक ठिकानेकौ कौन प्राप्त होय अपि तु कोई भी न होय ॥ २१ ॥ बहुरि जिनका आकाश की ज्यों नित्य अर निर्मल अर बड़ा जो गुण ताका प्रमाण कदाचित् भी न पाइयेहै ॥ २२ ॥ बहुरि जे सुखस्वरूप लोकके अग्रशिखर परि तिष्ठे संते कर्मरूप नटका करि निरंतर नचाया जो लोक ताहि देखैहै।

भावार्थ—कर्मकरि जीवनिकी नाना अवस्था होयहै तिनकौ अवलोकै है परंतु रागादिकके अभावतैं आप सुखरूप तिष्ठै है ॥ २३ ॥ बहुरि जिनके स्मरण मात्र करि पुरुषनिका पाप आदि नष्ट है ते सिद्ध भग-

वान् मन वचन कायकी क्रिया करि कैसैं पूजने योग्य नाहीं, अपि तु पूजने ही योग्यहैं ॥ २४ ॥

चारयंत्यनुमन्यंते पंचाचारं चरंति ये ।
जनका इव सर्वेषां जीवानां हितकारणम् ॥ २५ ॥
येषां पादपरामर्शे जीवा मुंचंति पातकम् ।
सलिलं हिम रश्मीनां चंद्रकांतोपला इव ॥ २६ ॥
उपदेशैः स्थिरं येषां चारित्रं क्रियतेतराम् ।
ते पूज्यंते त्रिधाऽऽचार्याः पदं वर्यं यियासुभिः ॥ २७॥

अर्थ—जे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप आचार वीर्याचार ये जो पंच आचार सर्व जीवनिकौं आचरणकरावै है अर आप आचरण करैहैं जैसैं पिता हितका आचरण करावै तैसैं ॥ २५ ॥ बहुरि जिनके चरणका स्पर्श होतसतैं जीव पापकौं त्यागैहै जैसैं चंद्रमाकी किरणनिका स्पर्श होतसतैं चंद्रकांतपत्थर जलकौं छोड़ै तैसैं ॥ २६ ॥ बहुरि जिनके उपदेशनि करि चारित्र अतिशय करि स्थिर कीजिएहै ते आचार्य श्रेष्ठपद जो मोक्षपद ताहि जानेकी है वांछा जिनकै ऐसे पुरुषनिकरि मन वचन कायनैं पूजिए हैं ॥ २७ ॥

उन्नतेभ्यः समस्तेभ्यो येभ्यो दलितकल्मषाः ।
जायंते पावना विद्याः पर्वतेभ्य इवाऽऽपगाः ॥ २८ ॥

अर्थ—जिननैं, नाशकिया है पाप जिननैं ऐसी पवित्र विद्या उपजै है जैसे पर्वतननैं नदी उपजै तैसे, कैसे है ते बड़े हैं अर पराक्रमसहित हैं ॥ २८ ॥

चरंतः पंचधाचारं मत्वाऽप्यदवानलम् ।
द्वादशांगश्रुतस्कंधं पाठयंति पठंति ये ॥ २९ ॥

अर्थ—बहुरि जे संसार वनकौं दावानल समान जो पंचाचार ताहि आचरण करैहैं बहुरि जो बारह अंगरूप श्रुतस्कंधकौं पढावै हैं अर पढै है ॥ २९ ॥

येषां वचोहृदे स्नाता न संति मलिना जनाः ।
तेऽर्च्यंते न कथं दक्षैरुपाध्याया विरेपसः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनके वचनरूप सरोवरविषैं न्हाये जन हैं ते मलिन न होय हैं ते पापरहित उपाध्याय भगवान चतुर पुरुषनि करि कैसैं न पूजिए, पूजिए ही है ॥ ३० ॥

यैरनंगानलस्तीव्रः संतापितजगत्त्रयः ।
विध्यापितः शमांभोभिः पापपंकापसारिभिः ॥ ३१ ॥
दिधक्षवो भवारण्यं ये कुर्वंति तपोऽनघम् ।
निराकृताखिलग्रंथा निस्पृहाः स्वतनावपि ॥ ३२ ॥
निधानमिव रक्षंतियेरत्नत्रयमादृताः ।
ते सद्भिर्वरिवस्यंते साधवो भव्यबांधवाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—संतापकौं प्राप्त किये हैं तीन लोक जानैं ऐसी जो कामरूप तीव्र अग्नि सो जिनैं पापरूप कीचके दूर करनेवाले जे शांत भावरूप जल तिन करि उडाया है ॥ ३१ ॥ बहुरि जे संसारवनकौं दग्ध करनेके वांछक पापरहित तपकौं करैहैं कैसे हैं ते साधु निराकरण किया है समस्त अंतरंग बहिरंग परिग्रह जिननैं बहुरि अपने शरीरविषैं भी वांछा रहित हैं ॥ ३२ ॥ बहुरि जे आदरसहित भंडारकी ज्यों दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयकौं रक्षा करैहैं ते भव्यजीवनके बांधव जे साधु भगवान ते सत्पुरुषनि करि आराधिए है ॥ ३३ ॥

अर्चयन्निघरित्था पुंभ्यः पंचेति परमेष्ठिनः ।
नश्यंति तरसा विघ्ना विडलेभ्य इवाऽऽखवः ॥ ३४ ॥

अर्थ—या प्रकार पंच परमेष्ठीनकों पूजते जे पुरुष तिनतें विघ्न शीघ्र नाशकों प्राप्त होयहैं, जैसें विलावनतें मूसा नसैं तैसें।

भावार्थ—पंच परमेष्ठीनके पूजनादिकतें शुभपरिणाम बंधैहैं तातें अंतरायकर्मका अनुभाग हीन होयहै, तब विघ्न न होयहै, ऐसा जानना॥ ३४॥

पूजयंति न ये दीना भक्तितः परमेष्ठिनः।
संपद्यते कुतस्तेषां शर्म निंदितकर्मणाम्॥ ३५॥

अर्थ—जे दीन अज्ञानी पुरुष पंच परमेष्ठीनकों न पूजैहैं तिन नें कर्मीनके सुख कहां तै होय, अपि तु नाहीं होय, ऐसा जानना॥ ३५

इंद्राणां तीर्थकर्तॄणां केशवानां रथांगिनाम्।
संपदः सकलाः सद्यो जायंते जिनपूजया॥ ३६॥

अर्थ—इंद्रनिकी तीर्थंकरनिकी नारायणनिकी चक्रवर्तिनकी जे समस्त संपदाहैं ते जिनपूजा करि शीघ्र होयहैं॥ ३६॥

मानवैर्मानवावासे त्रिदशैस्त्रिदशालये।
खेचरैः खेचरावासे पूज्यंते जिनपूजकाः॥ ३७॥

अर्थ—जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरुषहैं ते मनुष्यलोकविषैं तौ मनुष्यनिकरि पूजियेहैं अर देवलोकविषैं देवनिकरि पूजियेहै अर विद्याधरनिके लोकविषैं विद्याधरनिकरि पूजियेहै॥ ३७॥

सकामा मन्मथालापा निविडस्तनमंडलाः।
रमण्यो रमणीयांगा रमयंति जिनार्चिनः॥ ३८॥

अर्थ—जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरुष कौं रमणीक जे स्त्री रमणीहैं ते स्त्री काममहितहैं अर मधुरहैं शब्द जिनके अर कठोरहै कुचमंडल जिनके अर सुंदरहै अंग जिनके ऐसीहैं।

भावार्थ—जिनपूजाविषैं पुण्यबंध होयहै ताकरि देवादि पद विषैं अनेक स्त्री मिलैहैं ॥ ३८ ॥

पवित्रं यद्विरातंकं सिद्धानां पदमव्ययम् ।
दुष्प्राप्यं विदुषामर्घ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चकैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनदेवके पूजक जे पुरुष तिनकरि मुक्त जीवनका पद जो मोक्षसुख सो पाइये है कैसा है मुक्त जीवनिका पद रागादिमलरहित है पवित्र हैं अर संसाररोगरहित है अर अविनाशी है अर दुर्लभ है अर ज्ञानीनिकरि वांछने योग्य है ऐसो पद जिनपूजक पावै हैं।

भावार्थ—जिनपूजाके परिणामके निमित्त पाय परंपराय रत्नत्रय आराध कै मोक्ष होय है ॥ ३९ ॥

जिनस्तवं जिनस्नानं जिनपूजां जिनोत्सवम् ।
कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं लभते याचितां जनः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनदेवका स्तवन जिनदेवका अभिषेक जिनदेवकी पूजा महा उत्सव इनकौं भक्तितैं करता ऐसा मनुष्य है सो वांछित लक्ष्मीकौं पावै है ॥ ४० ॥

इहां ताईं पूजाका वर्णन किया। आगैं शीलका वर्णन करै है;—

संसारारातिभीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम् ।
गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—संसार वैरीतैं भयभीत जो पुरुष ताकै गुरुकी साखि ग्रहण करे जे समस्त व्रत तिनकी रक्षा करना सो शील कहिए है ॥ ४१ ॥

साक्षीकृता व्रतादाने कुर्वते परमेष्ठिनः ।
भूपा इव महादुःखं विचारे व्यभिचारिणः ॥ ४२ ॥

अर्थ—व्रतग्रहणविषैं साखी किये जे परमेष्ठी हैं ते विचारविषैं व्यभिचार करता जो पुरुष ताकौ राजानकी ज्यों महान् दुःख करै है।

भावार्थ—जैसें राजाके आगें किछू प्रतिज्ञा करी अर तामें चूक जाय तो दंड पावै तैसें अर्हतादिकनिके आगें लीनी जो आखडी तातें भंग होय तो महादुःख पावै। यद्यपि अर्हंतादिक वीतराग हैं उनके दुःख देनेका किछू प्रयोजन नाहीं तथापि अपनेही परिणामनिकी मलिनतातें पाप बांधि नरकादि दुःख भोगै है, ऐसा जानना ॥ ४२ ॥

> एकदा ददते दुःखं नरनाथास्तिरस्कृताः ।
> गुरवो व्यवहृता दुःखं वितरन्ति भवे भवे ॥ ४३ ॥

अर्थ—तिरस्कार किये भए राजा हैं ते तो एकवारही दुःख देवै हैं अर तिरस्कार भये गुरु हैं ते भव भव विषैं दुःख देवै हैं।

भावार्थ—गुरुनके अनादर करि महापापबंध होयहै तातें जीव नरकादिकविषैं महादुःख पावै है ॥ ४३ ॥

> मथयित्वा शिरं पीतं वरं प्राणा विसर्जिताः ।
> न कदाचिद्व्रतं भग्नं गृहीत्वा गुरुसाक्षिकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—मस्तकको मथन करि त्यागे भये प्राण हैं ते भले हैं अर आचार्यकी साखि व्रतको ग्रहण करि भंग करना श्रेष्ठ नाहीं।

भावार्थ—मरण होय तो हो परन्तु व्रतका भंग करना योग्य नाहीं ॥ ४४ ॥

> वमनैर्धूमपानैश्च शोध्यतेऽपि शरीरकं ।
> शोधितं व्रतभंगेन न पुनर्विहितो जनः ॥ ४५ ॥

अर्थ—वमन अर धूमपान करि शरीरको पुनः शोधै है परंतु व्रतभंग करि मलिन भया जन शुद्ध न होवै है ॥ ४५ ॥

> मद्यं मांसं क्षौद्रं रात्रिभोजनमेव च ।
> वर्जनं कुर्वतो नित्यं व्रतमप्यनिवारितम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—शील है सो स्वभावरूप आभूषणहै अर शील उत्तम मंडन है अर शील है सो घणी वटसारीहै अर शील है सो बड़ा रक्षा करना है शील ही जीवनिकी रक्षा करेहै ॥ ४६ ॥

¹शीलेन रक्षितो जीवो न केनाऽप्यभिभूयते।
महाह्रदनिमग्नस्य किं करोति दवानलः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो पुरुषकी शील करि रक्षा कीजिएंहै सो काहूकरि भी तिरस्कारकों प्राप्त नहीं होयहै जैसें बड़े सरोवरविषै डूब्या पुरुषका दावानल क्या करि सकैहै तैसें ॥ ४७ ॥

बांधवाः सुहृदः सर्वे निःशीलस्य पराङ्मुखाः।
शत्रवोऽपि दुराराध्याः संमुखाः संति शीलिनः ॥ ४८ ॥

अर्थ—बांधव जनहैं ते तथा मित्र हैं ते सर्व शीलरहित पुरुषके पराङ्मुख होयहैं अर दुःख करि आराध्ये जाय ऐसे शत्रूभी शीलवान पुरुषके सहायक होयहैं ॥ ४८ ॥

शीलतो न परो बंधुः शीलतो न परः सुहृत्।
शीलतो न परा माता शीलतो न परः पिता ॥ ४९ ॥

अर्थ—शीलसिवाय और बंधु नाही, शीलतैं सिवाय और मित्र नाही, शीलतैं सिवाय और माता नाही, शीलतैं सिवाय और पिता नाही।

भावार्थ—जीवका हितकारी शीलसिवाय और नाही ॥ ४९ ॥

उपकारो न शीलस्य कर्तुमन्येन शक्यते।
कल्पद्रुमफलं दत्ते परः कुत्र महीरुहः ॥ ५० ॥

---

१ यह श्लोक मूलप्रतिमें ४७ के नंबर परहै और वचनिकाकी प्रतिमें ४९ के नंबर परहै।

अर्थ—शीलसमान उपकार करनेकौं और समर्थ न हूजिएहै जैसैं कल्पवृक्ष फल देयहै सो और कहा वृक्ष फल कहा देयहै, कहूंभी न देयहै ॥ ५० ॥

तापेऽपि सुखितः शीली शीलमोची पुनर्जनः ।
चित्रं जनांगुलिच्छायो स्थितोऽपि परितप्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य कहैं हैं बडा आश्चर्य है, देखो—शीलवान जीवहै सो ताप कहिए घामविर्षे भी सुखीहै बहुरि शीलका त्यागनेवालाहै सो मनुष्यनिकी अंगुलीकी छायाविर्षै तिष्ठयाभी तप्तायमान होयहै ॥ ५१ ॥

कदाचन न केनापि सुशीलः परिभूयते ।
न तिरस्क्रियते यो हि श्लाघ्यते तस्य जीवितम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो सुशील पुरुष कोऊ करि भी चलायमान न कीजिएहै अर तिरस्कार न कीजिएहै ताका जीवना सराहिएहै ॥ ५२ ॥

भंगस्थानपरित्यागी व्रतं पालयतेऽमलम् ।
तस्करैर्लुंठ्यते कुत्र दूरतोऽपि पलायितः ॥ ५३ ॥

अर्थ—भंगस्थान कहिये जिस स्थानमैं शील भंग होय ऐसा स्थानका त्यागनेवाला पुरुष है सो निर्मल व्रतकौं पालैहै, जैसैं दूरहीतै भाग्या जो पुरुष है सो चोरन करि कहा लूटिएहै, अपि तु नाहीं लूटिएहै।

भावार्थ—जैसैं चोरनिकौं दूरहीतैं त्यागै सोपुरुष लुटै नाहीं तैसैं व्रतभंगके कारण स्थानादिक त्यागै ताका व्रत निर्मल पलैहै ॥ ५३ ॥

आगैं शीलभंगके कारण जे द्यूतादिक तिनका निषेध करैहै, तहां प्रथम द्यूतका निषेध करैहै,—

नानानर्थकरं द्यूतं मोक्तव्यं शीलशालिना ।
शीलं हि नाश्यते तेन गर्त्त्येनेव जीवितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—शीलकरि शोभित जो पुरुष है ताकरि अनेक अनेक अनर्थनिका करनेवाला जो जुवा है सो त्यागना योग्य है, जातें निश्चयतें ताकरि शील नाशिए है जैसें विषभक्षण करि जीवन नाशिए है ॥५४॥

विषादः कलहो राटिः कोपो मानः श्रमो भ्रमः ।
पैशून्यं मत्सरः शोकः सर्वे द्यूतस्य बांधवाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—विषाद कलह राड क्रोध मान खेद पिशुनता चुगली मत्सरभाव शोक, ये सर्वे जुवाके बंधुजन हैं ।

भावार्थ—जहां जुवा होय है तहां पूर्वोक्त सर्वे दुर्गुण अवश्य होय हैं ॥ ५५ ॥

दुःखानि तेन जन्यंते जलानीवाम्बुवाहिना ।
मनांसि तेन धूयंते रजांसीव नभस्वता ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस जुवा करि जैसें बादलै करि जल उपजाइये है, तैसें दुःख उपजाइए है अर जैसें पवनकरि रज उडाइए है तैसें जुवा करि मन उडाइए है ।

भावार्थ—जुवा करि नाना दुःख होय है अर मनविषै चैन भी न रहै है ॥ ५६ ॥

न श्रियस्तत्र तिष्ठंते द्यूतं यत्र प्रवर्तते ।
न हुताशनतस्तत्र विद्यंते यत्र पादपाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसें जहां अग्नि होय है तहां वृक्षनकी प्राप्ति उत्पत्ति न होय है तैसें जहां जुवा प्रवर्ते है तहां लक्ष्मी न तिष्ठै है ॥ ५७ ॥

मातुरप्युत्तरीयं यो हरते जननिन्दितः ।
अकर्तव्यं परं तस्य द्यूतिनः कीदृशं वद ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो जुवा खेलनेवाला पुरुष लोकनिंद्य होयकरि माताके उत्तरीय वस्त्रकूं भी हर लेय है तिसकै और अकार्य कहा है सो कहो ।

भावार्थ—कोऊ भी अकार्य करनेमें जुवा वालेकै लज्जा नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

संपदं सकलां हित्वा स गृह्णाति महाऽऽपदम् ।
स्वकुलं मलिनीकृत्य वितनोति च दुर्यशः ॥ ५९ ॥

अर्थ—सो जुवा खेलनेवाला पुरुष समस्त संपदाकौं त्याग करि महा आपदाकौं ग्रहण करै है, बहुरि अपने कुलकौं मलिन करके खोटा यश विस्तारै है ॥ ५९ ॥

नारकैरपरैः क्रुद्धैर्नारकस्येव मस्तके ।
निखन्य कितवैस्तस्य दुर्ज्वालो ज्वाल्यतेऽनलः ॥६०॥

अर्थ—जैसैं अन्य क्रोधायमान भए जे नारकी तिन करि नारकीके मस्तकविषैं थापि करि दुःखकारी है ज्वाला जाकी ऐसा अग्नि जलाइये है तैसैं जुवारीनकरि जुवारीके सिर परि अग्नि जलाइए है ॥ ६० ॥

कर्कशं दुःश्रवं वाक्यं जल्पंतो वंचिताः परे ।
कुर्वंति द्यूतकारस्य कर्णनासादिकर्त्तनम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिनका धन ठिगाडिया ऐसे जे अन्य द्यूतकारहैं ते कठोर अर कानानिकौं दुःखदाई बचन बोलते संते जुवा खेलनेवाले के कान नासिका आदि अंगनिकौं काटैहैं ॥ ६१ ॥

विज्ञायेति महादोषं द्यूतं दीव्यंति नोत्तमाः ।
जानानाः पावकोष्णत्वं प्रविशंति कथं बुधाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—या प्रकार जुवाकौं महादोषरूप जानकरि उत्तम पुरुष नाहीं खेलैहै जैसैं अग्निका उष्णपना जानते संते पंडित जनहै ते अग्निमैं प्रवेश कैसे करै, अपि तु नाहीं करैहै ॥ ६२ ॥

आगैं वेश्याका निषेध करै है;—

वितनोति दृशो रागं या वात्येव रजोमयी।
विध्वंसयति या लोकं शर्वरीव तमोमयी॥ ६३॥
या स्वीकरोति सर्वस्वं चौरीवार्थपरायणा।
छलेन याति गृह्णाति शाकिनीवामिषप्रिया॥ ६४॥
वह्निज्वालेव या स्पृष्टा संतापयति सर्वतः।
शुनीव कुरुते चाटु दानतो याऽति कश्मला॥ ६५॥
विमोहयति या चित्तं मदिरेव निषेविता।
सा हेया दूरतो वेश्या शीलालंकारधारिणा॥ ६६॥

अर्थ—जो वेश्या नेत्रनिविषैं जैसैं धूलिसहित पवन राग विस्तारै तैसैं राग विस्तारै है बहुरि या लोकका जैसैं अंधकारमयी रात नाश करैहै तैसैं नाश करैहै॥ ६३॥ बहुरि जो वेश्या धनमैं तत्पर चौरी करनेवालाकी ज्यौं सर्व धनकौं गृहण करैहै बहुरि जो छलकरि मांस है प्रिय जाकौं ऐसी शाकिनिकी ज्यौं मनुष्यकौं अतिशयकरि अंगीकार करैहै॥ ६४॥ बहुरि जो वेश्या अग्निकी ज्वाला समान स्पर्शी भई सर्व तरफतैं संताप उपजावैहै, बहुरि धनके देवैतैं जो अत्यंत पापिनी कुत्तीकी ज्यौं खुशामद विस्तारै है॥ ६५॥ बहुरि जो मदिराकी ज्यौं सेई भई चित्तकौं मोह उपजावैहै सो वेश्या शीलरूप आभूषणका धारी जो पुरुष ताकरि दूरतै त्यागनी योग्यहै॥ ६६॥

सत्यं शौचं शमं शीलं संयमं नियमं यमम्।
प्रविशंति बहिर्मुक्ता विटाः पण्यांगनागृहे॥ ६७॥

अर्थ—व्यभिचारी पुरुषहैं ते सत्य शौच शम शील संयम नियम यम इत्यादि सर्व धर्मके अंगनिकौं बाहर छोडिकरि वेश्याके घरमैं प्रवेश करैहै।

भावार्थ—वेश्याके घरमैं प्रवेश करतेही सर्व धर्मका नाश होयहै॥ ६७॥

तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया ।
छिद्यंते वेश्यया सद्यः कुठारेणेवाऽखिला लताः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जैसैं कुल्हाडी करि सर्व लता शीघ्र छेदिएहै तैसैं वेश्याकरि तप व्रत यश विद्या कुलीनपना इंद्रियनिका दमन दया ये सर्व शीघ्र छेदियेहैं ॥ ६८ ॥

जननी जनको भ्राता तनयस्तनया स्वसा ।
न संति वल्लभास्तस्य दारिका यस्य वल्लभा ॥ ६९ ॥

अर्थ—जा पुरुषकै वेश्या प्यारीहै ता पुरुषकै माता पिता भाई पुत्र पुत्री बहन ये प्यारे नाहीं ॥ ६९ ॥

न तस्मै रोचते सेव्यं गुरूणां वचनं हितम् ।
सशर्करमिव क्षीरं पित्ताकुलितचेतसे ॥ ७० ॥

अर्थ—वेश्या सेवने वाले पुरुषको सेवने योग्य जो गुरुनका हितरूप वचन सो नही रुचैहै जैसैं पित्तकरि आकुलितहै चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताकै अर्थ मिश्रीसहित दूध नाही रुचैहै तैसैं ।

भावार्थ—वेश्यासक्तको गुरुवचन नही सुहावैहै ॥ ७० ॥

वेश्यावक्त्रगतां निंद्यां लालां पिबति योऽधमः ।
शुचित्वं मन्यते स्वस्य काऽपरतो विडंबना ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे अधम पुरुष वेश्याके मुख विषै प्राप्त जो निंदनीक लाल ताहि पीवैहै अर आपकै शुचिपना मानैहै या सिवाय और कहा विडंबनाहै ॥ ७१ ॥

यो वेश्यावदनं निघ्ने मूढो मद्या दिवासितम् ।
मद्यमांसपरित्यागव्रतं तस्य वृथान्वनम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो मूढ मदिराकरि वासित जो वेश्याका मुख ताहि चूमैहै ताकै मदिरा मांसके त्यागरूप व्रत कहिवा ॥ ७२ ॥

वदनं जघनं यस्या नीचलोकमलाविलम्।
गणिकां सेवमानस्य तां शौचं वद कीदृशम्॥ ७३॥

अर्थ—जा वेश्याका मुख अर जघन नीचलोकके मलकरि मलिनहै ता गणिकाकौ सेवता जो पुरुष ताकै पवित्रपना कैसा, कोई प्रकार पवित्रपना नाहीं॥ ७३॥

या परं हृदये धत्ते परेण सह भाषते।
परं निषेवते लुब्धा परमाह्वयते दृशा॥ ७४॥

अर्थ—या वेश्या मनमैं अन्य पुरुषकौं धारै है अर औरके साथ बोलेहै अर लोभनी औरकौं सेवैहै अर दृष्टिकरि औरकौं बुलावै है॥ ७४॥

सरलोऽपि सदक्षोऽपि कुलीनोऽपि महानपि।
यवेक्षुरिव निःसारः सुपर्वापि विमुच्यते॥ ७५॥

अर्थ—जा वेश्या करि मायाचाररहित सरल भी अर चतुर भी अर कुलीन भी अर बडा भी अर सुपर्वा कहिये सुंदर अंगसहित भी निःसार कहिये द्रव्यरहित होय सो सांठे की ज्यों त्यागिए है,

भावार्थ—जैसे सूधा भी भला भी अर कुलीन कहिये पृथ्वीविषै लीन भी बडा भी अर सुपर्वा कहिये भली है मुटोर जाकी ऐसा भी सांठा है सो साररहित त्यागिए है तैसे वेश्याकरि निःसार मनुष्य त्यागिए है॥७५॥

न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शीलरत्नं वियासता।
जानानो न हि हिंसत्वं व्याघ्रीं स्पृशति कश्चन॥ ७६॥

अर्थ—शील रत्नकी रक्षा करता जो पुरुष ताकरि सो वेश्या मन वचन काय करि सेवनी योग्य नाहीं जातै हिंसकपनेकौं जानता संता कोई भी पुरुष है सो व्याघ्रीकौं नाहीं स्पर्शै है॥ ७६॥

आगैं परस्त्रीसेवनका निषेध करै है;—

ये मारयंति निस्त्रिंशा ये मार्यंते च विह्वलाः ।
तेषांपरस्परंनास्ति विशेषस्तत्क्षणं विना ॥ ९६ ॥

अर्थ—जे निर्दयी मारैहै अर जे विह्वल जीव मारिएहै तिनकै परस्पर ता समयविना विशेष नाहीं ।

भावार्थ—वर्तमान समयमैं तो मारनेवाला अर जिनकौं मारैहै ते जीव हीनाधिकहै बहुरि आगैं नरकादिकमैं परस्पर मारैहै तहां हीनाधिक नाहीं ॥ ९६ ॥

स्वमांसं परमांसैयें पोषयंति दुराशयाः ।
स्वमांसमेव खाद्यंते हठतो नारकैरिमे ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो दुष्टचित्त परजीवनके मांसनकरि अपना मांस पोषैहै सो ये हठतैं अपने मांसहीकौं नारकीन करि खवाइएहै ॥ ९७ ॥

स्वल्पायुर्विकलो रोगी विचक्षुर्बधिरः खलः ।
वामनः पामनः षंढो जायते स भवे भवे ॥ ९८ ॥

अर्थ—अल्प आयु अंगविकल रोगी नेत्ररहित बहरा दुष्ट वामन कुरोगी नपुंसक सो मांसभक्षी भव भवविषैं होयहै ॥ ९८ ॥

दुःखानि यानि दृश्यंते दुःसहानि जगत्त्रये ।
सर्वाणि तानि लभ्यंते प्राणिमर्दनकारिणा ॥ ९९ ॥

अर्थ—तीन लोकविषैं जे दुःसह दुःख देखिए है ते सर्व दुःख प्राणीनकी हिंसा करनेवाले करि पाइए है ॥ ९९ ॥

इति दोषवती मत्वा मृगया हितकांक्षिणा ।
नानानर्थंकरी त्याज्या सर्वथापि विरागिणा ॥ १०० ॥

अर्थ—या प्रकार दोषसहित मानिकै हितका वांछक जो पुरुष ताकरि अनेक अनर्थनकी करनहारी शिकार समान ... शिकार सो त्यागना योग्य है ॥ १०० ॥

भोजनं कुर्वता कार्यं मौनं शीलवता सदा।
संतोषित्वमिवानिंद्यं भक्ष्यशुद्धिविधायिना ॥ १०१ ॥

अर्थ—जैसें भिक्षा शुद्धिका आचरण करनेवाला जो मुनि ताकरि अनिंद्य संतोषीपना करणा योग्य है तैसें भोजन करता जो शीलवान सत्पुरुष ताकरि मौन करना योग्य है ॥ १०१ ॥

सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः।
रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगित्वे पुनर्न किम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—मौन सदाकाल सराहिए है अर भोजनमैं तो विशेष सराहिए है जैसैं औषध सदा भली है बहुरि सरोगीपनेविषै कैसैं भली न होय ॥ १०२ ॥

संतोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दर्श्यते।
संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥ १०३ ॥

अर्थ—जाकरि मौन करिए है ताकरि संतोष भाइए है ताकरि वैराग्य देखिए है ताकरि संयम पोषिए है ॥ १०३ ॥

वाचो व्यापारतो दोषा ये भवंति दुरुत्तराः।
ते सर्वेऽपि निवार्यंते मौनव्रतविधायिना ॥ १०४ ॥

अर्थ—वचनके व्यापारतें जे दुःखतें तरिए ऐसे दोष हैं ते सर्व ही मौनव्रतके धारक पुरुष करि निवारिए है ॥ १०४ ॥

सागरोऽपि जनो येन प्राप्यते यतिसंयमम्।
मौनस्य तस्य शक्यंते केन वर्णयितुं गुणाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—जिस मौन कर भी गृहस्थी यतिके संयमको प्राप्त कीजिए है तिस मौनके गुण कौनकरि वर्णन करनेको समर्थ हूजिए, अपि तु काहूकरि न हूजिए है ॥ १०५ ॥

पोषेण विशता रोधः कल्मषस्य विधीयते ।
बलिष्ठेन महिष्ठेन सलिलस्येव सेतुना ॥ १०६ ॥

अर्थ—जैसैं बलवान अर बडा जो सेतु कहिए पाल ताकरि जलका रोध करिए तैसैं प्रवेश करता जो पाप ताका रोध मौनकरि कीजिए है ॥ १०६ ॥

हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्द्धचलनादिभिः ।
मौनं विदधता संज्ञा विधातव्या न गृद्धये ॥ १०७ ॥

अर्थ—मौनकौं धारता जो पुरुष ताकरि हुंकार करना अंगुली उठावना खकार करना भृकुटी चलावना मस्तक चलावना इत्यादिकरि गृद्धी जो अभिलाष ताके अर्थि संज्ञा करना योग्य नाहीं ॥ १०७ ॥

सार्वकालिकमन्यच्च मौनं द्वेधा विधीयते ।
भक्तितः शक्तितो भव्यैर्भवभ्रमणभीरुभिः ॥ १०८ ॥

अर्थ—संसारभ्रमणतैं भयभीत जे भव्यजीव तिनकरि भक्तितैं शक्तिसारू एक तौ सार्वकालिक कहिए मरणपर्यंत दूजा असार्वकालिक कहिए कालकी मर्यादारूप ऐसे दोय प्रकार मौन कीजिए है ॥ १०८ ॥

भव्येन भक्तितः कृत्वा मौनं नियतकालिकम् ।
जिनेंद्रभवने देया घंटिका समहोत्सवम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—भव्यजीव करि भक्तितैं कालकी मर्यादारूप मौन करि जिनेंद्रके मंदिरविषैं महोत्सवसहित जैसे होय तैसैं घंटिका देनी योग्य है।

भावार्थ—मौनव्रत पूर्ण होय तब उद्यापन करै तामैं जिनदेवकै अर्थ घंटा चढावै, ऐसा जानना ॥ १०९ ॥

न सार्वकालिके मौने निर्वाह्यनिरेकतः ।
उद्योतनं परं कार्यैः क्रियतापि विधीयते ॥ ११० ॥

अर्थ—सार्वकालिक कहिए यावज्जीव मौनविर्षे निर्वाह विना (निर्वाहके सिवाय) पंडितनिकरि किछू भी उद्योतन न करिए है ॥ ११० ॥

आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये विशेषतः ।
मौनी न पीड्यते पापैः सन्नद्धः सायकैरिव ॥ १११ ॥

अर्थ—सामायिकादि आवश्यक क्रिया विर्षे मलके क्षेपण विर्षे बहुरि पापकार्य जो मैथुनसेवन आदि ता विर्षे मौनका धारी जीवहै सो पापकरि न पीडिएहै जैसें बकतर पहरे योद्धा है सो बाणनिकरि न पीड्या जायहै तैसें मौनी पापनिकरि न बंधैहै ॥ १११ ॥

कोपादयो न संक्लेशा मौनव्रतफलार्थिना ।
पुरः पश्चाच कर्त्तव्याः सूचने तद्विरोधिनः कृतः ॥ ११२ ॥

अर्थ—मौनव्रतके फलका वांछक जो पुरुष ताकरि आगैं वापीछैं क्रोधादिकषाय करणा योग्य नाही, जातैं करे जे क्रोधादिकषाय तिनकरि मौनव्रत नाश कीजिएहै ।

भावार्थ—मौनपें पहले वा पीछे कषाय न करना, कषायतैं मौनव्रत निष्फल होयहै ॥ ११२ ॥

वाचंयमः पवित्राणां गुणानां सुखकारिणाम् ।
सर्वेषां जायते स्थानं मणीनामिव नीरधिः ॥ ११३ ॥

अर्थ—वचनका संयम है सो पवित्र अर सुखकारी जे सर्वगुण तिनका स्थान होयहै जैसें रत्ननिका स्थान समुद्र होयहै तैसें ।

भावार्थ—वचनका संयमहै सो सर्व गुणनिका स्थानहै, ऐसा जानना ॥ ११३ ॥

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसंदर्भगर्भिता ।
आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि निर्मल मौन करियेहै ताकी शास्त्ररचना करि शुद्ध मनकौं प्यारी आदर करनेयोग्य वाणी होयहै ॥ ११४ ॥

पदानि यानि विद्यंते वंदनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यंते प्राणिना मौनकारिणा ॥ ११५ ॥

अर्थ—जे पंडितनि करि वंदनीक पद हैं ते सर्व पद मौन धारनेवाला जो जीव ताकरि पाइए है ॥ ११५ ॥

निर्मलं केवलज्ञानं लोकालोकावलोकनम् ।
लीलया लभ्यते येन किं तेनान्यस्य काङ्क्षितम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—लोकालोकका देखनहारा ऐसा निर्मल केवलज्ञान जाकरि लीलामात्र करि पाइए, ताकरि और वांछित वस्तु कहा न पाइए, करि सु पाइएही है ॥ ११६ ॥

ऐसे मौनव्रतका वर्णन किया, आगे उपवासका वर्णन करै है,—

मार्गो निरूप्यते येन धर्मो येन विवर्धते ।
पापं निरस्यते येन संयमो येन जन्यते ॥ ११७ ॥

अनेकभवसंबद्धकर्मकाननपावकः ।
उपवासः स कर्तव्यो नीरागीभूतचेतसा ॥ ११८ ॥

अर्थ—[illegible] निरूपित है [illegible] बढ़ाइए है [illegible] [illegible] है [illegible] उत्पन्न [illegible] है ॥ ११७ ॥ सो उपवास [illegible] [illegible] है [illegible] करना योग्य है, कैसा है उपवास [illegible] ॥ ११८ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ११९ ॥

अर्थ—जा विषैं सर्व स्पर्शनादि इंद्रिय हैं ते अपना अपना कार्य जो स्पर्शादि विषयनिमैं प्रवर्तना तातैं रहित भए संतै आत्माके निकट प्राप्त होयकरि वसिए सो उपवास कहिए ॥ ११९ ॥

स सार्वकालिको जैनैरेकोऽन्योऽसार्वकालिकः ।
द्विविधः कथ्यते शक्तो हृषीकाश्वनियंत्रणे ॥ १२० ॥

अर्थ—सो उपवास एकतौ सार्वकालिक कहिए यावज्जीव धारणा दूजा असार्वकालिक कहिए कालके प्रमाणरूप, ऐसैं दोय प्रकार जैनीन करि कहिए है, कैसा है उपवास इंद्रियरूप घोडनके रोकनेमैं समर्थ है ॥ १२० ॥

तत्राद्यो म्रियमाणस्य वर्तमानस्य चापरः ।
कालानुसारतः कार्यं क्रियमाणं महाफलम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—तहां आदिका सार्वकालिक उपवास है सो आयका मरण निकट होय संन्यास धरै ताकै होय है बहुरि दूसरा असार्वकालिक उपवास है सो वर्तमान पुरुषकै चतुर्दशी आदि पर्वके कालविषैं मर्यादारूप होय है, जाते कालके अनुसारतें किया भया कार्य है सो महाफलरूप होय है ॥ १२१ ॥

वर्तमानो मतस्त्रेधा स वर्यो मध्यमोऽधमः ।
कर्तव्यः कर्मनाशाय निजशक्त्यनुसारतः ॥ १२२ ॥

अर्थ—सो वर्तमान कहिए कालरूप नियमरूप उपवास है सो उत्तम मध्यम अधम ऐसैं तीन प्रकार कह्या है सो अपनी शक्तिकौं न छिपावनेवाले ऐसे जे पुरुष तिन करि कर्मके नाशके अर्थि करना योग्य है।

भावार्थ—शक्तिमाफिक उपवास कर्मकी निर्जराके अर्थ करना योग्य है, ख्याति लाभ पूजादिकके अर्थ न करना ऐसा अभिप्राय है ॥ १२२ ॥

चतुर्णां तत्र भुक्तीनां त्यागे वर्यश्चतुर्विधः ।
उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः ॥ १२३ ॥
भुक्तिद्वयपरित्यागे त्रिविधो गदितोऽधमः ।
उपवासस्त्रिधाप्येषः शक्तित्रितयसूचकः ॥ १२४ ॥

अर्थ—तहां च्यार प्रकार आहारका त्याग करिए सो चतुर्विध नामा उत्तम उपवासहै, बहुरि पानी सहित है सो त्रिविध नामा मध्यम उपवास कह्या है ॥ १२३ ॥ बहुरि दोय वेला प्रकार भोजनका त्याग होतसंतै त्रिविध नामा अधम उपवास है, यह उत्तम मध्यम जघन्य तीनौं प्रकारहीका उपवास उत्तम मध्यम जघन्य तीनौं शक्तिका सूचक है, जैसी जा पुरुषमें शक्ति होय तैसाही उपवास धारै ॥ १२४ ॥

भावार्थ—धारणे पारणे एकबार भोजन करै अर च्यार प्रकार आहारका त्याग करै सो चतुर्विध नामा उत्तम उपवास कहिए है, अर धारणे पारणे एक भुक्ति करै अर उपवासमैं जल लेय सो मध्यम त्रिविधनामा उपवास है, अर धारणे पारणे अनेक वार खाय अर उपवासविषैं पानी भी लेय सो अधम त्रिविधनामा उपवास कहिए, यामैं एकदिनमैं दोय भोजनकी वेला होय है तिन दोऊ वेलामैं भोजन त्याग्या तातैं दोऊ भोजनका त्याग किया, ऐसा जानना॥१२३–१२४॥

आगैं उपवास करनेका विधान कहै हैं;—

मध्याह्नदिवसे भुक्त्वा मत्वाचार्यसन्निधिम् ।
वंदित्वा भक्तितः कृत्वा कायोत्सर्गं यथाक्रमम् ॥१२५॥
पंचांगप्रणतिं कृत्वा गृहीत्वा सूरिवाक्यतः ।
उपवासं पुनः कृत्वा कायोत्सर्गं विधानतः ॥ १२६ ॥
आचार्यं भक्तितः स्तुत्वा वंदित्वा गणनायकम् ।
दिनद्वयं नयी नैयं स्वाध्यायासक्तचेतसा ॥ १२७ ॥

विधाय साक्षिणं सूरिं गृह्णाणः पर्टीयसा ।
संपद्यनेनगमेन प्यवहार इव स्थिरः ॥ १२८ ॥
सर्वभोगोपभोगानां कर्मच्या विरतिस्त्रिधा ।
शयितव्यं महीपृष्ठे प्रासुके कृतसंस्तरे ॥ १२९ ॥
विहाय सर्वमारंभमसंयमविवर्द्धकम् ।
विरक्तचेतसा ध्येयं यतिनेव पटीयसा ॥ १३० ॥
तृतीये वासरे कृत्वा सर्वमावश्यकादिकम् ।
भोजयित्वाऽतिथिं भक्त्या भोक्तव्यं गृहमेधिना ॥१३१॥
उपवासः कृतोऽनेन विधानेन विरागिणा ।
दिनस्यैकोऽपि पापानि सांद्रीव दिवाकरः ॥ १३२ ॥

अर्थ—धारणेके दिन दोय प्रहर पीछे भोजन करके आचार्यनिके निकट जायकरि भक्तिसे वंदना करके आगम अनुसार काय॰ सर्ग करके ॥ १२५ ॥ पहुरि पंचांग नमस्कार करके आचार्यके वचनते उपवा॰ सको ग्रहण करके पीछे स्थानके कायोत्सर्ग करके ॥ १२६ ॥ अध्या॰ त्मकी स्तवनते स्तुति करके अर गणधर देवको वंदिके तहां अनंतर दोय दिन करिए सोलह प्रहर स्वाध्यायमें आलस्य जो मन तामें व्यतीत करना योग्य है,

भावार्थ—सोलह प्रहर स्वाध्यायमें लीन रहै ॥ १२७ ॥ बुद्धिवान साक्षी आचार्यको साक्षिकरि ग्रहण जो उपवास सो अविनश्वरके निश्चल होयहै जैसे व्यवहारकार्य करनेके साक्षीपूर्वक किया स्थिर होयहै तैसे गुरुकी साक्षी आपका उपवास निश्चल होयहै ॥ १२८ ॥ बहुरि उपवासमें सर्व भोग उपभोगनिका त्याग मन वचन काय करी करना योग्य है, अर करना है त्यागादिकका सोलह प्रहर ऐसे प्रासुक स्थं॰ तर पर सोवना योग्यहै ॥ १२९ ॥ असंयमका बढावनेवाला जो सर्व

आरंभ ताहि त्यागिकै मुनिकी ज्यों विरक्तचित्त होय कै बुद्धिवान करि तिष्ठना योग्य है ॥ १३० ॥ बहुरि तीसरे दिन सर्व आवश्यक क्रिया करकै अतिथिकों भक्ति करि भोजन करायकै श्रावककरि भोजन करना योग्य है ॥ १३१ ॥ इस विधान करि विरागी पुरुष करि किया जो उपवास सो एकभी जैसैं सूर्य अंधकारकौं हरे तैसैं पापकौं हरै है ॥ १३२ ॥

उपवासं विना शक्तो न परः स्मरमर्दने ।
सिंहेनेव विदार्यंते सिंधुरा मदमंथराः ॥ १३३ ॥

अर्थ—जैसैं मदोन्मत्त हस्ती हैं ते सिंहकरि विदारिए हैं तैसैं उपवासबिना कामके नाश करने विषैं और समर्थ नाहीं ॥ १३३ ॥

उपवासेन संतप्ते क्षिप्रं नश्यति पातकम् ।
ग्रीष्मार्कध्यामिते तोयं कियत्तिष्ठति भूतले ॥ १३४ ॥

अर्थ—उपवासकरि तपायमान भया जो पुरुष ता विषैं पाप शीघ्र ही नाशकौं प्राप्त होय है जैसैं ग्रीष्मके सूर्य करि व्याप्त जो पृथ्वीतल ता विषैं जल कितना तिष्ठै शीघ्र ही सूखि जाय तैसैं उपवासतैं पाप नशि जाय है ॥ १३४ ॥

नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वेधात्मा कथितो बुधैः ।
प्रोषधे स मतो नित्यो बहुधान्यो व्यवस्थितः ॥१३५॥

अर्थ—सो यह उपवास पंडितनिकरि नित्य अर नैमित्तिक ऐसैं दोय प्रकार कह्या है सो प्रोषध जो अष्टमी चतुर्दशीहै ता विषैं तो नित्य कह्या है अर अन्य जो नैमित्तिक सो बहुत प्रकार व्यवस्थित है ॥ १३५ ॥

उपवासा विधीयंते ये पंचम्यादिगोचराः ।
उक्ता नैमित्तिकाः सर्वे ते कर्मक्षपणक्षमाः ॥ १३६ ॥

अर्थ—जे पंचमी आदि विषैं उपवास करिए हैं ते सर्व कर्मके नाश करनेमैं समर्थ नैमित्तिक उपवास कहे हैं॥ १३६ ॥

गुरुतरकर्मजालसलिलं भववृक्षकरं
बहुपरिणाममेघनिवहप्रभवं प्रसभम्।
क्षपयति सर्वमुग्रमुपवासपयोजपति-
र्विरचितसंवृतेर्निखिलदेहितडागगतः ॥ १३७॥

अर्थ—रच्या है संवर जानैं ऐसा जो पुरुष ताके उपवासरूपी जो उग्र सूर्य है सो अतिवडा जो ज्ञानावरणादि जालरूप जल ताहि बलात्कारतैं क्षेपैहै सोखैहै, कैसा है कर्मजालरूप जल संसार वृक्षका करनेवाला है अर नानाप्रकार रागादि भावरूप मेघनिके समूहतैं उपज्या है बहुरि समस्त संसारी जीवरूप सरोवरविषैं भर्या है।

भावार्थ—संवर सहित उपवासतैं कर्मनिकी निर्जरा अधिक होयहै, ऐसा जानना॥ १३७॥

जनयति यद्विधूय विपदं रमसोपचितिं
घटयति संपदं त्रिदशमानवर्वर्गमताम्।
विधिविहितस्य तस्य पुरुषः श्रुतकेवलिनो
वदति फलं न कोऽप्यनशनस्य परो भुवने॥१३८॥

अर्थ—जो उपवास संचयरूप भई जो विपदा ताहि नाश करि बलात्कारतैं देवमनुष्यके समूहकरि मानित संपदाकौं रचैहै, ऐसा विधिपूर्वक कर्या जो उपवास ताके फलकौं केवली कहैहै और पुरुष लोकविषैं न कहैहै॥ १३८॥

रचयति यस्त्रिधा व्रतमिदं महितं महिते-
रमितगतिश्चतुर्विधमनन्यमनाः पुरुषः।

[illegible] कलिलौघं निरस्य [illegible]
[illegible] ॥१२॥

अर्थ— जो पुरुष यह च्यार प्रकार भावनी मन वचन काय करि [illegible] सो अनेक जन्म करि संचय किया जो [illegible] पाप [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जो [illegible] ताहि प्राप्त होय है, कैसा [illegible] पुण्यनिकरि पूजनीक है, बहुरि जैसा यह पुरुष भया है [illegible] जाका अन्त नाहीं है [illegible] मन जाका, ऐसा है ॥१२[illegible]

दोहा।

मन वच काय विशुद्धकरि जो धारै व्रत शुद्ध।
नाशि कर्ममल, मोक्षपद पावै सो अविरुद्ध॥

इत्युपासकाचारे द्वादशः परिच्छेदः।

ऐसें श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं
द्वादशमां परिच्छेद समाप्त भया।

त्रयोदश परिच्छेद ।

शशांकामलसम्यक्त्वो व्रताभरणभूषितः ।
शीलरत्नमिवाखानिः पवित्रगुणसागरः ॥ १ ॥

अर्थ—शंकाकादिमलरहित चंद्रमासमान निर्मलहै सम्यक्त जाका अर व्रतरूप आभूषणकरि शोभित अर शीलरत्नके उपजायवेकी खानिसमान अर निर्मल गुणनिका समुद्र ऐसाहै ॥ १ ॥

ऋजुभूतमनोवृद्धिर्गुरुशुश्रूषणोद्यतः ।
जिनप्रवचनाभिज्ञः श्रावकः सप्तधोत्तमः ॥ २ ॥

अर्थ—अर सरलहै मनसंबंधी बुद्धि जाकी अर गुरुकी सेवा विषैं उद्यमीहै अर जिनागमका जाननेवाला है ऐसा उत्तम श्रावक सातप्रकार जानना ॥ २ ॥

निसर्गजरुचौ जंतावेकांतरुचिगर्जिते ।
असहाय महाप्राज्ञे सदायतनसेवके ॥ ३ ॥
कुलानायतनत्यागे परदृष्टयविमोहिते ।
शासनासादनाहीने जिनशासनवृंहके ॥ ४ ॥
सोपानं सिद्धिसौधस्य कल्मषक्षपणक्षमम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्हेतुः स्थिरं तिष्ठति दर्शनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—ऐसे पुरुष विषैं सम्यग्दर्शन निश्चल तिष्ठैहै जो स्वभावजनित रुचि जाकै अर निश्चयप्रतीति करि शोभित अर सहायरहित महाबुद्धिवान सदा आयतन जो अर्हंतादि तिनका सेवक अर स्थिर हैं अनायतन कहिए कुदेवादिकका त्याग जानै अर अन्यमतीनिकरि विमोहितहै अर

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ६ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ७ ॥

[illegible] ॥ ८ ॥

[illegible] ॥ ९ ॥

[illegible]

आगमाध्ययनं कार्यं कृतकालादिशुद्धिना ।
विनयाद्युपधानेन बहुमानविधायिना ॥ १० ॥

अर्थ—[illegible] कालादिककी शुद्धिका [illegible] आगमका अध्ययन करना योग्य है, [illegible] जाता और वह मानता [illegible] है ।

भावार्थ—कालादिककी शुद्धिका [illegible] जिनवाणीका अभ्यास करना योग्य है ॥ १० ॥

कुर्वताऽवग्रहं योग्यं मुनिनिर्ग्रंथभाविना ।
परमां कुर्वता शुद्धिं व्यंजनार्थद्वयात्मिकाम् ॥ ११ ॥

अर्थ—मुनिनिर्ग्रंथोंको [illegible] आचार्यका [illegible] और योग्य अवग्रह करिये [illegible] शुद्धि होउ [illegible] ॥ ११ ॥

संयमे संयमाधारे संयमप्रतिपादिनि ।
आदरं कुर्वतो संयमादिप्रविनयः परः ॥ १२ ॥

अर्थ—[illegible] संयमके [illegible] चारित्र विनय [illegible] ॥ १२ ॥

महातपः स्थिते सार्धं तपः [illegible] ।
भक्तिः [illegible] ॥ १३ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ १४ ॥

अर्थ—ये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप हैं ते जीवनिकौं दुःखरूप है लहर जामैं ऐसा जो संसारसमुद्र तातैं तारणे विषैं समर्थ हैं ॥ १४ ॥

चतुरंगमिदं साधोः पोष्यमाणमहर्निशम् ।
सिद्धिं साधयते सद्यः प्रार्थितां नृपतेरिव ॥ १५ ॥

अर्थ—यह च्यार भेदरूप मुनिराजका आचरण निरंतर पोष्या भया शीघ्रही वांछित मोक्षकौं सांधैहै जैसैं राजाकी चतुरंग सेना पोषी भई वांछितसिद्धिकौं सांधैहै तैसैं ॥ १५ ॥

सिसाधयिषते सिद्धिं चतुरंगमृतेऽत्र यः ।
स पोतेन विना मूढस्तितीर्षति पयोनिधिम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मूढ दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनि च्यार कारण विना मोक्षकौं साधै चाहैहै सो मूढ जहाजविना समुद्रकौं तिरया चाहैहै ॥१६॥

लोकद्वयेऽपि सौख्यानि दृश्यंते यानि कानिचित् ।
जन्यंते तानि सर्वाणि चतुरंगेण देहिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—निश्चयकरि इस लोकमैं अर परलोकमैं जे केई सुख देखिए हैं ते सर्व जीवकै दर्शन ज्ञान चारित्र तपरूप चतुरंगकरि उपजाइए है ॥१७॥

निरस्यति रजः सर्वं श्रेयं सूचयते हितम् ।
मातेव कुरुते किं न चतुरंगनिषेवणा ॥ १८ ॥

अर्थ—सर्व रज जो पाप ताहि दूर करैहै अर हित बतावैहै ऐसैं माताकी ज्यौं दर्शन ज्ञान चारित्र तपकी सेवा कहा न करैहै, सर्वही हित करैहै ॥ १८ ॥

चतुरंगमपाकृत्य कुर्वते कर्म ये परम् ।
कल्पद्रुममपाकृत्य ते भजंति विषद्रुमम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जे पुरुष दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनि च्यार कारणनिकौं त्यागकै और क्रियाकर्म करैहैं सो कल्पवृक्षकौं छोडकै विषवृक्षकौं सेवैहैं ।१९।

चतुरंगं सुखं दत्ते यत्तत्कर्म परं कथम्।
यत्करोति सुहृत्कार्यं तन्न वैरी कदाचन ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि च्यार कारण जो सुख देयहैं सो और कर्म सुख कैसें देय जैसें जो मित्र कार्य करै सो वैरी कदाच नाहीं करै ॥ २० ॥

ये संति साधवो धन्याश्चतुरंगविभूषणाः।
विधेयो विनयस्तेषां मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २१ ॥

अर्थ—जे धन्य साधु पुरुष दर्शन ज्ञान चारित्र तप ये च्यार अंगहीहै भूषण जिनकै ऐसेहै तिनका विनय मन वचन कायकरि करना योग्यहै ॥ २१ ॥

गुणनामनवद्यानां तदीयानामनारतम्।
चिंतनीयं परीयोमित्पपृंहणकारणम् ॥ २२ ॥

अर्थ—तिन साधूनके निर्मल गुणनिका निरंतर बुद्धिवाननिकरि चिंतवन करणा योग्यहै कैसाहै साधूनके गुणका चिंतवन धर्म बढावनेका कारणहै ॥ २२ ॥

ध्यायतो योगिनां पथ्यमपथ्यप्रतिषेधनम्।
मानसो विनयः साधोर्जायते सिद्धिसाधकः ॥ २३ ॥

अर्थ—योगीश्वरनका हितरूप अर अहितका निषेध करने वाला कार्य ताहि ध्यावता जो पुरुष ता साधुकै मोक्षका साधक मानसिक विनय होयहै ॥ २३ ॥

यश्चिंतयति साधूनामनिष्टं दुष्टमानसः।
सर्वानिष्टनिर्भरो जायते स भवे भवे ॥ २४ ॥

अर्थ—जो दुष्ट साधुनका अनिष्ट विचारै है सो मूढ सर्व अनिष्टनिकरि व्याप्त भव भव विषै होयहै ॥ २४ ॥

दुर्भगो विकलो मूर्खो निर्विवेको नपुंसकः।
नीचकर्मकरो नीचो याति दूषण चिंतकः ॥ २५ ॥

अर्थ—यतीनके दूषणका चितवन करनेवाला पुरुष है सो दुर्भग होयहै विकलांग होयहै मूर्ख होय विवेकरहित होय नपुंसक होय नीच-कर्मका करनेवाला नीच होय ॥ २५ ॥

विज्ञायेति महाप्राज्ञाः संयतानामरेपसाम्।
संचिंतयंति नानिष्टं त्रिविधेन कदाचन ॥ २६ ॥

अर्थ—ऐसैं जानकरि महाबुद्धि हैं ते पापरहित जे मुनिराज तिनका अनिष्ट मनवचन कायकरि कदाच न चिंतवैहैं ॥ २६ ॥

श्रवणीयमनाक्षेपं सपर्याप्रतिपादकम्।
अनवद्यापरं तथ्यं मधुरं हृदयंगमम् ॥ २७ ॥

अर्थ—सुनने योग्य संदेहरहित पूजाका उपजावनेवाला अर अनिं-दामैं तत्पर सत्यार्थ मधुर हृदयकौं प्यारा ॥ २७ ॥

वचनं वदतः पथ्यं रागद्वेषाद्यनाविलम्।
वाचिको विनयोऽवाचि वचनीय निरासकः ॥ २८ ॥

अर्थ—रागद्वेषादि करि मलीन नाहीं ऐसा हितरूप बोलता जो पुरुष ताकै वचनसंबंधी दोषनिका दूर करनेवाला वचनसंबंधी विनय जानना ॥ २८ ॥

अभ्याख्याननिरस्कारकारकं गुणदूषकम्।
न वाच्यं वचनं भक्तमन्त्रपोधनविनिंदकम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जातैं साधूनकै दोष प्रगट होय ऐसा वचन तथा अनादर करनेवाला वचन तथा गुणका दूषक वचन तथा साधूनिका निंदकवचन श्रावकनि करि बोलना योग्य नाहीं ॥ २९ ॥

वदंति दूषणं दीना ये साधूनामनेनसाम् ।
ते भवंति दुराचारा दूष्या जन्मनि जन्मनि ॥ ३० ॥

अर्थ—जे अज्ञानी पापरहित साधूनके दूषण कहैं हैं ते दुराचारी जन्म जन्म विषैं दूषणको भजैहैं ॥ ३० ॥

अनादेयगिरो गर्ह्याः क्लेशिनः शोकिनो जडाः ।
यतिनिंदापराः संति जन्मद्वितयदूषिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जे पुरुष साधूनिकी निंदामैं तत्परहैं ते इस भवमै अर परभवमैं दूषित होयहै, नाहीं आदरने योग्य है वाणी जिनकी अर निंदने योग्य अर क्लेशसहित अर शोकवान अर अज्ञानी ऐसे होय है ॥ ३१ ॥

किं चित्रमपरं तस्माद्यदौदासीन्यचेतसाम् ।
वंदका वंदितास्तेषां निंदकाः संति निंदिताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जातैं उदासीनहै चित्त जिनका ऐसे साधूनके वंदनेवाले तैसवनिकरि वंदनीक होयहैं अर निंदक हैं ते निंदक होय हैं, तातैं यामैं सिवाय आश्चर्य कहा है, किछू भी नाहीं ॥ ३२ ॥

आगैं ऊपरि दार्टांत कह्या ताका दृष्टांत कहैहैं;—

यादृशः क्रियते भावः फलंतत्रास्ति तादृशम् ।
यादृशं चर्च्यते रूपं तादृशं दृश्यतेऽब्दके ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसा भाव करिए तहां तैसा फल होय है जैसें दर्पणमै जैसा रूप करिए तैसाही देखिए है।

भावार्थ—साधु तौ वीतराग है तिनमैं जैसा भक्तिरूप वा द्वेषरूप परिणाम करै तैसाही शुभ अशुभ फल पावै जैसें दर्पण तौ निर्मलहै यामैं जैसा रूप करै तैसा ही दीखै ऐसा जानना ॥ ३३ ॥

व्रतिनां निंदकं वाक्यं विबुद्धयेति न सर्वदा।
मनोवाकाययोगेन वक्तव्यं हितमिच्छता ॥ ३४ ॥

अर्थ—या प्रकार साधूनकी निंदामैं महापाप जानकरि हितका वांछक जो जीव ताकरि व्रतीनका निंदक मन वचन कायके योगकरि सदाकालही कहना योग्य नाहीं ॥ ३४ ॥

अभ्युत्थानासनत्यागप्रणिपातांजुलिक्रिया।
आयाते संयते कार्या यात्यनुव्रजनं पुनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—संजमी मुनीका आगमन होतसंतैं उठना आसनका त्यागना नमस्कार करना अंजुलिक्रिया कहिए हाथ जोडना क्रिया करनी योग्य है, बहुरि संजमीकौं गमन करते संतैं पीछैं चालना योग्यहै ॥ ३५ ॥

आयांतं ये तपोराशिं विलोक्यपि न कुर्वते।
अभ्युत्थानासनत्यागो नैभ्यः संत्यधमाः परे ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो पुरुष आवता जो तपका समूह मुनि ताहि देखकरि भी उठबैठना अर आसनत्यागना रूप विनय नाहीं करै हैं इनतैं सिवाय और नीच कोऊ नाहीं ॥ ३६ ॥

यत्र यत्र विलोक्यंते संयतायतमानसाः
तत्र तत्र प्रणंतव्या विनयोद्यतमानसैः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यत्नसहित है मन जिनका ऐसे संयमी मुनि जहां जहां देखिए तहां तहां विनयमैं उद्यमी है मन जिनका ऐसे पुरुषनिकरि नमस्कार करना योग्य है ॥ ३७ ॥

शय्योपवेशनस्थानगमनादीनि सर्वदा।
विधातव्यानि नीचानि संयताराधनापरैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—योगीनकी आराधनाविषैं तत्पर जे पुरुष तिनकरि योगीनके-की शय्या अर बैठना अर खड़े रहना गमनकरना इत्यादिक सदाकाल नीचे करना योग्य है।

भावार्थ—जहां महंत पुरुष विराजै तौंप ना स्थानतैं शय्यादिक नीचे स्थानमें करना ऊंची जगहमें न करना, ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

पुण्यवंतो वयं येषामाज्ञां यच्छन्ति योगिनः।
मन्यमानैरिति प्राज्ञैः कर्तव्यं यतिमाननम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—हम पुण्यवंत हैं जिनपै योगीश्वर आज्ञा करै हैं ऐसे मानता जे पंडित तिनकरि यतीनका मान्या करना योग्य है।

भावार्थ—यतीश्वर आज्ञा करै सो गुरुनिकी करना योग्य है, अपने मनमें ऐसी मानना जो हम धन्य हैं जिनतै गुरुनकी आज्ञा भई ऐसी आज्ञा मैं हर्ष करना, ऐसा जानना ॥ ३९ ॥

निष्ठीवनमवष्टंभं जृंभणं गात्रभंजनम्।
असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥ ४० ॥

अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम्।
विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥ ४१ ॥

अर्थ—यतीनके निकट विनयवान इतने कार्य न करै, ते कहिए बतावे हैं;—थूंकै, खाटी अर आगा [illegible] न बैठे, जंभाई न लेय, अंग न मोडै, असत्य न बोलै, [illegible] हास्य न करै, पग न पसारै, [illegible] गुणवान [illegible] करि न करै, हाथकी चुटकी न बजावै, हाथसूं हाथ न ताडै, विकार [illegible] न करै, अंगको संवारै नाहीं इत्यादि और भी प्रकारके [illegible] यतीनके निकट करना योग्य नाहीं ॥ ४०-४१ ॥

उच्चस्थानस्थितैः कार्या वंदना न तपस्विनः ।
न गतिं वामतः कृत्वा विनिर्वर्त्य च पृष्ठतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ऊंचे स्थानपरि तिष्ठतेनकरि तपस्वीनकी वंदना करनी योग्य नाहीं अर विनयवाननि करि वाईं तरफतैं गमन करके पाछैतैं वंदना करणी योग्य नाहीं।

भावार्थ—मुनिनके दक्षिण तरफतैं प्रदक्षिणारूप गमन करकै वंदना करणी, बाईं तरफतैं जायकरि पाछैतैं वंदना न करणी ॥ ४२॥

त्रिधेति विनयोऽध्यक्षः करणीयो मनीषिभिः ।
परोक्षेऽपि स साधूनामाज्ञाकरण लक्षणः ॥ ४३ ॥

अर्थ—ऐसैं मन वचन काय करि तीन प्रकार प्रत्यक्ष विनय करना योग्य है अर मुनिनकौं परोक्ष होतैं तिनकी आज्ञा करणा है लक्षण जाका ऐसा परोक्ष विनय करणा योग्य है ॥ ४३ ॥

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रितयराजिते ।
विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः ॥ ४४ ॥

अर्थ—नीतिविर्षै चतुर जे पुरुष तिनकरि रत्नत्रयकरि शोभित जो मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका ऐसा च्यार प्रकार संघ ताविर्षै यथायोग्य विनय करना योग्य है ॥ ४४ ॥

विनयेन विहीनस्य व्रतशीलपुरः सराः ।
निष्फलाः संति निःशेषा गुणा गुणवतां मताः ॥ ४५ ॥

अर्थ—विनय करि हीन जो पुरुष ताके व्रत शील आदि समस्त गुण हैं ते निष्फल गुणवानानिके कहे हैं ॥ ४५ ॥

विनश्यंति समस्तानि व्रतानि विनयं विना ।
सरोरुहाणि तिष्ठंति सलिलेन विना कुतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सर्व व्रत हैं ते विनय विना नाशको प्राप्त होयहैं जैसें जल विना कमल हैं ते कहां तिष्ठें, अपि तु नाहीं तिष्ठेंहैं तैसें जानना ॥ ४६ ॥

निर्वृतिस्तरसाऽवश्या विनयेन विधीयते ।
आत्मनीनसुखाधारा सौभाग्येनेव कामिनी ॥ ४७ ॥

अर्थ—विनय करि आत्माका हितरूप सुखकी आधारभूत जो मुक्ति अवस्था सो वेगकरि वश कीजिए है, जैसें सौभाग्य पने करि स्त्री वश कीजिए तैसें विनयकरि मुक्ति वश होयहै ॥ ४७ ॥

सम्यग्दर्शनचारित्रतपोज्ञानानि देहिना ।
अवाप्यंते विनीतेन यशांसीव विपश्चिता ॥ ४८ ॥

अर्थ—जैसें पंडितजनकरि यश पाइएहै तैसें विनयवान पुरुषकरि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ये पाइएहै ॥ ४८ ॥

तस्य कल्पद्रुमो भृत्यस्तस्य चिंतामणिः करे ।
तस्य सन्निहितो यक्षो विनयो यस्य निर्मलः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके निर्मल विनयहै ताका कल्पवृक्ष किंकरहै अर ताके हाथविषैं चिंतामणिहै अर यक्ष ताके निकटवर्ती है।

भावार्थ—विनयतें शुभ परिणामके वशतें पुण्यबंध होयहै ताके उदयतें सर्व कल्पवृक्षादि पदार्थ सुखदाई होय परिणमैंहै ॥ ४९ ॥

आराध्यंतेऽखिला येन त्रिदशाः सपुरंदराः ।
संघस्याराधने तस्य विनीतस्यास्ति कः श्रमः ॥ ५० ॥

अर्थ—इंद्रसहित समस्त देव जा विनयवान करि आराधिएहै ताकें संघके आराधनविषैं कहा श्रमहै।

भावार्थ—जा विनयभावनाकरि इंद्रादिक देव चरननकी सेवा करैहै ऐसा संघका विनय करवेमें कहा खेदहै भावार्थ है ॥ ५० ॥

क्रोधमानादयो दोषाश्छिद्यंते येन वरदाः।
न वैरिणो विनीतस्य तस्य संति कथंचन ॥ ५१ ॥

अर्थ—जा विनयवानकरि वैरभावके देनेवाले ऐसे जे क्रोधमानादिक परिणाम ते नाश कीजिएहै ताकै कोई प्रकारभी वैरी न होयहै।

भावार्थ—विनयवानतैं कोई वैर राखै नाहीं ॥ ५१ ॥

कालत्रयेऽपि ये लोके विद्यंते परमेष्ठिनः।
ते विनीतेन निःशेषाः पूजिता वंदिताः स्तुताः ॥ ५२ ॥

अर्थ—लोकमै भूत भविष्यत वर्त्तमान ऐसैं तीनौं काल विषैं भी जे अर्हंतादि परमेष्ठी विद्यमानहैं ते समस्त विनयवान पुरुषकरि पूजे अर वंदे अर वचनकरि गोचर किये।

भावार्थ—जाकै विनयहै ताकै समस्त परमेष्ठीनकौं भक्तिहै ॥ ५२ ॥

गर्वो निरस्यते तेन जन्यते गुरुगौरवम्।
आर्जवं दर्श्यते स्वस्य प्रश्रयं वितनोति यः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो पुरुष विनयकौं विस्तारै है ता पुरुष करि आपका मान कषाय नाश कीजिए है अर गुरूनका मान उपजाइए है अर सरलभाव प्रवर्त्ताइए है ॥ ५३ ॥

विनीतस्यामला कीर्त्तिर्विभ्रमीति महीतले।
सुखयंतीजनं सेव्या कांतिः शीतरुचेरिव ॥ ५४ ॥

अर्थ—विनयवान पुरुषकी निर्मल कीर्त्ति पृथ्वीतलविषैं अतिशय करि भ्रमैं है सर्व जगतमै फैलै है, कैसी है कीर्त्ति लोककौं सुख उपजावनी है अर चंद्रमाकी कांतिसमान निर्मल है ॥ ५४ ॥

विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः।
विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणं मतेः ॥ ५५ ॥

अर्थ—विनय है सो मुक्तिका कारण है अर विनय है सो लक्ष्मीका कारण है अर विनय है सो प्रीतिका कारण है अर विनय है सो बुद्धिका कारण है ॥ ५५ ॥

विनयेन विना पुंसो न संति गुणसंपदः ।
न बीजेन विना क्वापि जायंते सस्यजातयः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसे बीज विना कहूं भी धान्यकी जाति नाहीं उपजै है तैसे विनयविना गुणरूप संपदा न होय है ॥ ५६ ॥

प्रश्रयेण विना लक्ष्मीं यः प्रार्थयति दुर्मनाः ।
स मूल्येन विनानूनं रत्नं स्वीकर्तुमिच्छति ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो दुष्टचित्त पुरुष विनय विना लक्ष्मीकों चाहै है सो पुरुष निश्चय करि मोल विना रत्नकों अंगीकार करनेकों इच्छै है ॥५७॥

का संपदविनीतस्य का मैत्री चलचेतसः ।
का तपस्या विशीलस्य का कीर्तिः कोपवर्तिनः ॥५८॥

अर्थ—विनयरहित पुरुषकी संपत्ति कहा अर चलायमान है चित्त जाका ऐसे पुरुषकी मित्रता कहा अर शीलरहित पुरुषकी तपस्या कहा अर क्रोधी पुरुषकी कीर्ति कहा ॥ ५८ ॥

न शठस्येह यस्यास्ति तस्यामुत्र कथं सुखम् ।
न क्रूरो कर्कटीयस्य गृहे यस्य सुवर्तनी ॥ ५९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके इस लोकमैं संतोषरूप सुख नाहीं ताकै परलोकमैं सुख कैसे होय जैसे जाकी बाडीमैं ककडी नाहीं लगै ताकै कहै-की होय, अपि तु नाहीं होय ॥ ५९ ॥

लाभालाभौ विबुद्ध्येति भो विनीताविनीतयोः ।
विनीतेन सदा भाव्यं विबुध्यादिनिदं द्विधा ॥ ६० ॥

अर्थ—या प्रकार विनयवानके अर विनयरहितके लाभ अलाभ जानिकरि भो शिष्य ! मन वचन कायतैं अविनयकौं त्यागकै विनयसहित होना योग्य है ॥ ६० ॥

ऐसें विनय का वर्णन किया आगैं वैयावृत्य का वर्णन करै हैं;—

कृतांतैरिव दुर्वारैः पीडितानां परीषहैः ।
वैयावृत्यं विधातव्यं मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥ ६१ ॥

अर्थ—काल समान दुःखतैं निवारण जिनका ऐसें जे रोगादि परीषह तिनकरि पीडित जे मोक्षके अभिलाषी आचार्य आदि तिनका वैयावृत्य कहिए टहल चाकरी करणा योग्य है, काहेकै अर्थि—मुक्तिकै अर्थि ।

भावार्थ—लौकिक कार्यकी वांछा रहित मुक्तिहीके अर्थि वैयावृत्य करना ॥ ६१ ॥

दुर्भिक्षे मरके रोगे चौरराजाद्युपद्रुते ।
कर्मक्षयाय कर्त्तव्या व्यावृतिर्व्रतवर्तिनाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—दुर्भिक्षविषैं अर मरी विषैं अर रोगविषैं अर चौर राजादिकतैं उपसर्ग विषैं करानिके नाशके अर्थि व्रतीनकी टहल चाकरी करनी योग्य है ॥ ६२ ॥

आचार्येऽध्यापके वृद्धे गणरक्षे प्रवर्त्तके ।
शिक्ष्ये तपोधने संघे गणे ग्लाने दशस्वपि ॥ ६३ ॥
प्रासुकैरौषधैर्योग्यैर्मनसा वपुषा गिरा ।
विधेया व्यावृतिः सद्भिर्भवभ्रांतिजिहासुभिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जातैं व्रतनिका आचरण करिए सो आचार्य कहिए, बहुरि जाके निकट शास्त्राध्ययन करीए सो उपाध्याय कहिए, बहुत कालके दीक्षित होय सो वृद्ध कहिए, अर गणकी रक्षा करै सो गणरक्ष कहिए,

अर संघकौं प्रवर्त्तावे सो प्रवर्तक कहिए, अर शास्त्रके सीखनेमैं तत्पर होय सो शैक्ष्य कहिए अर महोपवासादिके करनेवाले तपस्वी कहिए, अर च्यार प्रकार मुनिनका समूहकौं संघ कहिए, अर बडे मुनिका सन्तानकौं गण कहिए अर रोगादिक करि क्लेशरूप शरीर जाका होय सो ग्लान कहिए, ऐसे दश प्रकार मुनिनविषै सत्पुरुषनिकरि योग्य कहिए मुनीनके लेने योग्य प्रासुक औषधनि करि तथा मन वचन काय करि टहल चाकरी करनी योग्य है कैसेंहैं वैयावृत्त्य करनेवाले पुरुष संसार भ्रमणके नाश करनेके कारक हैं ॥ ६३-६४ ॥

तपोभिर्दुष्करै रोगैः पीड्यमानं तपोधनम्।
यो दृष्ट्वोपेक्षते शक्तो निधर्मा न ततः परः ॥ ६५ ॥

अर्थ—दुःख करि करे जाय ऐसे तपनि करि रोगनिकरि पीडित जो साधु ताहि देखकर जो शक्तिसहित पुरुष उपेक्षते कहिए किछू इलाज न करै है देखमाहि रहि जाय है ता सिवाय और अधर्मी नाहीं ॥ ६५ ॥

गृहस्थोऽपि यतिर्ज्ञेयो वैयावृत्यपरायणः।
वैयावृत्यविनिर्मुक्तो न गृहस्थो न संयतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो वैयावृत्त्य विषै तत्पर है सो गृहस्थ भी यतिसमान जानना यद्यपि वैयावृत्यकरि रहित है सो गृहस्थहै न मुनिहै ॥ ६६ ॥

वैयावृत्त्यपरः प्राणी पूज्यते संयतैरपि।
लभते न कुतः पूजामुपकारपरायणः ॥ ६७ ॥

अर्थ—वैयावृत्त्यविषै तत्पर जीवहै सो संयमीन करि भी पूजिएहै, जातै उपकारविषै परायणजे पुरुष ते किनते पूजा न पावैं सर्व हीतै पावैं ॥ ६७ ॥

संयमो दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः।
सर्वेऽपि तेन दीयंते वैयावृत्त्यं तनोति यः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो पुरुष वैयावृत्यकौं विस्तारैहै ताकरि संयम सम्यग्दर्शन ज्ञान स्वाध्याय विनय नीति ये सर्वही दीजिएहै।

भावार्थ—वैयावृत्य करनेतैं व्रती स्वस्थ होय तब संयमादि निर्विघ्न सधै, तातैं जो व्रतीनकी टहल चाकरि करै ताकरि संयमादिक सर्व दिये कहिए ॥ ६८ ॥

निर्वृतिर्दीयते येन तेन धर्मो विधाप्यते।
आगमोऽध्याप्यते तेन क्रियते तेन वा न किम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—जा पुरुषकरि धर्मात्मा जीवनिकौं सुख दीजिएहै ता करि धर्म कराइएहै अर आगम पढाइएहै अथवा ता करि कहा उत्तमकार्य न कीजिएहै सर्वही कीजिएहै।

भावार्थ—धर्मात्मा निराकुल होय तब धर्मसाधन करै शास्त्राध्ययन करै और भी धर्मकार्य करै जातै जो धर्मात्माकौं निराकुल करै तानैं धर्मादिक सर्व उत्तम कार्य किए कहिए ॥ ६९ ॥

समाधिर्विहितस्तेन जिनाज्ञा तेन पालिता।
धर्मो विस्तारितस्तेन तीर्थं तेन प्रवर्त्तितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—जो वैयावृत्य करै है तानैं समाधि जो शुभध्यान सो किया अर जिनराजकी आज्ञा पाली अर तानैं धर्म विस्तारया अर तीर्थ जो रत्नत्रय सो प्रवर्तीया ॥ ७० ॥

दुष्प्रापं तीर्थकर्तृत्वं त्रैलोक्यक्षोभणक्षमम्।
प्राप्यते व्यावृतेर्यस्या तस्याः किं न परं फलम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—तीन लोककौ क्षोभ उपजावने विषैं समर्थ जाके प्रभावतै इंद्रादिकनिकै आसनकंपनादि क्षोभ उपजै ऐसा तीर्थंकरपना जा वैयावृत्य भावनाका फल पाइए ताका और फल कहा न पाइए, सर्व ही पाइए ॥ ७१ ॥

परस्यापोह्यते दुःखं सदा येनोपकुर्वता ।
संपद्यते कथं तस्य क कार्यं कारणं विना ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिस पर उपकार करनेवाले पुरुष करि परका दुःख दूर कीजिए है ताके दुःख कैसें होय, जातें कारण विना कार्य कैसें होय।

भावार्थ—दुःखका कारण अशुभभाव है सो परोपकारीके अशुभभाव नाहीं तब आप दुःखी कैसें होय, ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

सेव्यो दीर्घायुरादेयो नीरोगो निरुपद्रवः ।
वदान्यः सुंदरो दक्षो जायते ■ प्रियंवदः ॥ ७३ ॥

अर्थ—सो वैयावृत्य करनेवाला सेवने योग्य होय है दीर्घायु होय है आदर करने योग्य होय है उपद्रवरहित होय है सुंदर अर प्रवीण अर प्रियवादी होय है ॥ ७३ ॥

स धार्मिकः स सद्दृष्टिः स विवेकी स कोविदः ।
स तपस्वी स चारित्री व्यावृत्तिं विदधाति यः ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो वैयावृत्य करै है सो धर्मात्मा होय है सो सम्यग्दृष्टी है सो विवेकी है सो पंडित है सो तपस्वी है सो चारित्रवान है।

भावार्थ—वैयावृत्य होते संतें सर्व धर्मके अंग होय हैं जातें वैयावृत्य नामा तप सब तपनिका सारभूत कह्या है ॥ ७४ ॥

ऐसें वैयावृत्य तपका वर्णन किया, आगें प्रायश्चित्त नामा तपका वर्णन करै है;—

आश्रित्य भक्तितः सूरिं रत्नत्रितयभूषितम् ।
प्रायश्चित्तं विधातव्यं गृहीत्वा मनशुद्धये ॥ ७५ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रय करि भूषित ऐसा जो आचार्य ता प्रति भक्तिकरि प्राप्त होय करि मनकी शुद्धताके अर्थि प्रायश्चित्त ग्रहणकरि आचरण करना योग्य है ॥ ७५ ॥

न सदोषः क्षमः कर्तुं दोषाणां व्यपनोदनम् ।
कर्दमाक्तं कथं वासः कर्दमेन विशोध्यते ॥ ७६ ॥

अर्थ—सदोष पुरुष है सो दोष दूर करनेकौं समर्थ नाहीं, जैसे कीच करि लिपटा वस्त्र कीचकरि कैसे सोधिये।

भावार्थ—निर्दोष गुरुही दोष दूर करके शुद्ध करै है सदोषगुरुतै दोष दूर होय नाहीं ॥ ७६ ॥

दोषमालोचितं ज्ञानी गुरुर्शक्तो व्यपोहितुम् ।
अज्ञानेन न वैद्येन व्याधिः क्वापि चिकित्स्यते ॥ ७७॥

अर्थ—आलोचित कहिए शिष्यने कह्या जो दोष ताहि ज्ञानवान आचार्य दूर करनेकौं समर्थ है, जातें अज्ञानी वैद्यकरि रोगका इलाज कहूं न कीजिए है रोगका ज्ञाता वैद्य सो इलाज करैगा ॥ ७७॥

आलोच्यगुणमात्रेण ज्ञानिने संयतात्मने ।
तदीयमागमः कार्यं प्रायश्चित्तं मनीषिणा ॥ ७८ ॥

अर्थ—[illegible] है आत्मा जाका ऐसा ज्ञानवान जो आचार्य [illegible] ज्ञानिकी [illegible] तिस आचार्य [illegible] प्रायश्चित्त करना योग्य है ॥ ७८ ॥

[illegible] ॥ ७९ ॥

अर्थ—[illegible] होय है [illegible] है [illegible] किया करे है [illegible] है।

भावार्थ—[illegible] ॥ ७९ ॥

फलाय जायते पुंसो न चारित्रमशोधितम्।
मलग्रस्तानि शस्यानि कीदृशं कुर्वते फलम् ॥ ८० ॥

अर्थ—बिना सोध्या चारित्रहै सो पुरुषके फलके अर्थ न होयहै जैसें मल जो कूडा ताकरि ग्रसे जे सस्य धान्य ते कैसे फल निपजावैं, अपि [redacted] नाही उपजावैं ॥ ८० ॥

ऐसें प्रायश्चित्त का वर्णन किया, आगैं स्वाध्याय नामा तप का वर्णन करैहैं;—

वाचना प्रच्छनाऽऽम्नायानुप्रेक्षा धर्मदेशना।
स्वाध्यायः पंचधा कृत्यः पंचमीं गतिमिच्छता ॥ ८१ ॥

अर्थ—पंचमी गति जो सिद्ध अवस्था ताहि इच्छता जो पुरुष ताकरि पांच प्रकार स्वाध्याय करना योग्यहै, स्वं कहिए आत्माके अध्यायरूप जो पढना अथवा सु कहिए भलेप्रकार शास्त्रका अध्ययन कहिए वाचनादिक करना सो स्वाध्यायहै, सो पांच प्रकारहै—तहां निर्दोष ग्रंथ अर्थ उभय इनिका जो भव्यजीवनिकौं देना सिखावना सो तौ वाचनाहै, बहुरि संशयके दूर करनेकौं निर्बाधनिश्चयके पुष्ट करनेकौं ग्रंथ अर्थ उभयका प्रश्न करना सो प्रच्छनाहै जो आपकी उच्चताके अर्थ परकौं ठगनेके अर्थि नीचा पाडनेके अर्थि परकौं हास्य करनेकौं इत्यादि खोटे खोटे आशयतैं पूछै सो प्रच्छनातप नाही, बहुरि जिन पदार्थका स्वरूप जान्या ताका मनकै विषैं वारवार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षाहै, बहुरि पाठकौं शुद्ध घोकना सो आम्नायहै, बहुरि धर्मकथा आदिका अंगीकार उपदेश देना सो धर्मोपदेशहै; ऐसैं पंच-प्रकार जानना ॥ ८१ ॥

तपोऽन्तरानेनरभेदभिन्ने
तपोविधौ किंचन पापहारि।

स्वाध्यायतुल्यं न विलोक्यतेऽन्यत्
हृषीकदोषप्रशमप्रवीणम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—अंतरंग अर बहिरंग भेदकरि भिन्न जो बारहप्रकार तप विधान ता विर्षे स्वाध्यायसमान पापकौं हरनेवाला और तप न देखिए है, कैसा है स्वाध्यायनामा तप इंद्रियनिका दोष जो इष्टानिष्ट विषयनिर्में रागद्वेष करना ताके उपसमावनेमें प्रवीण है ॥ ८२ ॥

स्वाध्यायमत्यस्य चलस्वभावं
न मानसं यंत्रयितुं समर्थः।
शक्नोति नोन्मूलयितुं प्रवृद्धं
तमः परो भास्करमंतरेण ॥ ८३ ॥

अर्थ—चचल है स्वभाव जाका ऐसा जो मन ताके रोकनेकौं स्वाध्यायविना और समर्थ नाहीं जैसें वृद्धिकौं प्राप्त भया जो अंधकार ताके नाशकौं सूर्य बिना और समर्थ नाहीं तैसें ॥ ८३ ॥

यः स्वाध्यायः पापहानिं विधत्ते
कृत्स्नैकाग्र्यं नोपवासः क्षमस्ताम्।
शक्तः कर्तुं संवृतानां न कार्यं
लोके दृष्टोऽसंवृतो दुष्टचेष्टः ॥ ८४ ॥

अर्थ—स्वाध्यायनामा तप एकाग्रपना करि जो पापकी हानि करै ता पापकी हानिके करनेकौं केवल उपवास समर्थ नाहीं, लोकविर्षे संवररहित अर दुष्ट है चेष्टा जाकी ऐसा पुरुष संवरसहित जीवनिके करने योग्य जो कार्य है ताहि करनेकौं समर्थ नाहीं।

भावार्थ—स्वाध्यायविर्षे संवर होय है तातें कर्मकी निर्जरा होय है अर स्वाध्याय बिना केवल उपवासही करै सो संवररहित दुष्टचेष्टाकरि ताकै पापकी निर्जरा होय नाहीं ॥ ८४ ॥

विज्ञाननिः शेषपदार्थजातः
कर्मास्रवद्वारपिधानकारी ।
भूत्वा विधत्ते स्वपरोपकारं
स्वाध्यायवर्त्ती बुधपूजनीयः ॥ ८५ ॥

अर्थ—स्वाध्यायविषै प्रवर्त्तनेवाला पुरुष है सो जानै श्रुतज्ञानकरि सकलपदार्थ जानैं अर कर्मास्रव आवनेके द्वारे मिथ्यात्वादिक तिनका रोकनेवाला ऐसा होयकरि आपका वा परका उपकार करै है ऐसाहै स्वाध्याय करनेवाला पुरुष पंडितनि करि पूजने योग्य है ॥ ८५ ॥

पटुज्ञानचक्षुर्विधुनोति यथो
विध्वंसिताशेषहृषीकदोषः ।
तपोविधानैर्भवकोटिलक्ष-
र्न्नूनं तदज्ञो न धुनोति कर्म ॥ ८६ ॥

अर्थ—ज्ञान्यहै वस्तुका स्वरूप जानै अर नाश किये हैं समस्त इंद्रियनिके दोष जानै ऐसा पुरुषहै सो जा कर्मको निर्जरा करै है ता कर्मकौं अज्ञानी अनेक जन्मनिकरि तपके आचरण करि भी निश्चय करि नाही निर्जरावैहै ।

भावार्थ—निर्जरा होय है सो शुभ ज्ञानके अभ्यासतैं अर्ई जो विशुद्धता तातै होयहै केवल कायक्लेश तै विशेष निर्जरा होय नाहीं तातै ज्ञानाभ्यासही मुख्य है ऐसा जानना ॥ ८६ ॥

निरस्तमन्मथाहंकारकषायदर्प-
विर्धीयते येन शरीरिवर्गः ।
प्रकृष्टजन्मांकुरशोषपूषा
स्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जा स्वाध्याय करि नष्ट भई है सर्व इंद्रिय अर कषायरूप परिणति जाकी ऐसा जीवनिकासमूह कीजिएहै,

भावार्थ—विषय कषायरहित जीव कीजिएहै तातैं स्वाध्यायतैं न्यारा योग कहिए ध्यान नाहीं, ।

भावार्थ—ज्ञानके अभ्यास होतैं ध्यान होयहै ज्ञान विना ध्यान नाहीं, ऐसाहै स्वाध्यायतप विस्तारकौं प्राप्त भया जो संसाररूप अंकुर ताके सोपनेकौं सूर्यसमान है ॥ ८७ ॥

गुणाः पवित्राः शमसंयमाद्या
विबोधहीनाः क्षणतश्चलंति ।
कालं कियंतं दलपुष्पपूर्णा-
स्तिष्ठंति वृक्षाः क्षतमूलबंधाः ॥ ८८ ॥

अर्थ—कषायनिकी मंदतारूप शमभाव अर संयमभाव इत्यादिक जे पवित्र गुण हैं ते ज्ञानरहित क्षणमात्रमैं चलायमान होयहैं जैसैं पत्र अर पुष्पनिकरि भरे ऐसे वृक्ष हैं ते नष्ट भयाहै जडका बंधान जिनका ऐसे कितनेकाल तिष्ठैहै किछू भी न तिष्ठैहै ।

भावार्थ—सब गुणनिका मूल ज्ञान है सो ज्ञानविना और गुण होय नाहीं, ऐसा जानना ॥ ८८ ॥

जानात्यकृत्यं न जनो न कृत्यं
जैनेश्वरं वाक्यमबुद्ध्यमानः ।
करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं
ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिनराजके वचनकौं न जानता जो जीवहै सो न करने योग्यकौं ना करने योग्यकौं न जानैहै तातैं अकार्य जो हिंसादिक ताहि

करैहै अर कार्य जो वैराग्यादिक ताहि तजै है तातैं तीव्र दुःखकौ प्राप्त होयहै ॥ ८९ ॥

अनात्मनीनं परिहर्तुकामा
ग्रहीतुकामाः पुनरात्मनीनम्।
पठंति शश्वज्जिननाथवाक्यं
समस्तकल्याणविधायि संतः ॥ ९० ॥

अर्थ—संत पुरुषहैं ते निरंतर जिनराजके वचनको पढैहैं कैसा है जिनवचन समस्तकल्याण करणेवाला है कैसे हैं जिनवचनके पढनेवाले पुरुष आत्माके हितरूप नाहीं ऐसे मिथ्यात्वादिक भाव तिनके दूर करनेके वांछकहै बहुरि आपके अर्थि हित जे सम्यक्त्वादिभाव तिनके ग्रहण करनेके वाछक हैं ॥ ९० ॥

सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं
मूढाः श्रयंते वचनं परेषाम्।
तापच्छिदे ते परिमुच्य तोयं
भजंति कल्पक्षयकालवह्निम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—जे मूढ जिनराजके वचनकौं त्यागकैं सुखके अर्थि अन्य मिथ्यादृष्टीनिके वचन सेवै है ते ताप दूर करनेके अर्थि जलकौं छोडकै प्रलयकालके अग्निकौं सेवै है ॥ ९१ ॥

विहाय वाक्यं जिनचंद्रदृष्टं
परं न पीयूषमिहास्ति किंचित्।
मिथ्यादृशां वाक्यमपास्य नूनं
पश्यामि नो किंचन कालकूटम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—इस लोकविषैं जिनराजकरि कह्या जो वचन ता सिवाय और अमृत नाहीं अर मिथ्यादृष्टीनिके वचन विना और कालकूटविष मैं निश्चयकरि किछू नाहीं देखूं हूं ॥ ९२ ॥

विधीयते येन समस्तमिष्टं
कल्पद्रुमेणेव महाफलेन ।
आवर्ज्यतां विश्वजनीनवृत्ति
र्मुक्त्वा परं कर्म जिनागमोऽसौ ॥ ९३ ॥

अर्थ—जा करि महाफलसहित कल्पवृक्षकी ज्यों सर्व मनोवांछित कीजिए ऐसा यहु जिनागम सर्वलोकके हितरूप परिणति सिवाय और कार्यका वर्जन करहु ।

भावार्थ—जिनवचनके अभ्यासतैं हमारे लौकिक कार्यकी वांछा मत होउ स्वपरके उपकाररूप परिणति होउ ॥ ९३ ॥

ऐसैं स्वाध्याय नामा तपका वर्णन किया:—

परेऽपि ये सन्ति तपोविशेषा
जिनेंद्रचंद्रोदितसूत्रदृष्टाः ।
यथाशक्तितस्ते निखिला विधेयाः
विधानतः कर्मनिकृन्तनाय ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्वाध्यायपर्यंत तप तौ पहले कहे अर ध्यान तप आगैं कहैंगे । बहुरि और भी जे तपके भेद सिद्धनिःक्रीडितादि जिनभाषित सूत्रनैं दिखाए ते अपनी शक्तिमाफिक समस्तविधानपूर्वक कर्मनकी निर्जराके अर्थि करना योग्य है ॥ ९४ ॥

सौख्यं मनुष्यं दीयते येन नित्यं
रागादिवर्द्धिस्यते येन मयः ।

येनानंदो जन्यते याचनीय-
स्तं संतोषं कुर्वते के न भव्याः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जाकरि निराकुल सुख निरन्तर दीजिये है और याचना [illegible] दीजिये है और जाकरि वांछनेयोग्य मुनिपदको आनंद उपजाइए है ऐसा जो संतोष ताहि कौन भव्य न करै, सर्वही करै।

भावार्थ—सब तपनिमें उत्तम सुख स्वरूप इच्छानिरोध है [illegible] निरोध अर संतोष एकही है तातें संतोष सब तपनिमें प्रधान ऐसा परमतप है, ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

नेष्टं दातुं कोऽप्युपायः समर्थः
सौख्यं नृणामस्ति संतोषतोऽन्यः ।
अंभोजानां कः प्रबोधे विधातुं
शक्तो हित्वा भानुमेकं हि दक्षः ॥ ९६ ॥

अर्थ—मनुष्यनिकौं वांछित सुख देनेकौ संतोषसिवाय और कोई भी उपाय नाहीं जैसैं लोकमें कमलनिकै प्रफुल्लित करनेकौ सूर्यविना और कोई समर्थ न देख्या तैसैं संतोष विना सुख नाहीं ॥ ९६ ॥

विमुच्य संतोषमपास्तबुद्धिः
सुखाय यः कांक्षति वस्त्वनल्पम् ।
दारिद्र्य हानाय स कल्पवृक्षं
निरस्य गृह्णाति विषद्रुमं हि ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी सुखके अर्थि संतोषकौ छांडिकरि [illegible] भोगादिककौ इच्छै है सो दारिद्रके नाशके अर्थि कल्पवृक्षकौं [illegible] विषवृक्षकौ ग्रहण करै है ॥ ९७ ॥

कोपलोभमदमत्सरशोक-
धर्मदानविरतः परिहार्यः ।

व्याधयो न सुखघातपटिष्ठाः
पोषयंति कृतिनः सुखकांक्षाः ॥ ९८ ॥

अर्थ—क्रोध लोभ मान मत्सर शोक इत्यादिक धर्मकी हानि करनेमें प्रवीण जे भाव ते त्यागने योग्यहैं जातैं सुखके वांछक जे भाग्यवान पुरुषहैं ते सुखके नाश करनेमें प्रवीण जे रोगतिनहि पुष्ट न करै

भावार्थ—क्रोधादिभावहैं ते आकुलतामयहै तातैं सुखके घातकहैं त्यागने योग्यहै अर संतोषहै सो सुखमयहै सो ही सुखार्थीनि करि सेवने योग्यहै ॥ ९८ ॥

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावो विपरीतदृष्टौ
सदा विधेयो विदुषा शिवाय ॥ ९९ ॥

अर्थ—एकेंद्रियादि सर्व जीवनिविषैं मैत्रीभाव करिए, कोई भी मति दुखी मत होऊ ऐसी भावना, बहुरि सम्यग्दर्शनादि गुण सहित पुरुषनि विषैं अतिहर्ष, अर रोगादि क्लेशकरि सहित जीवहैं तिनविषैं करुणाभाव, अर विपरीतहै श्रद्धा जाकी ऐसे पुरुष विषैं माध्यस्थ्यभाव करि विपरीत पुरुषकौं देखिकै निंदना भी नहीं उपदेश योग्य नाहीं ऐसे रागद्वेष रहितकौं करना, या प्रकार च्यार भावना ज्ञानवानकरि मोक्षके अर्थि सदा करणा योग्यहै ॥ ९९ ॥

अनघार्थ्यत्रिनिचयेषु
अपूतदोषोपशमेषु नित्यम् ।
विनयभावः सुधिया विधेयो
महागुणेषु विनयेषु ॥ १०० ॥

अर्थ—ज्ञानी जीवकरि संसार देह भोगनिविषै सदा वैराग्यभाव करणा योग्य है, कैसे हैं संसार देह भोग अविनाशी उद्धर्मके रोकनेवाले हैं बहुरि अनेक दोषनिकरि युक्त हैं विनाशीक हैं ॥ १०० ॥

श्रावकधर्मं भजति विशिष्टं
योऽनघचित्तोऽमितगति दृष्टम् ।
गच्छति सौख्यं विगलितकष्टं
स क्षपयित्वा सकलमनिष्टम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो पुरुष अमितगति कहिए अनंत है ज्ञान जाका ऐसा जो जिनराज तानैं दिखाया अथवा अमितगति आचार्यनैं दिखाया जो श्रावकका धर्म ताहि सेवै है सो पुरुष सब अनिष्टनिका नाश करके नाहीं है कष्ट जहां ऐसा सुखरूप जो मोक्ष ताहि प्राप्त होय है, कैसा है धर्म विशिष्ट कहिए अन्य धर्मनितैं न्यारा है लक्षण जाका ऐसा है, बहुरि कैसा है सो पुरुष पापरहित है चित्त जाका ऐसा है ॥ १०१ ॥

सवैया ।

श्रावकधर्म कह्यो जिनराज यथाविधि ताहि अखंडित धारै,
सो अतिनिर्मलचित्त सुधी भवकष्ट अनिष्टसमूह निवारै ।
स्वर्गनिके सुख भोगि तथा नर होय महाव्रत भाव सम्हारै,
आतम ध्याय विभाव नसाय महासुखसागर धाम सिधारै ॥

इत्युपासकाचारे त्रयोदशः परिच्छेदः ।

इति श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचार
विषैं त्रयोदशमां परिच्छेद

समाप्त भया ।

तहां इस जगतविषैं और कौन जानेवाले नाहीं सर्वही परलोक जाय हैं ॥ ६ ॥

ऐसैं अनित्यभावना कही। आगैं अशरणभावनाकौं कहै हैं;—

यं करोति पुरतो यमराजा
भक्षणाय भुवने क्षुधितात्मा।
कानने मृगमिव द्विपवैरी
तस्य नास्ति शरणं भुवि कोऽपि ॥ ७ ॥

अर्थ—क्षुधासहित है आत्मा जाका ऐसा जमराज सो जीवकौं भक्षण करनेके अर्थि आगैं करै है ता जीवका लोकविषैं कोई भी शरण नाही जैसैं वनमैं मृगकौं सिंह भक्षण करनेकौं होय तब ताकौं कोई शरण नाही तैसैं ॥ ७ ॥

अंतकेन यदि विग्रहभाजः
स्वीकृतस्य समपत्स्यत पाता।
रक्षितः सुरवरैरमरिष्य-
न्नो तदा सुरवधूनिकुरंबः ॥ ८ ॥

अर्थ—कालतैं ग्रह्या जो प्राणी ताकी मरणतैं जो रक्षा होय तौ इंद्रादिक देवनिकरि रक्षित जो देवांगनानिका समूह सो न मरता।

भावार्थ—मरणतैं रक्षा होय तौ इंद्र अपनी देवांगनानिकौं न मरने देय, तातैं मरण होतैं जीवकै शरण नाही ॥ ८ ॥

यं निहंतुममरा न समर्था
हन्यते न स परैः समवर्ती।
यो द्विपेन समदेरपि मग्नो
भज्यते हि शशकेन स वृक्षः ॥ ९ ॥

अर्थ—जो जमराजके हनिवेकौं देव समर्थ नाही सो और जीवनिकरि कैसें हनिए,

भावार्थ—जो इंद्रादिक देव भी मरणकौं न निवारि सकें तौ औरनकी कहा कथा, जैसें मतवारे हाथीन करि भी जो वृक्ष भग्न न भया सो मुस्सानि करि भंग कैसें कीजिए ॥ ९ ॥

स्यंदनाद्विपपदातितुरंगै-
मंत्रितंत्रजपपूजनहोमैः ।
शक्यते न खलु रक्षितुमंगी
जीवितव्यपगमे म्रियमाणः ॥ १० ॥

अर्थ—रथ हाथी प्यादे घोडेनिकरि तथा मंत्र तंत्र जप पूजन होम इन करि आयुके नाश भये जो मरता जीव सो राखनेकौं समर्थ न हुजिए है ॥ १० ॥

ये धरंति धरणीं सह शैलै-
र्ये क्षिपंति सकलं ग्रहचक्रम् ।
ते भवंति भुवने न स कश्चि-
द्यो निहंति तरसा यमराजम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जे जीव समस्त पर्वतनिसहित पृथ्वीकौं धारैहैं अर सकल ग्रहचक्रकौं क्षेपैहैं ऐसे पुरुष तौ लोकविषैहैं परंतु सो कोई पुरुष नाहीं जो वेगकरि यमराजकौं नाश करैहै ॥ ११ ॥

यो निहंति रभसेन बलिष्ठा-
निंद्रचंद्ररविकेशवरामान् ।
रक्षको भवति कश्चन मृत्यो-
र्निसतो भवभृतो न ततोऽत्र ॥ १२ ॥

अर्थ—जो यमराज वेगकरि महान जे इंद्र चंद्र सूर्य नागेन्द्र बलभद्र तिनहि हनैहै मानों इस संसारीमें जीवनिका नाश करना जो यम तातैं बचावनेवाला कोऊ नाही।

भावार्थ—अन्यमती यमको देव मानैहै सो भी मिथ्याहै अर आयुका जो पूर्ण भये कोऊ राखनेकौं समर्थ नाही, सम्यग्दर्शनादिक वा अरहंतादिक शरणहै जातैं वस्तुका स्वरूप जाने मरणका भय रहै नाही, अर सिद्धपद पावै तहां फेर मरण होय नाही, तातैं पर कोऊ शरण नाही आपका आपही शरणहै ॥ १२ ॥

या प्रकार अशरण भावना कही, आगैं संसार भावनाकौं कहैहैं;—

चित्रजीवाकुलायां तनूभागिना ।
कुर्वता चेष्टितं सर्वदा मोहिना ।
गृह्णता मुंचता विग्रहं संसृतौ
नर्तकेनेव रंगक्षितौ भ्रम्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—इस मोही जीवकरि एकेंद्रियादि नाना जीवनिकरि भरी नृत्य करनेकी भूमिसमान जो यह संसारपरिणति ताविषैं नटवा की ज्यौं भ्रमिएहै कैसाहै संसारी जीव सदा अनेक चेष्टा करैहै अर शरीरकौं ग्रहण करैहै अर छोडैहै ॥ १३ ॥

श्वसति रोदिति सीदति सिद्यते
स्वपिति रुष्यति तुष्यति ताम्यति ।
लिखति दीव्यति सीव्यति नृत्यति
भ्रमति जन्मवने कलिलाकुलः ॥ १४ ॥

अर्थ—पापकर्मकरि व्याकुल यहु जीव संसारवनविषैं भ्रमैहै, उच्छ्वास लेयहै, रोवैहै, पीडित होयहै, खेदखिन्न होयहै, सोवैहै, रोष करैहै, सन-

करैहै, तनायमान होयहै, छिनैहै, क्रीडा करैहै, व्यवहार करैहै, सोवैहै, नृत्य करैहै, या प्रकार अनेक चेष्टा करैहै ॥ १४ ॥

जनकस्तनयस्तनयो जनको
जननी गृहिणी गृहिणी जननी।
भगिनी दुहिता दुहिता भगिनी
भवतीति घनोंगिगणो बहुशः ॥ १५ ॥

अर्थ—पिता पुत्र होयहै पुत्र पिता होयहै माता स्त्री होयहै स्त्री माता होयहै बहण पुत्री होयहै पुत्री बहण होयहै सो बडे खेदकी बातहै यह जीव पूर्वोक्तप्रकार अनेकवार भ्रमैहै ॥ १५ ॥

कलिलजालवशः स्वयमात्मनो
भवति यत्र सुतो निजमातरि।
किमपरं पत तत्र निगद्यते
विविधदुःखरत्न जननार्णवे ॥ १६ ॥

अर्थ—जा संसारसमुद्रविषै पापके समूहकरि वश भया संता जीव आप आपका पुत्र अपनी माताके गर्भविषै होय बडे खेदकी बातहै, ता संसार विषै और और व्यवस्था कहा कहिए, कैसाहै भवसमुद्र नानादुःखनिके उपजावनेवाले खानिहै ॥ १६ ॥

किमपि वेत्ति शिशुर्न हिताहितं
विरहदुःखमुपैति युवा परम्।
विकलतां भजते स्थविरम्नरो
भवति शर्म कदा बत संसृतौ ॥ १७ ॥

अर्थ—अहो संसारविषै पुरुष कब होयहै बालक तौ किछु हिताहितकों न जानैहै, बहुरि जवान तीव्र कामके दुखकों प्राप्त होयहै बहुरि

बूढाहै सो अतिशयकरि विकलताको भजैहै शक्तिरहित होजायहै इन्द्रिय
बढजायहै ऐसैं सुख कोई अवस्थामें नाही, दुःखहीहै ॥ १७ ॥

न सोऽस्ति संबंधविधिर्जगत्त्रये
समं समस्तैरपि देहधारिभिः ।
अत्रापि यो न भ्रमता भवार्णवे
शरीरिणा कर्मनियंत्रितात्मना ॥ १८ ॥

अर्थ—तीन लोकविषै सो संबंधका विधान नाहीं जो जीवनै समस्त देहधारीनकरि सहित अनेकवार न पाया, कैसाहै जीव संसारसमुद्रविषै भ्रमता है अर कर्मनिकरि बंध्याहै आत्मा जाका ऐसाहै ॥ १८ ॥

यत्र तिर्यग्विबुधैः पराग्यते
कर्मयानागतं भ्रम्यमाणो जनः ।
दुःसहं दुर्धरं मानसं कायिकं
तत्र दुःखं न किं संसृतावम्बुधे ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस संसारसमुद्रविषै कर्म करि निरंतर भ्रमाया हुवा यो जीव सो नानाप्रकार पर्यायनिकरि उपर ऊपर कीजिए है सो तिर्यं-चिविषै दुःखनविषै मनके वा कायके दुःसह दुःख कहा न भोगे है, भोग्याही । ऐसा संसारका भ्रमण जानि मोक्षका यत्न करना ॥ १९ ॥

या प्रकार संसार भावना कही । आगे एकत्व भावनाको कहै हैं,—

इंद्रशोभानिमिषसंगिना
परमधर्मं विविधं विधीयते ।
एकमेव हरति त्रिभुवनं
मार्गशी मतिमुंडिता यथा ॥ २० ॥

अर्थ—शरीर अर बंधुजनिके पोषणेके अर्थि जीवकरि पापकर्म नानाप्रकार कीजिएहै बहुरि ताके फलतैं नरकगतिकौं प्राप्तभया एक आप ताकरि ही पीडा सहिए है शरीर कुटुंबादिक कोऊ भेला होय नाहीं ॥ २० ॥

पद्मपत्रनयना मनोरमाः
कारयंति दुरितं दुरुत्तरम्।
दुर्गतिं विकटदुःखसंकटा
मेककस्य शरणं न गच्छतः ॥ २१ ॥

अर्थ—कमलके पत्र समानहै नेत्र जिनके ऐसी मनकौं रमावनेवाळी जे स्त्री हैं ते दुस्तर पापकौं करावैं हैं बहुरि दुःखनिकरि व्याप्त जो दुर्गति ता प्रति अकेले जानेकौं शरण कोऊ नाहीं ॥ २१ ॥

मातृतातसुतदारबांधवाः
सर्वदा मम सुखेति तप्यते।
कर्म पूर्वमपहाय विद्यते
नात्र कोऽपि सुखदुःखकारकः ॥ २२ ॥

अर्थ—माता पिता पुत्र स्त्री बांधव ये सदा मेरे हैं ऐसी मानिकरि सदा खेद करैहै बहुरि पूर्व कर्म बिना इस लोक विषैं सुखदुःखका करनेवाला कोऊ नाहीं ॥ २२ ॥

वेदनां गतवतः स्वकर्मजा-
मत्र यो न विदधाति किंचन।
किं करिष्यति परत्र सनतो
देहजादिनिवहःस पालितः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो पाल्या पोष्या ऐसा पुत्रादिकनिका समूह सो अपने कर्मनितैं उपजी जो रोगादिककी वेदना ताकौं प्राप्त भया जो जीव

अर्थ—इस लोक विषैं कर्मनिके संयोगतैं निपजे शरीर पुत्रादिक जे पदार्थहैं ते केवल दुःखकी परपराय विना और किछू दुःखतैं विपरीत जो सुख ताहि करने समर्थ नाहीं।

भावार्थ—शरीरादिक परपदार्थमैं आपाकी बुद्धिहै सो दुःखहीका कारणहै सुखका कारण नाहीं ॥ २९ ॥

अनात्मनीना भवदुःखहेतवो
विनश्वराः कर्मभवा यतोऽखिलाः।
ततो न बाह्येषु विशुद्धबुद्धयो
ममेति बुद्धिं मनसाऽपि कुर्वते ॥ ३० ॥

अर्थ—जातैं कर्मणके उदयतैं भये समस्त शरीरादिक पदार्थहैं ते आत्माके अर्थि हितरूप नाहीं अर संसार दुःखके कारण हैं अर विनाशीक हैं तातैं बाह्य पदार्थनिविषैं "यह मेरे हैं" ऐसी बुद्धिकौं मन करि भी न करैहैं ॥ ३० ॥

न विद्यते यत्रकलेवरं निजं
स्वकीयबुद्धया मनसि व्यवस्थितम्।
तदीयसंबंधभवाः सुतादयः
परे कथं तत्र निजा निगद्यताम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जहां आपकी बुद्धिकरि मनविषैं तिष्ठ्या जो शरीर सो आपका नाहीं तहां ता शरीरके संबंधतैं उपजे जे अन्य पुत्रादिक ते कहो! आपके कैसैं होय ॥ ३१ ॥

करोति बाह्येषु ममेति धीमुषीं
परेश्चयं यावदनर्थकारिणीम्।
न निर्गमस्तावदमुष्य संसृते-
रिति त्रिधा सा विदुषा विमुच्यताम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जहां ताई वाप पर पदार्थनि विषैं ये मेर हैं ऐसी अनर्थ करने वाली बुद्धि है तहां ताई इस जीवका संसारतैं निकसना नाहीं इस कारणतैं सो बुद्धि मन वचन काय करि त्यागना ॥ ३२ ॥

ऐसें अन्यत्वभावना कही । आगें अशुचित्वभावनाकौं कहैहैं;—

क्षणादमेध्याः शुचयोऽपि भावाः
संसर्गमात्रेण भवंति यस्य ।
शरीरतः संततिपूतिगंधे-
स्ततः परं किंचन नास्त्यचौक्ष्यम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जा शरीरके संसर्गमात्र करि क्षणमात्रमें पवित्र पदार्थ भी अपवित्र होयहै तातैं निरंतर दुर्गंधरूप जो शरीर तातैं अन्य किछू अपवित्र नाहीं ॥ ३३ ॥

बहुप्रकाराशुचिराशिपूर्णे
शुक्रासृजाते शुचिता क काये ।
अमेध्यपूर्णः किममेध्यकुंभो
दृष्टो हि मेध्यत्वमुपाददानः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार विष्टादिक अपवित्र वस्तुनि करि भरया अर वीर्य अर रुधिरतैं उपज्या ऐसा जो शरीर तामैं पवित्रता कहूं नाहीं, जातैं विष्टा करि भरया अपवित्र कुंभ पवित्रताकौं धारता कहूं देख्या नाहीं ॥ ३४ ॥

मज्जास्थि मेदोमलमांसरक्तैर्
विगर्हणीयं कृमिजालगेहम् ।
देहं दधानः शुचितामिमानं
मूर्खो विधत्ते न विशुद्धबुद्धिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—मज्जा अर हाड अर मेद अर मळ विष्टादिक इनके उपजने- की खानि अर निंदने योग्य अर कीडानिके समूहका घर ऐसा जो देह ताहि धारता संता पवित्रपनेका अभिमान मूर्ख धारै है, निर्मळ बुद्धि न धारै है ॥ ३५ ॥

स्रवन्नवस्रोतृविचित्रगूथं
यो वारिणा शोधयते शरीरम् ।
अङ्गार दुग्धेन निघृष्य मन्ये
विशुद्धमंगारमसौ विधत्ते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो झरै है नव द्वारनितैं नाना प्रकार मळ जातैं ऐसा जं शरीर ताहि जळ करि पवित्र करै है सो मै ऐसा मानूं हूं ये कोयलाकौं दू तै घिसकैं जल्दी विशुद्ध करै है ॥ ३६ ॥

न हन्यते तेन जलेन पापं
विवर्द्धयते येन विवर्द्ध्य रागम् ।
यद्यस्य वर्णप्रभवे समर्थं
तत्तस्य दृष्टं न विनाशकारि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जा जळकरि रागादिभाव बटाय करि हिंसादिक पाप बढाइ है ता जळकरि पाप कैसैं नाश कीजिए, जातैं जो वस्तुका वर्ण उपजावनै विषै समर्थ है सो ताका नाश करनेवाला न देख्या ॥ ३७ ॥

विनाश्यते चेत्सलिलेन पापं
धर्मस्तदानीं क्रियते किमर्थम् ।
आरोहणं कोऽपि करोति वृक्षे
फले हि हस्तेन न लभ्यमाने ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो जळकरि पाप नाशिए तौ तपश्चरणादि धर्म काहेकै अर्थि करिए जातैं हाथमैं फळ आये संते कोई वृक्षपै चढै नाहीं ॥ ३८ ॥

माघेन तीव्रः क्रियते शशांको
ग्रीष्मेण भानुर्यदिनाम शीतः ।
देहस्तदानीं पयसा विशुद्धो
विधीयते दुर्वचपूयपूयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो माघ मासकरि चंद्रमा तप्त कीजिए अरग्रीष्मकरि सूर्य शीतल कीजिए तौ जलकरि शरीर विशुद्ध कीजिए कैसाहै शरीर निंद्नीक विरादिक मलका पुंजहै ॥ ३९ ॥

सज्ञान सम्यक्चरित्रतोयै-
र्विगाह्यमानैर्मनसाऽपि जीवः ।
विशोध्य मानस्तरसा पवित्रै-
र्न शुद्धिमभ्येति भवांतरेऽपि ॥ ४० ॥

अर्थ—मन करि भी अवगाहे जे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप पवित्र जल तिनकरि शीघ्र निर्मल किया जो जीव सो जन्मान्तर विषैं भी अशुद्धिभावकौ प्राप्त नाहीं होयहै ।

भावार्थ—जलादि परद्रव्यनितैं मिथ्यादृष्टी शुद्धिता मानैहै सो मिथ्याहै तातैं जीव तौ, सम्यग्दर्शनादि आत्मपरिणामहीतैं शुद्ध होयहै ॥ ४० ॥

ऐसैं अशुचि भावना कही । आगैं आश्रवभावनाका कहैहैं:—

रंध्रैरिवाशुचितितैरदृश्यै तरंडे
जीवे मनोवचनकायविकल्पजालैः ।
जन्मार्णवे विशति कर्म विचित्ररूपं
सद्यो निमज्जनविधायि सुदुर्निवारम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जैसैं समुद्रमैं नाव विषैं विस्ताररूप छिद्रनिकरि जल प्रवेश करैहै तैसैं संसारसमुद्रविषैं मन वचनकायके विकल्पजालतैं नानाप्रकार

कर्म आश्रवैहैं ताकरि जीव दुःखकरि निवारण करने योग्य जल्दी इन-नेकौं प्राप्त होयहै ॥ ४१ ॥

चित्रेण कर्मपवनेन नियोज्यमानः
प्राणिप्लवो बहुविधोऽसुखभांडपूर्णः।
संसारसागरमसारमलभ्यपारं
भूरिभ्रमं भ्रमति कालमनंतमानम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—तीव्र मंदादि भेदनिसहित नानाप्रकार जो कर्मपवन ताकरि प्रेरया भया यह जीवरूप नौका संसारसमुद्रविषैं अनंतकाल भ्रमैहै कैसाहै जीवरूपी नाव नानाप्रकार दुःखरूप भांडनि करि भरया बहुरि कैसाहै संसारसमुद्र असारहै जामैं आत्महित नाहीं बहुरि नाहीं पायने योग्यहै पार जाका ऐसा अपारहै अर बहुतहैं भौंर जा विषैं ऐसाहै ॥ ४२ ॥

कर्मादधाति यदयं भविनः कषायः
संसारदुःखमविधाय न तद्व्यपैति।
यद्बंधनं हि विदधाति विपक्षवर्ग
स्तन्नाम कस्य विरचय्य सुखं प्रयाति ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो यह कषायभाव जीवकै कर्मबंध करैहै सो कर्मबंध दुःख दिये विना नाश नाहीं होयहै जैसे वैरीनिका समूह जो बंधन बांधे है सो बंध कौनकौं सुख करिकैं जाय है दुःख करिकै ही जाय है।

भावार्थ—कषायकरि बंध्या जो कर्म ताका छूटना महाकठिन है तातैं मुख्य आश्रवका कारण जो कषाय सो करणा योग्य नाहीं ॥४३॥

भेदाः शुभाशुभविधानविधा समर्था
ये कर्मणो विविधबंधगमा भवंति।

जंतोः शुभाशुभमनः परिणामजन्या
मंभ्रम्यते भवने चिरमेष भीमे ॥ ४४ ॥

अर्थ—जीवके नानाप्रकार जे चित्तके परिणाम तिनकरि उपजे जे सुख दुःख करनेकों विधिकरि समर्थ नानाप्रकार कर्मके अनुभागभेद तिन करि यह जीव भयकर संसारवन विषैं बहुत काल भ्रमाइए है।

भावार्थ—कर्मनिका तीव्र मंद अनुभाग तीव्र मंद कषायतैं होय है ताकरि जीव नरकादि पर्यायनिमें भ्रमै है ॥ ४४ ॥

गृह्णाति कर्म सुखदं शुभयोगवृत्त्या
दुःखप्रदायि तु यतोऽशुभयोगवृत्त्या।
आद्या सुखार्थिभिरतः सततं विधेया
हेया परा प्रचुरकष्टनिधानभूता ॥ ४५ ॥

अर्थ—जातैं शुभयोगकी परणति करि जीव सुखदायक कर्मका ग्रहण करै है बहुरि अशुभयोगकी परिणति करि दुःखदायक कर्मका ग्रहण करै है, इस कारणतैं सुखके अर्थी जे जीव तिनकरि आदिकी जो शुभपरणति सो निरंतर करणी योग्य है बहुरि प्रचुर दुःखके निधान-समान जो अशुभयोगकी परणति सो त्यागनी योग्य है ॥ ४५ ॥

एकप्रकारमपि योगवशादुपेतं
कुर्वंति कर्म विविधं विविधाः कषायाः।
एकस्वभावमुपगस्य जलं घनेभ्यः
प्राप्य प्रदेशमुपयाति न किं विभेदम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—योगनिके वशकरि एक प्रकार ग्रहण किया भी कर्म कषाय नाना प्रकार करै है।

भावार्थ—योगद्वार समयप्रबद्ध ग्रहण कियौ सो तौ एक प्रकारही है परंतु जैसा तीव्र मंद कषाय होय तैसाही नानाप्रकार तीव्र मंद शक्ति

लिये होय है जैसें मेघनितैं जल है सो एकस्वभावकौं प्राप्त होयके निंब आदि प्रदेशकौं प्राप्त होय करि कहा विचित्र भेदकौं नाहीं प्राप्त होय है, होयही है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वदौर्विरत्यकषाययोग–
प्रमाददोषा विविधप्रकाराः ।
कर्माश्रवाः संति शरीरभाजां
जलाश्रवा वा सरसां प्रवाहाः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अर अविरत अर कषाय अर योग अर प्रमाद ये दोषस्वरूप नाना प्रकार जीवनिकै कर्माश्रवके कारण हैं, जैसें सरोवरनिकै जलके आश्रवके कारण प्रवाह हैं तैसें।

भावार्थ—मिथ्यात्वादिक भाव कर्मबंधके कारण हैं तातैं इनकौं त्यागना, यह तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

संवरणं तस्मा दुरिताना–
माश्रवरोधकरेषु नरेषु ।
आगमनस्य कृते हि निरोधे
कुत्र विशंति जलानि सरःसु ॥ ४८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वादिक आश्रवनिकौं जे सम्यक्त्वादि भावनि करि रोकनेवाले पुरुष हैं तिनकै शीघ्र कर्मनिका रुकना रूप संवर होयहै जैसें जलनिके आवनेका द्वार रोके संतें सरोवरनिविषैं जल कहांतैं भी कहूंतैं भी न आवै है ॥ ४८ ॥

नश्यति कर्म कदाचन जंतोः
संवरणेन विना न गृहीतम् ।
शुष्यति कुत्र जलं हि तडागे
संगमने बहुधाऽनिरस्य ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीवकैं ग्रहण किया भया जो कर्म है सो संवर विना कदाच नाश न होयहै, जैसैं सरोवरविर्षें बहुत प्रकार नवीन जलका आगम होतसंतैं जल कहातैं सूखै, अपि तु नाहीं सूखै है तैसैं जानना ॥ ४९ ॥

योगनिरोधकरस्य सुदृष्टे-
रस्तकषायरिपोर्विरतस्य ।
यत्नपरस्य नरस्य समस्तं
संवृतिमृच्छति नूतनमेनः ॥ ५० ॥

अर्थ—मन वचन कायका रोकनेवाला अर सम्यग्दृष्टि अर नाश कियेहैं कषाय वैरी जानें अर हिंसादिकतैं विरक्त अर यत्नाचारमैं तत्पर ऐसा जो पुरुष ताकै समस्त नवीन कर्म रुकै है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादिके प्रतिपक्षी जे सम्यक्त्वादि भाव तिनकरि संवर होय है ॥ ५० ॥

धर्मधरस्य परीषहजेतु-
र्वृत्तवतः समितस्य सुगुप्तेः ।
आगमवासितमानसवृत्तेः
संगतिरस्ति न कर्मरजोभिः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमादि दश प्रकार धर्मका धरनेवाला अर क्षुधादि परीषहनिका जीतनेवाला अर सामायिकादि चारित्रका धारी अर यत्नाचार रूप समितिनिकरि युक्त अर भले प्रकार योगनिका निग्रहरूप है गुप्ति जाकै ऐसा जो पुरुष ताकै कर्मरूपी रजनि करी संगति नाहीं होय है।

भावार्थ—इनिके होतसंतैं द्रव्यसंवर होय है, ऐसा जानना ॥५१॥

दर्शनबोधचरित्रतपोभि—
श्चेतसि कल्मषमेति न जुष्टे।
शूरतरैः पुरुषैः कृतरक्षे
शत्रुबलं विशति क्व पुरे हि ॥ ५२ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनकरि सहित जो चित्त ता विषै पापकर्म नाहीं प्राप्त होय है जैसैं शूरवीर पुरुषनिकरि करी है रक्षा जाकी ऐसा जो नगर ताविषैं शत्रुकी सेना कहां प्रवेश करै, अपि तु नाहीं करै है ॥ ५२ ॥

पातकमाश्रयति स्थिररूपं
संभृतिमात्मवतां न यतीनाम्।
वर्मधरान् नरान् रणरंगे
क्वापि भिनत्ति शिलीमुखजालम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—स्थिररूप आत्माका अनुभव करते जे आत्मज्ञानी यतीश्वर तिनके कर्म नहीं आश्रयै हैं जैसैं रणभूमिविषैं बख्तर बख्तरके धरनेवाले पुरुष तिनकौं बाणनिका समूह कहू भी भेदै नाहीं ॥ ५३ ॥

कामकषायहृषीकनिरोधं
यो विदधाति परैरसुसाध्यम्।
केवललोकविलोकितलोको
याति स मुक्तिपुरीं दुरापाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो पुरुष काम अर कषाय अर इंद्रिय इनिका निरोध करै है सो पुरुष मुक्ति पुरीकौं प्राप्त होय है, कैसा है कामादिकका निरोध और सामान्य पुरुषनि करि असाध्य है, बहुरि कैसा है वह पुरुष केवलज्ञानरूपी प्रकाश करि देख्या है लोक जानैं कैसी है मुक्तिपुरी दुःख

करै है पावना जाका बड़े बड़े मुनीश्वर जाके अर्थि खेद करै हैं तौ भी न पावै हैं।

भावार्थ—जे कामादिकका सवर करैहैं ते केवली होय मुक्तिपुरीकों पावै हैं इस विना कोटि करनैं भी मुक्ति न होय है ऐसा तात्पर्य है॥ ५४॥

दृढीकृतो याति न कर्मपर्वतः
शरीरिणां निर्जरया विना क्षयम्।
न धान्यपुंजः प्रलयं प्रपद्यते
व्ययं विना क्वापि विवर्द्धितश्चिरम्॥ ५५॥

अर्थ—जीवनीकै दृढ किया जो कर्मरूपी पर्वत सो निर्जरा विना क्षयकौ प्राप्त न होय है जैसें बहुत कालतै वृद्धिकौं प्राप्त किया जो धान्यका समूह सो खरच करे विना कहू भी नाशकौं प्राप्त न होय है तैसें।

भावार्थ—जितना कर्म बंधे तितना ही उदय देय खिरै तौ अनादिकालके संचयरूप कर्म नहीं नाहीं, बहुरि जब तपश्चरणादिकतैं अनेक कालके बाधे कर्म एककालमैं खिरैं तब कर्मका नाश होय तातैं तपश्चरणादिकमैं प्रवर्तना योग्यहै, यह तात्पर्यहै॥ ५५॥

निरंतरानेकभवार्जितस्य या
पुरातनस्य क्षतिरेकदेशतः।
विपाकजापाकजभेदतो द्विधा
यतीश्वरास्तां निगदंति निर्जराम्॥ ५६॥

अर्थ—निरंतर अनेक भवनि विषैं उपार्ज्या जो कर्म ताकी एकदेश जो हानि ताहि यतीश्वर निर्जरा कहैहै सो निर्जरा सविपाक अविपाक भेदतैं दोय प्रकारहै॥ ५६॥

आगैं सविपाक निर्जराका स्वरूप कहैहैं;—

अनेहसा या कलिलस्य निर्जरा
विपाकजां तां कथयंति सूरयः।
अपाकजां तां भवदुःखनिर्जिर्णी
विधीयते या तपसा गरीयसा ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो अपनी स्थिति पूर्ण रूप उदय काय करि कर्मकी निर्जरा है ताहि आर्य हैं ते विपाकजा निर्जरा कहैहैं, बहुरि जो उग्र तपश्चरण-करि करिएहै ताहि संसार दुःखकों नाश करने वाली अपाक निर्जरा कहैहैं ॥ ५७ ॥

विपाकजायामुदितस्य कर्मणो
मता परस्यामखिलस्य विच्युतिः।
यतो द्वितीयाऽत्र ततो विधानतः
सदा विधेया कुशलेन निर्जरा ॥ ५८ ॥

अर्थ—जातैं सविपाकजा निर्जरा विर्षे तौ उदयकौं प्राप्त भया जो कर्म ताकी हानि होयहै बहुरि अविपाकजाविर्षे उदय आया अर विना उदय आया ऐसा सर्वही कर्मका नाश होयहै तातैं प्रवीण पुरुष करि दूसरी जो अविपाकनिर्जरा सो तपश्चरणादिविधानतैं सदा करणी योग्यहै ॥ ५८ ॥

तपोभिरुग्रैः सति संवरे रजो
निपूयमानं सकलं पलायते।
निराश्रवं वारि विवस्वदंशुभि
र्न शोष्यमाणं सरसोऽवतिष्ठते ॥ ५९ ॥

अर्थ—आगामी कर्मनिका संवर होतसंतैं उग्र तपश्चरण करि नाश किया जो कर्म सो समस्त नाशकौं प्राप्त होयहै जैसैं नवीन

जलकै आश्रयरहित जो सरोवरका जल सो सूर्यकी किरणनि करि सोख्या भया न तिष्ठै है तैसे जानना ॥ ५९ ॥

> परेण जीवस्तपसा प्रतापितो
> विनिर्मलत्वं रभसा प्रपद्यते ।
> सुवर्णशैलस्य मलोऽवतिष्ठते
> प्रताप्यमानस्य कृशानुना कथम् ॥ ६० ॥

अर्थ—उत्कृष्ट तप करि तपाया जो जीव है सो शीघ्र निर्मलपनाकौं प्राप्त होय है जैसे अग्निकरि तपाया जो सुवर्णका पहाड ताकै मैल कैसे तिष्ठै, अपि तु नाहीं तिष्ठै है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञानादिककै औषध परिणाम मिटै तब सिद्ध पदवीं प्राप्त होय तातै सम्यग्दर्शनादि आराधना योग्य है ॥ ६०

ऐसैं निर्जरा भावना कही । आगै लोकभावनाकौं कहै हैं;—

> व्योममध्यगमकृत्रिमं स्थिरं
> लोकमंगिनिवहेन संकुलम् ।
> सप्तरज्जुघनगर्भितं जिना
> वर्णयंति पवमानवेष्टितम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिननाथ हैं ते लोककौं ऐसा वर्णन करै हैं, कैसा है लोक, अनंतानंत जो आकाश ताकै मध्य प्राप्त है, बहुरि काहूका करया भया नाहीं बहुरि जीवनिके समूहनिकरि भरया है बहुरि सात राजूका घन जो तीनसै तेतालीस राजू ता प्रमाण है बहुरि वातवलयनि करि वेष्टित है, ऐसा है ॥ ६१ ॥

> जन्ममृत्युकलितेन जंतुना
> कर्मवैरिवशवर्तिना मया ।

योन यत्र बहुशो विगाहितो
विद्यते न विषयः स कश्चन ॥ ६२ ॥

अर्थ—ता लोकविर्षे सो क्षेत्र नाहीं जो जीवनें बहुत वार नाहीं अवगाह्या कैसा है जीव जन्म मरणकरि व्यान है बहुरि कर्म वैरीके वशवर्त्ती है अर अस्तित्वरूप है।

भावार्थ—तीनसे तेतालीस राजूमें ऐसा क्षेत्र नाहीं जहां यह जीव न उपज्या अर न मरया ऐसा वैराग्यके अर्थि विचारना ॥ ६२ ॥

भूरिशोऽत्र सुखदुःखदायिनीः
भूतिजातिगतियोनिसंपदाः।
यन्त्रितो विविधकर्मशृंखलैः
का न निर्विशति चेतनश्चिरम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—नानाप्रकार कर्मरूप साकलनि करि बंध्या यहु जीव है सो वारंवार सुखदुःखकी देनेवाली विभूति जाति देवादिक गति योनि संपदा कौनसीकों प्राप्त न होयहै सर्वहीकों प्राप्त होय है।

भावार्थ—इस लोकमें या जीवकौं सुखदुःखके कारण अनेकवार प्राप्त होय हैं तिनमें हर्ष विषाद करना वृथा है, ऐसा विचारना ॥ ६३

बांधवो भवति शात्रवोऽपि वा
कोऽत्र कस्य निजकार्यवर्जितः।
बंधुरेष मम शत्रुरेष वा
शेमुषीमिति करोति मोहितः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस लोकमें कार्य करि रहित कौन किसीका भाई बंधु वा शत्रु होयहै कोई भी न होय है तातै यहु मेरा भाई है यहु मेरा वैरी है ऐसी बुद्धिकों मोही जीव करै है यहु बुद्धि मिथ्या है ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

देवमर्त्यपशुनारकेष्वयं
दुःखजालकलितेष्वनारतम् ।
कामकोपमदलोभवासितो
वर्त्तते भवविपर्ययाकुलः ॥ ६५ ॥

अर्थ—दुःखनिके समूहकरि भरे जे देव मनुष्य तिर्यंच नारकी तिन विषैं यहु काम क्रोध मद लोभ इत्यादि विभावनिकरि वासित जीव निरंतर प्रवर्ते है, कैसाहै यहु संसारविषै विपर्यय बुद्धिकरि *आकुल है, संसारमैं तो इष्टानिष्ट वस्तु नाहीं अर यहु काहूकौं इष्ट* मानै है काहूकौं अनिष्ट मानै है तातैं दुःखी है ॥ ६५ ॥

जन्मवर्त्तिनिवहो वियोज्यते
योज्यते स्वकृतकर्मभिः पुनः ।
शुष्कपत्रनिकरः परस्परं
मारुतैरिव विभीमवृत्तिभिः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आप करि किए जे कर्म तिनकरि संसारी जीवनिका समूह कहूं परस्पर वियोगरूप कीजिए है कहूं संयोगरूप कीजिएहै जैसें दुर्वेगसहित जो पवन तिनकरि पत्तानिका समूह कहूं निकट्या है कहूं बिछुराइएहै यातैं "संयोग वियोगका कारण कर्म है कोऊ परवस्तु नाहीं" ऐसा विचारना ॥ ६६ ॥

एष वेष्टयति भोगकांक्षया
कोशकार इव लालया स्वयम् ।
कर्मबीजमवया विनिंद्यया
घोरमृत्युभयदानदक्षया ॥ ६७ ॥

अर्थ—जैसैं कोशकार जो कुसेरा सो अपनी लालकरि आपकौं बांधैहै तैसैं यहु जीव भोगनिकी वांछाकरि कर्मनि आपकौं बांधै है

कैसाहै भोगनिकी वांछा कर्मबीजकरि उपजाहै, मोहोदय जनितहै स्वभावतैं नाहीं, बहुरि विशेषपनें निंद्यहै अर भयानक मृत्युके देनेंमैं प्रवीण है अनंतवार मरण करावैहै ऐसी है ॥ ६७ ॥

चेतसीति सततं वितन्वतो
लोकरूपमुपजायते परा।
राक्षसीत इव संसृतेः स्फुटं
धर्मकर्मजननी विरक्तता ॥ ६८ ॥

अर्थ—या प्रकार जो लोकका स्वरूप चित्तविषैं विचारै है तातैं धर्म कर्मकी उपजावनेवाली संसारतैं परम उदासीनता प्रगट उपजै है जैसैं राक्षसीतैं भय उपजै तैसैं ससारतैं भय उपजै है ॥ ६८ ॥

या प्रकार लोकभावना कही। आगैं बोधिदुर्लभभावनाकों कहैहैं;—

देशजातिकुलरूपकल्पता
जीवितव्यबलवीर्यसंपदः।
देशनाग्रहणबुद्धिधारणाः
संति देहिनिवहस्य दुर्लभाः ॥ ६९ ॥

अर्थ—मुक्ति होने योग्य भरतादिक्षेत्र अर क्षत्रियादिजाति अर कुल बहुरि सुंदररूप अर नीरोगता बहुरि दीर्घ आयु अर शरीरसंबंधी बल अर आत्मासंबंधी वीर्य अर संपदा अर जिनवानीका उपदेश अर ताके जाननेकी बुद्धि बहुरि जानकरि ताकी धारणा सगनी यह सब जीवनिके समूहकों पावना दुर्लभहै बडे भाग्यके उदयतैं मिलैहै ॥६९॥

हंत ! तासु गुणदानकोविदा
ज्ञानदर्शनचरित्रसंगतिः।
लभ्यते मनुमताऽतिदुर्लभः
कामिनीष्विव कृतज्ञता सती ॥ ७० ॥

अर्थ—आचार्य खेदकारि कहैहैं—अहो तिन पूर्वोक्त सामग्रीनिविर्षै भी सुरदेवनिमैं प्रर्वाण ऐसी जो ज्ञानदर्शन चारित्रकी संगति सो जीवकरि कष्टतैं पाइएहै जैसैं स्त्रीनिविर्षै सुंदर कृतज्ञता कष्टतैं पाइए तैसैं पूर्वोक्त सामग्रीनिमैं बोध पावना दुर्लभहै ॥ ७० ॥

साधुलोकमहिता प्रमादतो
बोधिरत्र यदि जातु नश्यति ।
प्राप्यते न भविना तदा पुन
र्नीरधाविव मनोरमो मणिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस लोकमैं साधु पुरुषनिकरि पूजित ऐसी सम्यक्तादिककी प्राप्तिरूप जो बोधि सो कदाचित् प्रमादतैं नसिजाय तौ फेरि जीवनि करि न पाइए है जैसैं समुद्रविर्षै पड्या सुंदर मणि न पाइए तैसैं बोधि पावना दुर्लभहै ॥ ७१ ॥

हंत ! बोधिमपहाय शर्मणे
योऽधमो वितनुते धनार्जनम् ।
जीविताय विषवल्लरीं स्फुटं
सेवतेऽमृतलतामपास्य सः ॥ ७२ ॥

अर्थ—अहो बडे खेदकी बातहैः जो अधम पुरुष सम्यक्तादिककी प्राप्तिरूप बोधिकौं छोडकरि सुखके अर्थि धन उपार्जन करैहै सो जीवनैके अर्थि अमृतबेल्यकौं छोडकै प्रगटपनें विषबेलिकौं सेवैहै ॥ ७२ ॥

योऽत्र धर्ममुपलभ्य मुंचते
क्लेशमेष लभतेऽतिदारुणम् ।
यो निधानमनघं व्यपोहते
खिद्यते स नितरां किमद्भुतम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मकौं पापकरि छोडैहै सो यहु अति भयानक क्लेशकौं पावैहै जैसैं जो निर्मल भंडारकौं छोडै सो अनंत खेद खिन्न होयही होय, यामैं कहा आश्चर्यहै ॥ ७३ ॥

मुंचता जननमृत्युयातनां
गृह्णता च शिवतातिमुत्तमाम् ।
शाश्वतीं मतिमता विधीयते
बोधिरद्रिपतिचूलिका स्थिरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो जीव जन्म मरणकी तीव्र वेदनाकौं त्यागताहै बहुरि शाश्वती कल्याणकी संततिकौं ग्रहण करता है ता बुद्धिमान पुरुषकरि दर्शनादिककी प्राप्तिरूप जो बोधि सो सुमेरुकी चूलिकासमान स्थिर कीजिए है।

भावार्थ—जो जीव दुःखकौं त्यागि सुखी भया चाहै सो सम्यग्दर्शनादिककौं दृढ करौ यहु तात्पर्य है ॥ ७४ ॥

ऐसैं बोधिभावना कही। आगैं धर्म भावनाका वर्णन करैहैं;—

निरुपममनिवद्यशर्ममूलं
हितमखिलजिनमन्यमर्वदोषम् ।
भजति जिननिवेदितं स धर्मं
भवति जनः सुखभाजनं सदा यः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनभाषित धर्मकौं सेवैहै सो सदा सुखका भाजन होय है, कैसा? जिनभाषित धर्म उपमारहित अर पापरहित सुखका मूल है बहुरि हितस्वरूप है अर गणधरादि पूजित है अर नष्ट भये हैं सर्वदोष जाके ऐसा है ॥ ७५ ॥

व्यसनयति सदा दुर्गदुःखं
त्रिजगति सुखिपदं निगमयं यः ।

भवति कृतधिया त्रिधा विधेयः
सकलसमीहितसाधनः स धर्मः ॥ ७६ ॥

अर्थ—पूर्ण है बुद्धि जाकी ऐसे पुरुष करि सो धर्म मन वचन कायकरि करणा योग्य है, कैसाहै धर्म सकल वांछित वस्तुका साधन है जातैं समस्त इष्ट पदार्थ मिलै हैं, बहुरि जो धर्म-दूरहै अंतजाका ऐसा है दुःख जामैं ऐसा जो संसार ताहि दूर करैहै, अर निर्दोष मुक्तिपदकौं देय है ॥ ७६ ॥

मनुजभवमवाप्य यो न धर्मं
विषयसुखाकुलितः करोति पथ्यम्।
मणिकनकनगं समेत्य मन्ये
पिपतिषति स्फुटमेष जीवितार्थी ॥ ७७ ॥

अर्थ—मनुष्य जन्मकौं पायकै विषयनिके सुखनि विषैं आकुलित जो पुरुष हितरूप धर्मकौं न करै है सो मैं ऐसा मानूं हूं कि यहु रत्न सुवर्णके पर्वतकौं प्राप्त होय करि प्रगटपने जीवनेका अर्थी पडनेकौं इच्छै है, मनुष्यभव पायकरि तौ धर्म करनाही योग्य है ॥ ७७ ॥

कलुषयति कुधीर्निरस्तधर्मो
भवशतमेकभवस्य कारणं यः।
अभिलषितफलानि दातुमीशं
त्यजति तृणार्थितया स कल्पवृक्षम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो त्यागाहै धर्म जानैं ऐसा कुबुद्धी पुरुष एक भवके अर्थ अनेक भव बिगाडैहै सो फलनिके देवे समर्थ जो कल्पवृक्ष ताहि त्यागैहै अर तृणके अर्थि अभिलाषा करै है।

भावार्थ—जो एक भव संबंधी किंचित् भिन्न सुखकै अर्थ धन छोडैहै सो अनेकप्रकार निगोदादि पर्यायनिमें भ्रमैहै तातैं अनेक भव बिगाड़ना करैहै, ऐसा जानना ॥ ७८ ॥

शमयमनियमव्रताभिरामं
चरति न यो जिनधर्ममस्तदोषम् ।
भवमरणनिपीडितो दुरात्मा
भ्रमति चिरं भवकानने स भीमे ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूर किये है हिंसादि दोष जानैं ऐसा जो जिन-धर्म ताहि नाहीं आचरण करैहै सो जन्म मरण करि दुःखित दुरात्मा बहुत काल ताईं भयानक संसारवन विषैं भ्रमैहै, कैसाहै जिनधर्म कषायके अभावरूप शमभाव अर यावज्जीव त्यागरूप यम अर कालकी मर्यादारूप नियम अर अहिंसादि व्रत इनकरि सुंदर है युक्त है ॥ ७९

विगलितकलिलेन येन युक्तो
भवति नरो भुवनस्य पूजनीयः ।
शुचिवचनमनःशरीरवृत्त्या
भजति बुधो न कथं तमत्र धर्मम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जो पापरहित धर्म करि युक्त मनुष्य है सो लोककैं पूज-नीक होयहै ता धर्मकौं इसलोकमैं पवित्र मन वचनकायकी परणति करि कौन पंडित जन न सेवैहै, सेवैहीहै ॥ ८० ॥

क्षांतिर्मार्दवमार्जवं निगदितं सत्यं शुचित्वं तप-
स्त्यागोऽकिंचनता मुमुक्षुपतिभिर्ब्रह्मव्रतं संयमः ।
धर्मस्येति जिनोदितस्य दशधा निर्दूषणं लक्षणं
कुर्वाणो भवयंत्रणाविरहितो मुक्त्यंगनां श्लिष्यति ॥८१॥

अर्थ—क्रोधकषायके अभावरूप क्षमा अर मानके अभावरूप मार्दव अर मायाके अभावरूप आर्जव अर सत्यवचन अर लोभके अभावरूप शुचिपना अर अनशनादि तप अर शक्तिसारू त्याग अर निष्परिग्रहता अर ब्रह्मचर्य अर संयम ऐसें दशप्रकार लक्षण जिनधर्मका मुनीश्वरनि करि कह्या ताहि जो आचरण करैहै सो संसारबंधनकरि रहित भया संता मुक्तिस्त्री कौं आलिंगैहै ॥ ८१ ॥

ऐसें धर्मानुप्रेक्षा कही । आगे अधिकारकौं संकोचैहैं;—

योऽनुप्रेक्षा द्वादशापीति नित्यं
भव्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशीलः ।
हेयादेयाशेषतत्त्वावबोधी
सिद्धिं सद्यो याति स ध्वस्तकर्मा ॥ ८२ ॥

अर्थ—या प्रकार जो पुरुष द्वादशी अनुप्रेक्षानिकौं ध्यान रूपहै स्वभाव जाका ऐसा भव्य भक्ति करि नित्यही ध्यावैहै विचारैहै सो हेय उपादेय तत्त्वका जाननेवाला शीघ्रही मुक्तिपदकौं प्राप्त होयहै कैसाहै सो नाश कियेहैं कर्म जानें ऐसाहै ।

भावार्थ—जो द्वादश अनुप्रेक्षा भावैहै सो मुक्तिकौं प्राप्त होयहै, ऐसा भावनाका फल दिखायाहै ॥ ८२ ॥

सूचिततत्त्वं ध्वस्तकुतत्त्वं
भवभयविदलनदक्षयमकथनम् ।
यो हृदि धत्ते पापनिवृत्ते
शुचिरुचिरुचिरं जिनपतिवचनम् ॥ ८३ ॥
केवललोकालोकितलोको-
मितगतियतिपतिसुरपतिमहितम् ।

यानि म सिद्धि पावनशुद्धि
मकलितकलिमलगुणमणिमहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनराजके वचनको पापरहित हृदयविषैं धारै है सो पुरुष मोक्षकौं प्राप्त होयहै, कैसाहै जिनराजका वचन सूचित किया है (बताया है) वस्तुका स्वरूप जानैं बहुरि नाश किया है अन्यथा वस्तुका स्वरूप जानैं (वस्तु तौ जैसा अनेकांतस्वरूप है तैसाही है परतु अन्यथा माननेरूप मिथ्या अभिप्रायका जानैं नाश किया है ऐसा है) बहुरि ससार भयका नाश करनेवाला है इंद्रियनिका दमन अर संयमका कथन जाविषैं बहुरि पवित्र रुचिकरि सुंदर है रुचिकारी है, बहुरि कैसाहै सो जिनवचनकौं हृदयमैं धारनेवाला पुरुष केवलज्ञान दर्शनरूपी प्रकाशकरि देख्याहै लोक जानैं,

भावार्थ—जिनवचनके अभ्यासतैं केवली होय है, कैसाहै मुक्ति अनंतहै महिमा जिनकी ऐसें जे गणधरादिक अर देवनिके इंद्र तिनकरि पूजितहै बहुरि रागादि दोषरहित अत्यंत पवित्र है बहुरि खंडित कियेहैं पापरूप मैल जिननैं ऐसे सम्यक्त्वादिगुणरत्ननिकरि पूजित है युक्तहै, ऐसा जानना ॥ ८३-८४ ॥

सवैया इकतीसा।

जग है अनित्य तामैं सरन न वस्तु कोय,
तातैं दुखरासि भववासकौं निहारिए।
एक चित्त चिन्ह सदा भिन्न परद्रव्यनितैं
अशुचि शरीरमैं न आपाबुद्धि धारिए॥
रागादिक भाव करैं कर्मको बढाव तातैं
संवरस्वरूप होय कर्मबंध डारिए।

तीन लोक मांहि जिनधर्म एक दुर्लभ है
तातैं जिनधर्मकौं न छिनहू विसारिए ॥

दोहा।

ऐसैं द्वादश भावना भाषी अमितगतीस।
जो भावै सो सुरलहै कर्ममहागिरि पीस ॥

इत्युपासकाचारे चतुर्दशः परिच्छेदः।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषैं
चतुर्दशमां परिच्छेद समाप्त भया।

अथ पञ्चदशः परिच्छेदः ।



नियम्य करणग्रामं व्रतशीलगुणादृतैः ।
सर्वो विधीयते भव्यैर्विधिरेष विमुक्तये ॥ १ ॥

न सा संपद्यते जंतोः सर्वकर्मक्षयं विना ।
रजोपहारिणी वृष्टिर्वलाहकमिवोज्झिता ॥ २ ॥

समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते ।
न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्वरं तमः ॥ ३ ॥

यत्नः कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मभ्यो मोक्षकांक्षिभिः ।
रोगेभ्यो दुःखकारिभ्यो व्याधितैरिव भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ—व्रत अर शील अर गुणनिमें कियाहै आदर जिननें ऐसे भव्य जीवनिकरि इंद्रियनिके समूहको रोकि करि यह सर्व पूर्वोक्त व्रतादि आचरण मुक्तिके अर्थि कीजिएहै ॥ १ ॥

सो मुक्ति सर्व कर्मनिके क्षयविना जीवकै न होयहै जैसें मेघविना रजकी उपशमावनेवाली वृष्टि न होय तैसें ॥ २ ॥

बहुरि समस्त कर्मका नाश ध्यानही करि करिएहै जैसे सूर्य विना और करि रात्रिसंबंधी अंधकार न निवारिए तैसें ॥ ३ ॥

तातैं कर्मनतैं मोक्षके वांछक जे पंडितजन तिनकरि ध्यानविषै यत्न करणा योग्यहै जैसें रोगनतैं छूटनेके वांछक जे रोगी तिनिकरि औषधका यत्न करणा योग्यहै तैसें ॥ ४ ॥

आगैं ध्यानका सामान्य लक्षण कहैहैं;—

आद्यत्रिसंहतैः साधांतर्मौहूर्तिकं परम्।
वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—आदिके वज्रवृषभनाराच वज्र नाराच अर्द्ध नाराच ये तीन संहनन जिनकै पाइए ऐसे जे ध्यानके साधनेवाले पुरुष तिनि करि एक वस्तुविषै उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त्त मनकी थिरता कीजिए सो ध्यान कहिए है ॥ ५ ॥

तदन्येषां यथाशक्ति मनोरोधविधायिनाम्।
एकद्वित्रिचतुः पंच षडादिक्षणगोचरम् ॥ ६ ॥

अर्थ—बहुरि सो ध्यान, मनके रोकनेवालेनिविषै, यथाशक्ति एक दोय तीन च्यार-पांच छह आदि समयनिकै गोचर है।

भावार्थ—उत्कृष्ट ध्यान उत्तम संहननवालेकै अंतर्मुहूर्त्तकाल और-निकै यथाशक्ति एक आदि समयकी ध्यान होयहै, ऐसा जानना ॥ ६ ॥

साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम्।
विबोद्धव्यं विधानेन बुधैः सिद्धिं विवित्सुभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—मोक्षके जानने वा प्राप्त होनेके वांछक जे पंडित जन तिनकरि साधन करनेवाला साधक, अर जाकरि साधिए सो साधन, बहुरि साधने योग्य होय सो साध्य, अर साधनका फल यह च्यार यान विधान सहित जानना योग्य है ॥ ७ ॥

सो ही कहे हैं;—

संसारी साधको भव्यः साधनं ध्यानमुज्वलम्।
निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं सौख्यमनश्वरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—संसारी भव्य जीव तो साधनेवाला साधक है, बहुरि निर्मल ध्यान है सो साधन है, बहुरि मोक्ष साधने योग्य साध्य है बहुरि अवि-नाशी सुख है सो ध्यानका फल है ऐसा जानना ॥ ८ ॥

आगे ध्यानके भेद कहै हैं;—

आर्त्तं रौद्रं मतं धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
ध्यानं ध्यानवतां मान्यैर्भवनिर्वाणकारणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—ध्यानवान जे मुनीश्वर तिनि करि मानने योग्यजे गणधरादिक तिनि करि आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ऐसें च्यार प्रकार का ध्यान संसारका अर निर्वाणका कारण कह्या है ॥ ९ ॥

संसारकारणं पूर्वं परं निर्वृतिकारणम् ।
इत्याद्यं द्वितयं त्याज्यमादेयमपरं बुधैः ॥ १० ॥

अर्थ—पहले आर्त रौद्र तौ संसारके कारण हैं बहुरि पर जे धर्म शुक्ल ते मोक्षके कारण हैं इस हेतुतैं पंडितनिकरि आदिके आर्त, रौद्र दोनौं त्यागने योग्य हैं बहुरि और जे धर्म शुक्ल ते ग्रहण करणा योग्यहैं ॥ १० ॥

तहां प्रथम ही आर्त्तध्यानके भेद कहैहैं;—

प्रिययोगाऽप्रियायोगपीडालक्ष्मीविचिंतनम् ।
आर्त्तं चतुर्विधं ज्ञेयं तिर्यग्गतिनिबंधनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इष्ट वस्तुका वियोग अर अनिष्ट वस्तुका संयोग अर रोगादिककी पीडा अर लक्ष्मीकी अभिलाषारूप जो विचार सो च्यार प्रकार आर्तध्यान तिर्यंचगतिका कारण जानना ॥ ११ ॥

आगैं रौद्रध्यानका स्वरूप कहैहैं;—

रौद्रं हिंसानृतस्तेयभोगरक्षणचिंतनम् ।
ज्ञेयं चतुर्विधं शक्तं श्वभ्रभूमिप्रवेशने ॥ १२ ॥

अर्थ—हिंसा अर झूंठ अर चोरी अर विषयनिकी रक्षा इनिविषैं हर्षरूप जो चिंतवन सो च्यार रौद्रध्यान नरकभूमिविषैं प्रवेश करावने विषैं समर्थ जानना योग्य है ॥ १२ ॥

आगैं धर्मध्यानके भेद कहैहैं;—

आज्ञापायविपाकानां चिंतनं लोकसंस्थितेः।
चतुर्धाऽभिहितं धर्म्यं निमित्तं नाकशर्मणः ॥ १३ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ वीतरागकी आज्ञा अर संसार दुःखका नाश अर कर्मनिका उदय इनका विचारना अर लोकके आकारका विचारना ऐसें च्यार प्रकार धर्मध्यान स्वर्गसुखका कारण कह्या है ॥ १३ ॥

आगें शुक्लध्यानके भेदनिकौं कहैं हैं;—

शुक्लं पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं मतम्।
जिनैरेकत्ववितर्कावीचारं च द्वितीयकम् ॥ १४ ॥
अन्त्यं सूक्ष्मक्रियं तुर्यं समुच्छिन्नक्रियं मतम्।
इत्थं चतुर्विधं शुक्लं सिद्धिसौधप्रवेशकम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनदेवनि करि पृथक्त्ववितर्कवीचार पहला शुक्लध्यान कह्या है पृथक्त्व कहिये भिन्न भिन्नपने करि वितर्क जो श्रुत ताका वीचार कहिए अर्थ शब्द अर योगका पलटना ताकौं पृथक्त्ववितर्क वीचार कहिये, बहुरि एक पनाकरि श्रुतका जामें चितवन होय पलटन न होय सो एकत्ववितर्कावीचार कह्याहै, बहुरि योगनिकी क्रिया जामें सूक्ष्म होय सो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीहै, बहुरि नष्ट भईहै योगनिकी क्रिया जामें सो समुच्छिन्नक्रियहै, ऐसें च्यार प्रकार शुक्लध्यान मुक्तिमहलके प्रवेश करावनेवाला कह्या है ॥ १५ ॥

आगें ध्यानके स्वामी कहैंहैं;—

आर्त्तं तन्मतां ध्यानं प्रमत्तांतगुणाश्रितम्।
संयतासंयतांतानां रौद्रं ध्यानं प्रवर्त्तते ॥ १६ ॥

अर्थ—जीवनिके आर्तध्यानहै सो छठा प्रमत्त गुणस्थान पर्यंत तिष्ठैहै अर संयतासंयत जो पंचम गुणस्थान तहां ताईं रौद्रध्यान प्रवर्तैहै ॥ १६ ॥

अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशभेदतः।
चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्त्तकः॥ १७॥

अर्थ—आज्ञादिक दशप्रकार धर्म जो स्वभाव ताकरि युक्त जो धर्मध्यान ताका प्रवर्त्तावने वाला ध्यावनेवाला चतुर्थ पंचम षष्ठ सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव जानना।

भावार्थ—यद्यपि चतुर्थादि गुणस्थाननिमैं परिणामनिकी निर्मलता या वस्तुविचारमैं लीनता अधिक अधिकहै तथापि सामान्यपनैं सर्व धर्मध्यानही कह्याहै॥ १७॥

समर्थं निर्मलीकर्त्तुं शुक्लं रत्नशिखास्थिरम्।
अपूर्वकरणादीनां मुमुक्षूणां प्रवर्त्तते॥ १८॥

अर्थ—निर्मल करनेकौं समर्थ ऐसा जो शुक्लध्यानहै सो अपूर्वकरण आदि सात गुणस्थानवाले मोक्षके वांछक जे आत्मा तिनकै प्रवर्त्तैहै, कैसाहै शुक्लध्यान रत्नकी शिखासमान स्थिरहै, जैसें रत्नकी शिखा पवनादिकतैं न चलै तैसैं शुक्लध्यान रागादिकतैं न चलैहै॥ १८॥

अह्नायोद्धूयते सर्वं कर्म ध्यानेन संचितम्।
वृद्धं समीरणेनेव वलाहककदंबकम्॥ १९॥

अर्थ—संचय किया जो सर्व कर्महै सो ध्यानकरि शीघ्र उडाइएहै जैसें वृद्धिकौं प्राप्त भया बादलानिका समूह सो पवनकरि उडाइएहै तैसैं॥ १९॥

ध्यानद्वयेन पूर्वेण जन्यंते कर्मपर्वताः।
वज्रेणेव विभिद्यंते परेण सहसा पुनः॥ २०॥

अर्थ—पहले दोय ध्यान जे आर्त रौद्र तिनिकरि कर्मरूपी पर्वत उपजाइएहै, बहुरि पीछले जे दोय धर्मध्यान शुक्लध्यान तिनिकरि कर्म-पर्वत शीघ्रही भेदिएहै।

भावार्थ—आर्तरौद्रतैं कर्म बंधैहै अर धर्म शुक्लनितैं कर्मनिका नाश होयहै, ऐसा जानना ॥ २० ॥

यो ध्यानेन विना मूढः कर्मच्छेदं चिकीर्षति ।
कुलिशेन विना शैलं स्फुटमेष विभित्सति ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मूढ ध्यान विना कर्मनिका नाश करनेकौं इच्छैहै सो प्रगट यह वज्रविना पर्वतके छेदनेकौं इच्छैहै ॥ २१ ॥

ध्यानेन निर्मलेनाऽऽशु हन्यते कर्मसंचयः ।
हुताशनकणेनापि स्तुप्यते किं न काननम् ॥ २२ ॥

अर्थ—निर्मल ध्यान करि शीघ्र कर्मनिको समूह नाश कीजिएहै जैसैं अग्निके कण करि भी कहा वन न जलाइए है, जलाइएही है ॥ २२ ॥

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम् ।
विधेयानि प्रसिद्ध्यंति सामग्रीतो विना न हि ॥ २३ ॥

अर्थ—ध्यान करनेकौं इच्छता जो पुरुष ताकरि ध्याता कहिये ध्यानका करनेवाला अर ध्येय कहिये ध्यावने योग्य वस्तु विधि कहिए ध्यानका विधान अर ध्यानका फल ये जानने योग्य है, जे सामग्री बिना सिद्ध होय नाहीं, ध्याता आदिका स्वरूप जानै तौ ध्यानकी सिद्धि होय ॥ २३ ॥

आगैं ध्याताका स्वरूप कहै हैं;—

निसर्गमार्दवोपेतो निष्कषायो जितेंद्रियः ।
निर्ममो निरहंकारः पराजितपरीषहः ॥ २४ ॥
हेयोपादेयतत्वज्ञो लोकाचारपराङ्मुखः ।
विरक्तः कामभोगेषु भवभ्रमणभीतुकः ॥ २५ ॥

लाभेऽलाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये।
मानापमानयोस्तुल्यो मृत्युजीवितयोरपि ॥ २६ ॥

निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासनः।
सर्वत्रनकृताभ्यासः संतुष्टो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥

सम्यक्त्वालंकृतः शांतो रम्यारम्यनिरुत्सुकः।
निर्भयो भाक्तिकः श्राद्धो वीरो वैरंगिकोऽशठः ॥ २८ ॥

निर्निदानो निरापक्षो विमंक्षुर्देहपंजरम्।
भव्यः प्रशस्यते ध्याता धियामुः पदमव्ययम् ॥ २९ ॥

अर्थ—स्वभाव करि ही कोमल परिणाम करि युक्त होय, कषायरहित होय (तीव्रकषायी न होय) अर जीते हैं इंद्रिय जानैं ऐसा होय बहुरि परद्रव्यनिमैं ममकाररहित होय, अहंकार रहित होय (पर द्रव्य मेरेहैं ऐसी बुद्धि सो तो ममकार कहिये, परहैं सो मैं हूं ऐसी बुद्धिकैं अहंकार कहिए इन करि रहित होय) अर जीते हैं क्षुधादि परीषह जानैं ऐसा होय ॥ २४ ॥

अर त्यागने योग्य अर ग्रहण करणे योग्य जे तत्व तिनका ज्ञाता होय अर लौकिक आचारतैं अरूठो होय, अर काम भोगनि विषैं विरक्त होय, अर संसारभ्रमणतैं भयभीत होय ॥ २५ ॥

लाभ अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, प्रिय वस्तु अप्रियवस्तु, मान अपमान, अर मरण जीवन विषैं भी समान होय।

भावार्थ—सर्वकौं ज्ञेयपना करि समान जानि इष्टानिष्टबुद्धि नाहीं करै ॥ २६ ॥

निरालसी होय, उद्वेगरहित होय, जीतीहै इंद्रियो जानैं, अर जीत्या है आसन जानैं, आसन बांधनेमैं हले चले नाहीं, अर सर्व अहिंसादि

मनानिका धरणा है अभ्यास जानें, अर संतोष सहित प्रसन्नचित्त होय, अर परिग्रहरहित होय ॥ २७ ॥

अर सम्यग्दर्शनकरि शोभित होय, शांतपरिणामी होय, अर सुंदर चित्तकों रमावनेवाली वस्तु तिनमें उत्साहरहित होय, निर्भय होय, देव गुरु धर्म विषै भक्त होय, कर्म वैरीके जीतनेकों सुभट होय, वैरागी होय, पंडित होय ॥ २८ ॥

निदान रहित होय, काहूकी अपेक्षा लिये न होय, देहरूपी पींजरेके भेदनेका इच्छुक होय, भव्य होय ऐसा अविनाशी स्थानके जानेका इच्छुक ध्याता सराहिये है ॥ २९ ॥

ऐसैं ध्याताका स्वरूप कह्या। आगैं ध्येयकों कहैहैं;—

ध्येयं पदस्थपिंडस्थरूपस्थारूपभेदतः ।
ध्यानस्यालंबनं प्राज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यानका आलंबन कहिए जाकों ध्यानविषैं चिंतिए ऐसा ध्येय, पदस्थ १ पिंडस्थ २ रूपस्थ ३ अरूप ४ इन भेदनिकरि बुद्धिमाननिनैं च्यार प्रकार कह्या है ॥ ३० ॥

तहां प्रथमही पदस्थका स्वरूप कहैहैं;—

यानि पंचनमस्कारपदादीनि मनीषिणा ।
पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्वतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जे पंचनमस्कारपद आदि अक्षरनिके समूहरूप पदहैं ते पदस्थ ध्यावनेका वाछक जो बुद्धिमान पुरुष ताकरि निश्चयतैं ध्यावने योग्य हैं।

भावार्थ—पदस्थमैं पंचनमस्कारमंत्र आदि पद ध्यावना ॥ ३१ ॥

आगैं मंत्रनिका विधान कहैहैं;—

मरुत्समग्निमो वर्णो मूर्तांतः शशिशेखरः ।
आधलघ्वादिको ज्ञात्वा ध्यातुः पापं निषूदने ॥ ३२ ॥
स्थितो ऽ सि आ उ सा मंत्रश्चतुष्पत्रे कुशेशये ।
ध्यायमानः प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम् ॥ ३३ ॥
तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम् ।
गुरुप्रसादतो बुद्ध्वा चिंतनीयं कुशेशयम् ॥ ३४ ॥
असुयदित्यमी वर्णाः स्थिताः पद्मे चतुर्दले ।
विश्राणयंति पंचापि सम्यग्ज्ञानानि चिंतिताः ॥ ३५ ॥
स्थितपंचनमस्काररत्नत्रयपदैर्दलैः ।
अष्टभिः कलिते पद्मे स्वरकेसरराजिते ॥ ३६ ॥
स्थितोऽर्हं मित्ययं मंत्रो ध्यायमानो विधानतः ।
ददाति चिंतितां लक्ष्मीं कल्पवृक्ष इवोर्जिताम् ॥ ३७ ॥
हसतीं कारस्तोमः सोऽहं मध्यस्थितो विगतमूर्द्धा ।
पार्श्वप्रणवचतुष्को ध्येयो द्विप्रांतकृतमायः ॥ ३८ ॥

यंत्रः

ह्रीं	ॐ	ह्रीं	ॐ	ह्रीं
सः				हः
ॐ				ॐ

सहस्रा द्वादश प्रोक्ता जपहोमविचक्षणैः ।
ॐ जोगेत्यादिमंत्रस्य तद्भागो दशमः पुनः ॥ ३९ ॥

ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपार्श्वे
ाहा । अथ मंत्रः, जाप्यं द्वादशसहस्रं १२०००, होमः द्वादशशतं
२०० ।

पत्रस्योपरि जापेन जातीपुष्पैर्मनोरमैः ।
विधा सूचयते सम्यक् स्वप्ने सर्वं शुभाशुभम् ॥ ४० ॥
ॐ ह्रीँकारद्वयांतस्थो हंकारो रेफभूषितः ।
ध्यातव्योऽष्टदले पद्मे कल्मषक्षपणक्षमः ॥ ४१ ॥
सप्ताक्षरं महामंत्रं ॐ ह्रीँकारपदान्वितम् ।
विदिग्दलगतं तत्र स्वाहांतं विनिवेशयेत् ॥ ४२ ॥
[1]दिशि स्वाहांतमों ह्रीँ हूँ नमो ह्रीँ हूँ पदोत्तमम् ।
तत्र स्वाहांतमों ह्रीँ हूँ कर्णिकायां विनिक्षिपेत् ॥४३॥
तत्पद्मं त्रिगुणीभूत मायाबीजेन वेष्टयेत् ।
विधितयेच्छ्रुचीभूतः स्वेष्टकृत्यमसिद्धये ॥ ४४ ॥
पत्रस्योपरि यत्नेन देवोपाद्यलब्धये ।
मंत्रेणानेन कर्तव्यो जपः पूर्वविधानतः ॥ ४५ ॥

ॐ ह्रीँ हूँ नमो ह्रैं णमो अरहंताणं ह्रीँ नमः इति मूलमंत्रः ।
जाप्य १०००० होमः १००० ।

सव्येनाप्रतिचक्रेण कदिति प्रत्येकमक्षरम् ।
कोणपट्के विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यतः ॥ ४६ ॥
निविश्य विधिना दक्षो मध्ये तस्य निवेशयेत् ।
भूतांतं बिंदुसंयुक्तं चिंतयेच विशुद्धधीः ॥ ४७ ॥
विधाय कलयं बाह्ये तस्य मध्ये विधानतः ।
णमो जिणाणमित्याद्यैः पूरयेत्पदादिकैः ॥ ४८ ॥

१ अ इ द ब ब ३ १ १ इमौ श्लोकौ क ग घ पुस्तकेषु इत्थं स्तः—
दिशि स्वाहांतमों ह्रीँ ह्रौ नमो ह्रीँ हूँ पदोत्तमम् ।
तत्र स्वाहांतमों ह्रीँ हूँ कर्णिकायां विनिक्षिपेत् ॥

ॐ णमो जिणाणं १ ॐ णमो परमोहि जिणाणं २ ॐ णमो सव्वोहि जिणाणं ३ ॐ णमो अणंतोहि जिणाणं ४ ॐ णमो कोट्ठबुद्धीणं ५ ॐ णमो बीजबुद्धीणं ६ ॐ णमो पादानुसारिणं ७ ॐ णमो संभिण्णसोदराणं ८ ॐ णमो उज्जुमदीणं, ९ ॐ णमो विउलमदीणं १०ॐ णमो दसपुव्वीण ११ ॐ णमो चौदसपुव्वीणं १२ ॐ णमो अट्ठंगणिमित्तकुसलाणं १३ ॐ णमो विगुव्वणइड्ढिपत्ताणं १४ ॐ णमो विज्जाहराणं १५ ॐ णमो चारणाणं १६ ॐ णमो पण्णसमणाणं १७ ॐ णमो आगासगामीणं १८ ॐ ह्रौं ह्रीं श्रीं ह्रीं धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी स्वाहा इति पदैर्वलयं पूरयेत्। एवं पंचनमस्कारेण पंचांगुलीन्यस्तेन सकली क्रियते; ॐ णमो अरहंताणं ह्रौं स्वाहा अंगुष्ठे, ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा तर्जन्यां, ॐ णमो आयरियाणं ह्रूं स्वाहा मध्यमायां, ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा अनामिकायां, ॐ णमो लोए सव्वसाहूण कनिष्टकायां, एवं वारत्रयमंगुलीषु विन्यस्य मस्तकस्योपरि पूर्वदक्षिणापरोत्तरेषु विन्यस्य जपं कुर्यात्।

इहा ताईं यहु मंत्रविधान वा यंत्ररचना वा क्रियाविशेष आदि वर्णन किया, सो याका अर्थ हमकौं यथार्थ सर्व प्रतिभास्या नाहीं तातैं न लिख्याहै, विशेषबुद्धि जिनकौं मंत्रशास्त्रका ज्ञान होय ते यथार्थ समझ लीज्यो।

> अभिधेया नमस्कारपदैर्ये परमेष्ठिनः।
> पदस्थास्ते विधीयंते शब्देऽर्थस्य व्यवस्थितेः॥ ४९॥

अर्थ—जे अर्हंतादि परमेष्ठी नमस्कारपदनिकरि कहनेयोग्यहैं ते पदस्थ कहिएहै, जातैं शब्दविषैं पदार्थकी व्यवस्थितिहै।

कहिए, बहुरि कसाहैं पिंडस्थ ध्यान औदारिकादि पंच शरीरनिका नाश करनेवालाहै, सिद्धपदकों देने वालाहै ॥ ५३ ॥

आगें रूपस्थ ध्यानकों कहैहैं;—

> प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः ।
> ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्थं ध्यानमिष्यते ॥ ५४ ॥

अर्थ—परमेष्ठीका स्वरूप प्रतिमाविषैं भले प्रकार आरोपण करकैं ध्यानकरता शुद्ध है चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताकैं रूपस्थ ध्यान कहिए है ॥ ५४ ॥

आगें अरूपस्थ ध्यानकौं कहैहैं;—

> सिद्धरूपं विमोक्षाय निरस्ताशेषकल्मषम् ।
> जिनरूप मिवध्येयं स्फटिकप्रति बिंबितम् ॥ ५५ ॥

> अरूपं ध्यायति ध्याने परं संवेदनात्मकम् ।
> सिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनसः ॥ ५६ ॥

अर्थ—दूर भये हैं समस्त कर्म जाके ऐसा सिद्धभगवानका स्वरूप जैसा स्फटिकविषैं प्रतिबिंबित जिनराजका स्वरूप,

भावार्थ—स्फटिकमणि जैसा निर्मल होय तैसा ध्यावना; वर्ण गंध रस स्पर्शरहित ऐसा अमूर्तीक अर सर्वकर्मरहित ऐसा जो सिद्धभगवानका स्वरूप ताकी प्राप्तिके अर्थि केवलज्ञानस्वरूप अरूप ध्यानी ध्यावै है ॥ ५५ ५६ ॥

आगें परमात्माका ध्यान कैसे करना, सो कहैहैं;—

> बहिरंतः परश्चेति त्रेधात्मा परिकीर्तितः ।
> प्रथमं द्वितीयं हित्वा परात्मानं विचिंतयेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा ऐसे आत्मा तीन प्रकार कह्या है, तहां बहिरात्मा अर अंतरात्माकौं छोडकै परमात्माका चिंतवन करै ॥ ५७ ॥

बहिरात्मात्मविभ्रांतिः शरीरे मुग्धचेतसः ।
या चेतस्यात्मविभ्रांतिः सोऽन्तरात्मा विधीयते ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो मूढपुरुषके शरीरविषैं आत्माकी भ्रांति है शरीरमैं आपौ मानैहै सो बहिरात्मा है, बहुरि चैतन्यके विकार जे रागादिक तिनविषैं आपौ मानैहै सो अंतरात्मा कहिए है ॥

इहां प्रश्न—जो और ग्रंथनिमैं तौ मिथ्यादृष्टीकौं बहिरात्मा कह्या है अर सम्यग्दृष्टीकौं अंतरात्मा कह्याहै इहां ऐसा कैसैं कह्या ।

ताका उत्तर—देहमैं आपा मानना सो बहिरात्मा अर रागादिकमैं आपा मानना सो अंतरात्मा ऐसैं इहां तौ दोऊ त्यागनेयोग्य कहे । अर जहां अंतरात्मा सम्यग्दृष्टीकौं कह्या तहां उपादेय कह्या, किछू आशयमैं विरोध नाहीं वक्ताकी इच्छातैं अर्थ भेदहै है, ऐसा जानना ॥

आगैं बहिरात्माका स्वरूप कहै हैं;—

श्यामोगौरःकृशःस्थूलःकाणःकुंठोऽचलो फली ।
वनिता पुरुषः पंढो विरूपो रूपवानहम् ॥ ५९ ॥
ज्ञातदेहात्मविभ्रांतेरेषा भवति कल्पना ।
विवेकं पश्यतः पुंसो न पुनर्देहदेहिनोः ॥ ६० ॥

अर्थ—मैं काला हूं, गोरा हूं, पतला हूं, मोटा हूं, काणा हूं, हीन हूं, बलवान हूं, निर्बल हूं, स्त्री हूं, पुरुष हूं, नपुंसक हूं, विरूप हूं रूपवान हूं, ऐसी यह कल्पना है सो उपजै है शरीरमैं आत्मा की भ्रांति जाकै जो शरीरही आत्माहै ऐसैं मिथ्यादृष्टीकै होय है जातैं काला गोरा आदि देहके धर्म हैं आत्माके नाहीं, बहुरि जो पुरुष शरीरका

[illegible] ॥ ६० ॥

[illegible]ः ।
देह[illegible]ः [illegible] न जीवस्य [illegible]ः ॥ ६१ ॥

अर्थ—देहका [illegible] ॥ ६१ ॥

श्वाभ्रतिर्यङ्नरो देवो भवामीति विकल्पना ।
श्वाभ्रतिर्यङ्नरस्वर्गिगतो न स्वभावतः ॥ ६२ ॥

अर्थ—मैं नारकी हूं, तिर्यंच हूं, मनुष्य हूं, देव हूं ऐसी यह कल्पना है सो नारक तिर्यंच मनुष्य देवनिके शरीरके माने है स्वभावतैं नाहीं ॥ ६२ ॥

बालकोऽहं कुमारोऽहं तरुणोऽहमहं जरी ।
एता देहपरिणामजनिताः संति कल्पनाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—मैं बालक हूं, मैं कुमार हूं, मैं तरुण हूं, मैं वृद्ध हूं ऐसैं कल्पना है ते शरीरके परिणाम करि उपजीहै ॥ ६३ ॥

विदग्धः पंडितो मूर्खो दरिद्रः सधनोऽधनः
कोपनोऽसूयको मूढो द्विष्टस्तुष्टा शठोऽशठः ॥ ६४ ॥
सज्जनो दुर्जनो दीनो लुब्धो मत्तोऽप्रमानितः ।
जातचित्तात्मसंभ्रांतिरेषा भवति शेमुषी ॥ ६५ ॥

अर्थ—मैं मनुष्यहूं, पंडितहूं, मूर्खहूं, दरिद्रीहूं, धनवानहूं, निर्धनहूं, भोगीहूं, ईर्षालुहूं, मोहीहूं, द्वेषीहूं, रागीहूं, अज्ञानीहूं, ज्ञानीहूं, सज्जनहूं, दुर्जनहूं, दीनहूं, लोभीहूं, प्रमादी हूं अपमानसहितहूं ऐसी यह बुद्धि उपजैहै रागादिकभावनिमैं आपेकी भांति जाकै ऐसा जो पुरुष ताके होयहै ॥ ६४-६५ ॥

आगे मिथ्याबुद्धि सम्यक् बुद्धिका फल कहैहैं;—

देहे यात्ममतिर्जन्तोः सा वर्द्धयति संस्थितिम्।
आत्मन्यात्ममतिर्या सा नयो नयति निर्वृतिम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो देहविषै आपकी बुद्धि है सो जीवके संसार बढावै बहुरि जो आत्माविषै आत्मबुद्धि है सो शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करैहै ॥ ६६ ॥

यो जागर्त्यात्मनः कार्ये कायकार्ये स मुंचति।
यः स्वपित्यात्मनः कार्ये कायकार्ये करोति सः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्माके कार्यमैं जागैहै अपने हितमैं सावधानहै सो पुरुष शरीरके कार्यकौं त्यागैहै शरीरसंबंधी क्रिया मैं उदासीन रहैहै, बहुरि जो आत्माके कार्य विषै सोवैहै आत्माके हित मैं उद्यमी नाहीं सो शरीरसंबंधी क्रियाकौं करैहै ॥ ६७ ॥

ममेदमहमस्यास्मि स्वामी देहादिवस्तुनः।
यावदेषा मतिर्बाह्ये तावद्ध्यानं कुतस्तनम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—ये शरीरादि परद्रव्य मेरा है अर मैं शरीरादि परवस्तुका स्वामीहूं ऐसी बुद्धि जहां ताईं बाह्य परद्रव्यविषैं है तहां ताईं ध्यान कहांतै होय ॥ ६८ ॥

नाहं कस्यापि मे कश्चिन्न भावोऽस्ति बहिस्तनः।
यदैषा शेमुषी साधोः शुद्धध्यानं तदा मतम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—मैं कोई बाह्य पदार्थका नाहीं अर बाह्यपदार्थ मेरा कोई नाहीं ऐसी यह बुद्धि जब साधुकै होय तब शुद्धध्यान कराईं ॥ ६९॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमन्मथमत्सराः।
न यस्य मानसे संति तस्य ध्यानेऽस्ति योग्यता ॥७०॥

अर्थ—जाके मन विर्षें राग अरद्वेष अर मान अर क्रोध अर लोभ अर मत्सर अर काम अर ईर्षामात्र ये नाहीं ता पुरुषकै ध्यान विर्षें योग्यताहै ॥ ७० ॥

रागद्वेषादिभिः क्षिप्तं मनः स्थैर्यं प्रचाल्यते।
कांचनस्येव काठिन्यं दीप्यमानैर्हुताशनैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—रागद्वेषादि करि आक्षिप्त ऐसी मनकी थिरता चलायमान होजायहै जैसैं देदीप्यमान अग्नि करि सुवर्णका कठिनपनां चलाय मान होजाय तैसैं।

भावार्थ—मन चाहे जैसा थिर होय परंतु रागद्वेषादि करि चलाय मान होहीं जायहै ॥ ७१ ॥

विद्यमाने कषायेऽस्ति मनसि स्थिरता कथम्।
कल्पांतपवनैः स्थैर्यं तृणं कुत्र प्रपद्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—जैसैं प्रलयकालकी पवनविर्षें तृणहै सो थिरताकौं कैसैं प्राप्त होय तैसैं कषाय भाव विद्यमान होत संतैं मनकी थिरता कैसैं होय ॥ ७२ ॥

अक्षय्यकेवलालोकविलोकितचराचरम्।
अनंतवीर्यशर्माणममूर्त्तमनुपद्रवम् ॥ ७३ ॥

१ यह श्लोक वचनिकाकी प्रतिमें नहींहै, संस्कृत प्रतिसे लिख कर वचनिका कर दी है।

निरस्तकर्मसंबंधं सूक्ष्मं नित्यं निरास्रवम्।
ध्यायतः परमात्मानमात्मनः कर्मनिर्जरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—अविनाशी जो केवल दर्शन केवल ज्ञान तिनकरि देखै वा जानैहै चराचर समस्त वस्तु जानैं, बहुरि अनंतहै स्वरूपतैं न चलनै रूप वीर्य अर निराकुलतारूप आनंद जाकैं, अर वर्णादि रहित अमूर्तीकहै, अर रोगादि उपद्रव रहितहै, अर दूर कियाहै समस्त कर्मकाबंध जानैं, बहुरि जाको मन. पर्ययज्ञानी भी देख सकै नाहीं ऐसा सूक्ष्महै, नित्यहै, अर रागादिकके अभावतैं निरास्रवहै ऐसा जो परमात्मा सिद्ध भगवान ताहि ध्यावता जो पुरुष ताकै आपकै कर्मनिकी निर्जरा होय है ॥ ७३–७४ ॥

आत्मानमात्मना ध्यायन्नात्मा भवति निर्वृतः।
पर्ययमात्मनाऽऽत्मानं पावकी भवति द्रुमः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जैसैं वृक्षहै सो वृक्षकरि घिस्या संता अग्निरूप आपकौ प्राप्त होयहै तैसैं आत्माहै सो आपकरि आपकौ ध्यावता संता सुखी होयहै, सिद्ध स्वरूप होयहै ॥ ७५ ॥

न यो विविक्तमात्मानं देहादिभ्यो विलोकते।
स मज्जति भवांभोधौ लिंगस्थोऽपि दुस्तरे ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो पुरुष देहादि परद्रव्यनितै आपकौ न्यारा नाहीं देखैहै नाहीं श्रद्धान करै है सो पुरुष मुनि आदिके बाह्य लिंगके लिएहू भी दुस्तर संसार समुद्र विषै डूबै है, द्रव्यलिंगी मुनिधारक भी संसारी ही रहैं तब और औरनिकी कहा कथा है ॥ ७६ ॥

सविज्ञानमविज्ञानं विनश्वरमनश्वरम्।
सदानात्मीयमात्मीयं सुखदं दुःखदायकम् ॥ ७७ ॥

अनेकमेकमंगादि मन्यमानो निरस्तधीः।
जन्ममृत्युजरावर्ते बंभ्रमीति भवोदधौ ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी पुरुष शरीरादि जे अचेतन पदार्थ तिनकौं चेतन मानता अर विनाशीककौं अविनाशी मानता अर सदा आपका नाहीं ताकौं आपका मानता अर दुःखका कारण ताकौं सुखदायी मानता अर एक नाहीं ताकौं एक मानता सो जीव संसारसमुद्रविषैं अतिशयकरि भ्रमैहै कैसाहै संसारसमुद्र जन्म मरण जरारूप हैं भौरे जा विषैं ॥ ७७-७८ ॥

आत्मनो देहतोऽन्यत्वं चिंतनीयं मनीषिणा।
शरीरभारमोक्षाय सायकस्येव कोशतः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जैसैं तरकशतैं तीरकौं न्यारा देखिए तैसैं बुद्धिवान पुरुषकरि शरीरका भार त्यागनेके अर्थि मोक्ष होनेके अर्थि शरीरतैं आत्माका भिन्नपना चिंतवना योग्यहै ॥ ७९ ॥

या देहात्मैकताबुद्धिः सा मज्जयति संसृतौ।
सा प्रापयति निर्वाणं या देहात्मविभेदधीः ॥ ८० ॥

अर्थ—जो देहमैं अर आत्मामैं एकताकी बुद्धिहै सो संसारमैं डुबो वैहै अर जो शरीरकी अर आत्माकी भिन्नबुद्धिहै सो मोक्षकौं प्राप्त करैहै ॥ ८० ॥

यः शरीरात्मनोरैक्यं सर्वथा प्रतिपद्यते।
पृथक्त्व शेमुषी तस्य गूथमाणिक्ययोः कथम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो देह अर आत्मा विषैं सर्वथा एकपना मानैहै ताकै विष्टा अर माणिक्यरत्नविषैं भिन्नपनेकी बुद्धि कैसैं होय।

भावार्थ—आत्मा तौ रत्नसमान पवित्रहै अर देह विष्टासमान अपवित्रहै सो कारणवश विष्टामैं तिष्ठता जो रत्न ताहि जैसैं मूर्ख एक मानै

तैसैं कर्मोदयके वश शरीरमें तिष्ठता जो आत्मा ताहि मिथ्यादृष्टी एक मानैहै ऐसा जानना ॥ ८१ ॥

देहचेतनयोर्भेदो भिन्नज्ञानोपलब्धितः।
सर्वदा विदुषा ज्ञेयश्चक्षुः घ्राणार्थयोरिव ॥ ८२ ॥

अर्थ—ज्ञानवान करि देहका अर चेतनका भेद जानना योग्य है जातैं भिन्न ज्ञानकरि जाननेमें आवैहै जैसैं नेत्र इंद्रिय अर नासिका इंद्रियके विषय जे रूप गंध ते भिन्नज्ञानकरि जाननेमें आवैहैं तातैं भिन्नहीहैं।

भावार्थ—देहतौ इंद्रियज्ञानकरि दीसैहै अर आत्मा स्वसंवेदनकरि दीसैहै, इंद्रियज्ञानकरि आत्मा न दीसैहै अर स्वसंवेदनमैं शरीर न आवैहै, ऐसैं न्यारे ज्ञान करि जाने जावैहै तातैं शरीर अर आत्मा भिन्नहै; जैसैं रूप नेत्र करि जान्या जावैहै गंध नासिकाकरि जानिए है, रूप नासिकाकरि न जानिएहै अर गंध नेत्रकरि न जानिएहै; तातैं गंध रूप भिन्न भिन्नहै ऐसा अनुमान दिखाया है ॥ ८२ ॥

न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्वृद्धितो भवेत्।
जीवस्य सह देहेन तेनैकत्वं कुतस्तनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जा शरीरकी हानितैं जीवकै हानि नाहीं अर जाशरीरकी वृद्धितैं जीवकी वृद्धि नाहीं होयहै, तातैं जीवकै देहके साथ एकपना काहेका? ॥ ८३ ॥

तत्वतः सह देहेन यस्य नानात्वमात्मनः।
किं देहयोगजैस्तस्य सहैकत्वं सुतादिभिः ॥ ८४ ॥

अर्थ—परमार्थतैं जिस आत्माकै देहके साथ भिन्नपनाहै ताकै देहकै संयोगतै उपजे जे पुत्रादिक तिनकरि एकपना कैसैं होय ॥ ८४ ॥

ममत्वधिषणा येषां पुत्रमित्रादिगोचरा।
साऽऽत्मरूपपरिच्छेदच्छेदिनी मोहकल्पिता ॥ ८५ ॥

अर्थ—जिनके पुत्र मित्रादिविषैं जो ये मेरे हैं ऐसी ममत्वबुद्धि है तिनके ऐसी बुद्धि आत्मज्ञानकी नाश करनेवाली मोहकरि भई।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयकरि कल्पना मात्रहै सत्यार्थ नाहीं ॥

पत्तनं काननं सौधमेषा नात्मधियांमतिः ।
निवासो दृष्टतत्वानामात्मैं वास्त्यक्षयोऽमलः ॥ ८६ ॥

अर्थ—मैं नगरमैं वसूं हूं वनमैं वसूं हूं महलमैं वसूं हूं ऐसी यह बुद्धि आत्मज्ञानरहित मिथ्यादृष्टीनिकै होयहै, बहुरि देख्याहै तत्व जिननैं ऐसे सम्यग्दृष्टीनिके अविनाशी, नित्य, निर्मल ऐसा जो आत्मा सो ही निवास है ॥ ८६ ॥

शुद्धस्य जीवस्य निरस्तमूर्तेः
सर्वे विकाराः परकर्मजन्याः ।
मेघादिजन्या इव तिग्मरश्मे-
र्विनश्वराः संति विभास्वरस्य ॥ ८७ ॥

अर्थ—अमूर्तीक जो शुद्ध आत्मा ताकै समस्त विकार हैं ते कर्मोदयतैं उपजैहैं,

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि करि देखिए तौ विकार कर्मजनित है किछू आत्माके स्वभाव नाहीं; जैसैं देदीप्यमान जो सूर्य ताके विनाशीक जे विकार (कहूं थोडा प्रकाश होना कहूं बहुत प्रकाश होना इत्यादिक) बादला आदिके निमित्तसैं होयहैं, स्वभावजनित नाहीं ॥ ८७ ॥

दृष्टात्मतत्वो द्रविणादिलक्ष्मीं
न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम् ।
विपक्षलक्ष्मीं भुवने विवेकी
प्रपद्यते चेतसि कः स्वकीयाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—देख्याहै आत्माका स्वरूप जानै ऐसा पुरुषहै सो कर्मोदयकरि उपजी जो धनधान्यादिकी लक्ष्मी ताहि आपकी न मानै है, लोकविषै ऐसा कौन विवेकीहै जो शत्रुकी लक्ष्मीकौं चित्तविषै आपकी मानै ॥ ८८ ॥

ज्ञानदर्शनमयं निरामयं
मृत्युसंभवविकारवर्जितम् ।
आमनंति सुधियोऽत्र चेतनं
सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—लोकविषै पंडितहैं ते आत्माकौं ऐसा मानैं हैं:—आत्मज्ञानदर्शनमयीहै अर रोगरहितहै अर मरण उपजनं आदि विकाररहितहै अर नष्टभयाहै पाप जाका ऐसा निर्मल है अविनाशीहै सूक्ष्महै ॥ ८९ ॥

विग्रहं कृमिनिकायसंकुलं
दुःखदं हृदि विचिंतयंति ये ।
गुप्तिबद्धमिव ते सचेतनं
मोचयंति तनुपंजरमंत्रितम् ॥ ९० ॥

अर्थ—कीडानिके समूहकरि भरया दुःखदायी ऐसा जो शरीर ताहि हृदयविषै जे पुरुष भिन्न विचारैहैं ते पुरुष शरीर रूप पंचकरि बंध्या ऐसा जो आत्मा ताका मानौं गुप्तिबंधन खोलैहैं ।

भावार्थ—जे शरीर अर आत्माकौं भिन्न भावैहैं तिनकैं कर्मबंधकी निर्जरा होयहै ॥ ९० ॥

स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे
पर्यंकबंधस्थितपाणिपद्मः ।
नासाग्र संस्थापित दृष्टिपातो
मंदीकृतोच्छ्वासविशुद्धवेगः ॥ ९१ ॥

विधाय वश्यं चपल स्वभावं
मनोमनीषी विजिताक्षवृत्तिः ।
विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोषं
विविक्तमात्मानमनन्यचित्तः ॥ ९२ ॥

अर्थ—नाहीं अन्य वस्तुविर्षें चित्त जाका ऐसा ज्ञानी पुरुष मुक्तिके अर्थि रागादिदोपरहित समस्त परद्रव्यनितैं भिन्न जो आत्मा ताहि ध्यावैहै कैसाहै सो पुरुष दंशमशकादिकी बाधारहित क्षेत्रविर्षें तिष्ठ करि पर्यंकासनविर्षें धरेहैं हस्तकमल जानें बहुरि नासिकाके अग्रविर्षें थाप्याहै दृष्टिका पडना जानें बहुरि वृद्धिकौं प्राप्त भया ऐसा श्वासोच्छ्वासका वेग सो मंद कियाहै बहुरि चंचलहै स्वभाव जाका ऐसा जो मन ताहि वस करिकैं जीतीहै इंद्रियनिकी परणति जानें ऐसा पुरुष आत्माकौं ध्यावैहै ॥ ९१–९२ ॥

अभ्यस्यतो ध्यानमनन्यवृत्ते-
रित्थं विधानेन निरंतरायम् ।
व्यपैति पापं भवकोटिबद्धं
महाशमस्येव कपायजालम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—या प्रकार पूर्वोक्त विधान करि अंतरायरहित निरंतर ध्यानकौं अभ्यास करता अर नाहींहै परपरणति जाकै ऐसा जो पुरुष ताकै कोटि भवकरि बांध्या जो पाप सो नाशकौं प्राप्त होवैहै, जैसैं उपशमभावसहित पुरुषकै कषायनिका समूह नाश होय तैसैं ॥ ९३ ॥

ध्यानं प्रतिष्ठेन विधीयमानं
कर्माणि भस्मीकुरुते विशुद्धम् ।
किं प्रेर्यमाणाः पवनेन नाग्नि-
धितानि मघोद्दहतींधनानि ॥ ९४ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुषकरि करया भया निर्मल ध्यान है सो कर्मनिकों भस्म करै है जैसें पवनकरि प्रेरयाभया अग्नि है सो सघनवन है ताहि भस्म करै है, तिनहि दीपकहा नाहीं दग्ध करै है, करै ही है ॥ ९४ ॥

त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्त्तिः
सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा ।
न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी
ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धिः ॥ ९५ ॥

अर्थ—दानकरि हीन जो पुरुष ताकी कीर्ति कैसे होय, अर सत्यकरि हीन पुरुषकी पूजा कैसे होय, अर न्यायकरि हीन पुरुषकै लक्ष्मी कैसे होय, अर ध्यान करि हीन जो पुरुष ताकै सिद्धि जो मोक्ष सो कैसे होय ॥ ९५ ॥

तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां
शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम् ।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततंद्रो
न सिध्यति ध्यानमृते तथाऽपि ॥ ९६ ॥

अर्थ—घोर तपनिकौ निरंतर धारै तौ धारो, बहुरि समस्त शास्त्रनिकौ पढ़ै है तौ पढ़ो, आलस्य रहित चारित्रनिकौं आचरै है तौ आचरो, तौ भी ध्यान बिना सिद्धि न पावै है। तातें सर्वतें अधिक ध्यान मुख्य है ॥ ९६ ॥

ध्यानं सदस्य ददाति सिद्धिं
न तस्य संदेहः परमपदाप्ते ।
ध्यानाननं हंति दुष्कर्मवृंदं
न तस्य संदेहः परमसिद्धौ ॥ ९७ ॥

अर्थ—नाश कियाहै स्पर्शनादि सर्व इंद्रियनिके कार्यनिका समूह जानैं,

भावार्थ—जानैं स्पर्शादि विषयनिमैं इंद्रियनिका रागसहित परिणमन रोक्या है, बहुरि अपने आत्माके कार्यविषैं उद्यम सहितहै चित्तकी परणति जाकी ऐसा जो धन्य पुरुषहै सो ध्यानरूप कार्यकौं करै है ॥ १०३ ॥

यद्विडमानं जगदंतराले
धर्तुं न शक्यं मनुजामरेंद्रैः ।
तन्मानसं यो विदधाति वश्यं
ध्यानं स धीरो विदधात्यवश्यम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो जगतविषैं हीडता डोलता नरेन्द्र देवेंद्रनिकरि न रोकने योग्य ऐसा जो मन ताहि वस करैहै सो धीर पुरुष निश्चयसेती ध्यानकौं करैहै ।

भावार्थ—जाके वशीभूत मन है सो ही ध्यान करनेकौं समर्थ है ॥ १०४ ॥

बाणैः समं पंचभिरुग्रवेगै-
र्विद्धत्रिलोकस्थितजीववर्गः ।
न मन्मथश्छिद्यति यस्य चित्ते
विनिश्चलश्छिद्यति तस्य योगः ॥ १०५ ॥

अर्थ—तीन लोकमें तिष्ठया जो जीवनिका समूह सो जानैं उग्र वेग जिनका ऐसे जे पंच बाण तिनकरि एकै काल बेध्या ऐसा जो काम सो जाके चित्तविषैं न छिदै ताके ध्यान निश्चल छिदै ॥ १०५

न रोषो न तोषो न मोषो न दोषो
न कामो न क्रोधो न दंभो न लोभः ।

न मानो न माया न खेदो न मोहः
यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेऽस्ति योगः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जा पुरुषके चित्तमें क्रोध नाहीं राग नाहीं चोरी नाहीं अन्यायादिदोष नाहीं काम नाहीं भय नाहीं दंभ नाहीं लोभ नाहीं मान नाहीं माया नाहीं खेद नाहीं मोह नाहीं ता पुरुषकै ध्यान होयहै, जाकै रागादिविकार हैं ताकै ध्यान न होय है ॥ १०६ ॥

प्रवर्द्धमानोद्धतसेवनायां
जीवस्य गुप्ताविव मन्यते यः।
शरीरकुट्यां वसतिं महात्मा
हानाय तस्या यतते स शीघ्रम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—वर्द्धमानहै तीव्र दुःखरूप परणति जा विषै ऐसा जो शरीररूप कुटी ताविषै बंदीखानेकी वसती समान वसतीकौं जो मानैहै सो महात्मा तिस शरीरकुटीके नाशके अर्थि शीघ्रही यत्न करैहै, मोक्ष होनेका उपाय करैहै ऐसा जानना ॥ १०७ ॥

समाधिविध्वंसविधौ पटिष्ठं
न जातु लोकव्यवहारपाशम्।
करोति यो निस्पृहचित्तवृत्तिः
प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—जो पुरुष एकाग्रचित्तके नाश करनेमें प्रवीण जो निंद्य लोकव्यवहार ताहि कदाचित् नाहीं करैहै अर वांछारहित है चित्तकी परणति जाकी ऐसे पुरुषके निर्मल ध्यान प्रवर्तै है ॥ १०८ ॥

विधीयते ध्यानमवेक्षमाणै-
र्यद्भूतबोधैरिह लोककार्यम्।

रौद्रं तदार्त्तं च वदंति संतः
कर्मद्रुमच्छेदनबद्धकक्षाः ॥ १०९ ॥

अर्थ—जो इस लोकसंबंधी कार्यकों वांछते जे अज्ञानी पुरुष तिन करि ध्यान करिएहै ता ध्यानकों संतपुरुष रौद्र वा आर्त्त कहैहै, कैसेंहैं संत पुरुष कर्मवृक्षके छेदनेकों बांधीहै कमर जिननैं ॥ १०९॥

सांसारिकं सौख्यमवाप्तुकामैः
ध्यानं विधेयं न विमोक्षकारि ।
न कर्षणं सस्यविधायि लोके
पलाललाभाय करोति कोऽपि ॥ ११० ॥

अर्थ—मोक्षका कर्त्ता जो ध्यान सो संसारके सुखकी वांछा करि करना योग्य नाहीं, जातैं लोकमैं धान्यकी उपजावनेवाली जो खेती सो पलालके लाभके अर्थि कोई भी करै नाहीं । धान्यके अर्थि जो खेती करैगा ताकै पलाल तो स्वयमेव ही होयगा। तैसैं मोक्षके अर्थि जो ध्यान करै है ताकै संसारसुखनी यावत् शुभगति तावत् स्वयमेव होयहै, बहुरि संसारसुखकी वांछा करै तौ उलटा रौद्रध्यान होय तातैं संसारसुखकी वांछासहित ध्यान करना युक्त नाहीं ॥ ११० ॥

अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं
यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम् ।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा
ध्यानं सदाभ्यस्यतु मोक्तुकामः ॥ १११ ॥

अर्थ—जैसे दुःखतैं है जानना जाका ऐसा कठिन शास्त्रभी बहुत अभ्यास किया संता स्थिरताकों प्राप्त होयहै तैसैं ध्यानाभ्यास भी किया हुआ मोक्षकों प्राप्त करै है, तातैं मुक्त होनेका इच्छुक पुरुष सदा ध्यानाभ्यास करो ॥ १११ ॥

अवाप्य मानुष्यमिदं सुदुर्लभं
करोति यो ध्यानमनन्यमानसः।
भनक्ति संसार दुरंतपंजरं
स्फुटं स सद्यो गुरु दुःखमंदिरम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो यह दुर्लभ मनुष्यपनेकों पायकरि नाहीं है अन्यवस्तु-विषै मन जाका ऐसा ध्यान करैहै सो पुरुष दूर है अंत जाका ऐसा जो संसाररूपी पींजरा ताकौं प्रगटपने भेदैहै, कैसाहै संसाररूपी पींजरा बड़े दुःखनिके बसनेका घरहै ॥ ११२ ॥

यो जिनदृष्टं शमयमसहितं
ध्यानमपाकृतसकलविकारः।
ध्यायति धन्यो मुनिजनमहितं
चित्तनिवेशितपरमविचारः ॥ ११३ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनराजकरि कह्या जो कषायनिके अभावरूप शमभाव अर जन्मपर्यंत पापक्रियाका त्यागरूप यमभाव तिनकरि सहित जो ध्यान ताहि ध्यावैहै सो पुरुष धन्यहै, कैसाहै ध्यान मुनिजननिकरि पूजितहै, बहुरि कैसाहै सो ध्यानी पुरुष दूर कियेहैं रागादि सकल विकार जानैं, बहुरि चित्तविषै निवेशित कहिए उपज्याहै परमविचार कहिए आत्माका विचार जाकै ऐसाहै ॥ ११३ ॥

नाकिनिकायस्तुतपदकमलो
दीर्णदुरुत्तरभवभयदुःखाम्।
याति स भव्योऽस्थितगतिरनघां
मुक्तिमनश्वरनिरुपमसौख्याम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—सो पूर्वोक्त ध्यान करनेवाला भव्यपुरुष अविनाशी अर अनुपमहै सुख जाविषै ऐसी जो निर्मल मुक्ति अवस्था ताकौं प्राप्त होयहै,

कैसीहै मुक्ति अवस्था विदारेहैं नाशकियेहैं दुस्तर संसारके भय दुःख जानैं, वहुरि कैसाहै सो पुरुष देवनिके समूहनि करि स्तुतहैं चरणकमल जाके वहुरि अमर्यादरूपहै ज्ञान जाका।

भावार्थ—ऐसैं ध्यानका फल मुक्ति अवस्था कही ॥ ११४ ॥

सवैया तेईसा।

ध्यानसरूप कह्यो जिनराज व्रतादिसमाजसमेत विचारैं,
चित्त वसैं परमारथमें सब रागविरोध विकार विडारैं।
सो सुरपूजितपादसरोज अनंतगुणातम रूपनिहारैं,
मत्त रहैं सुखवारिधिमें नहिं जन्म भवावलिमें फिर धारैं॥

इत्युपासकाचारे पंचदश परिच्छेदः।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषै
पंद्रहमां परिच्छेद समाप्त भया।

ग्रंथकर्तुः प्रशस्तिः ।



अब आचार्य अपने गुरुकी परिपाटी कहैहैं;—

अभूत्समो यस्य न तेजसेनः
स शुद्धबोधोऽजनि देवसेनः ।
मुनीश्वरो निर्जितकर्मसेनः
पादाग्रविद्मणतेंद्रसेनः ॥ १ ॥

अर्थ—निर्मल है ज्ञान जाका ऐसा सो देवसेन नामा आचार्य मुनिनका ईश्वर प्रगट होता भया, तेज करि सूर्य जाके समान न होता भया, कैसाहै सो आचार्य जीतीहै कामकी सेना जानें, बहुरि चरणकमलनिविषै नम्रीभूत भएहैं इंद्रनिकी सेना कहिए देवनिका समूह जाकै ऐसा है ॥ १ ॥

दोषांधकारपरिमर्दनबद्धकक्षो
भूतस्ततोऽमितगतिर्भुवनप्रकाशः ।
तिग्मद्युतेरिव दिनः कमलावबोधी
मार्गप्रबोधनपरो बुधपूजनीयः ॥ २ ॥

अर्थ—तिस देवसेन आचार्यका शिष्य लोककौं प्रकाश: करनेवाला अमितगतिनामा आचार्य भया, कैसाहै सो मिथ्यावादिदोषरूपी अंधकारके नाश करनेकौं बांधीहै कमर जानें सो जैसें सूर्यतें कमलनिका प्रफुल्लित करनेवाला अर मार्गकौं प्रगट करनेमें तत्पर ऐसा पंडितनिकरि पूजनीक दिन प्रगटै तैसें देवसेन आचार्यके शिष्य अमितगति सो भी

कमला कहिए लक्ष्मी ताकी प्रफुल्लित करनेवाला अर मोक्षमार्गका प्रगट करनेवाला अर पंडितनिकरि पूजनीक होता भया ॥ २ ॥

विद्वत्समूहार्चितचित्रशिष्यः
श्रीनेमिषेणोऽजनि तस्य शिष्यः ।
श्रीमाथुरानूकनभः शशांकः
सदा विधूताऽऽर्हततत्त्वशंकः ॥ ३ ॥

अर्थ—ता अमितगति मुनिका शिष्य श्री नेमिषेण आचार्य होता भया कैसाहै सो पंडितानिके समूहकरि पूजितहै अनेक शिष्य जाके बहुरि श्रीमाथुरसंप्रदायरूप आकाशविषैं प्रकाशकरनेतैं चंद्रमा समानहै, बहुरि सदा नाश करीहै अर्हतभाषित तत्त्वनि विषै शंका जानैं ॥ ३ ॥

माधवसेनोऽजनि महनीयः
संयतनाथो जगति जनीयः
जीवनराशेरिव मणिराशी
रम्यतमोऽस्तोऽखिलतिमिराशी ॥ ४ ॥

अर्थ—तिस नेमिषेनके पदविषैं जगतविषै पूज्य संयमीनका नाथ श्री माधवसेन आचार्य प्रगट होता भया, कैसा है सो संसारी जीवनिका हितकारीहै अर सुंदर रत्ननिकी राशि ज्यौं समस्त मिथ्याभावरूप अंधकारका नाश करनेवाला ऐसा माधवसेन आचार्य भया ॥ ४ ॥

विजितनाकिनिकायमवत्रया
जयति यो मदनं पुरुविक्रमम् ।
त्यजति मां किमयं परनाशधी-
रिति कषायगणो विगतो यतः ॥ ५ ॥

अर्थ—जीत्याहै देवनिका समूह जानैं ऐसा महापराक्रमी जो काम ताहि तिरस्कारकरि जो जीतैहै सो यह आचार्य मौकौं कैसे छोड़ैगा

भी ज्ञानादिगुणनिकरि ऊंचाहै, मेरु ऊंचाहै ऐसे मेरुसमान उत्तुंग आमितगतिसूरि यह शास्त्र रचते भए ॥ ७ ॥

यदत्र सिद्धांतविरोधि भाषितं
विशोध्य मद्ग्राह्यमिमं मनीषिभिः।
पलालमत्यस्य न सारकांक्षिभिः
किमत्र शालिः परिगृह्यते जनैः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस शास्त्रविषै जो किछू सिद्धांतविरोध कहा होय ताहि शोधिकै बुद्धिवाननिकरि यह शुद्ध ग्रहण करना योग्यहै, जातै लोकनिमै सारके वांछक जे पुरुष तिनकरि पलाल छोडिकै कहा चांवल ग्रहन न कीजिएहै, कीजिएहीहै ॥ ८ ॥

(काव्य)

यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेः पापापहारोद्यतं
यावत्सूर्यमयं हिमेतरकरस्तिमिरं तमः शार्वरम्।
यावद्व्योमनि महीश्रमस्वचितं वातत्रयी विष्टपं
तावन्तावमिदं करोतु विदुषामभ्यस्यमानं मुदम् ॥

अर्थ—पापके हरनेमै उद्यमी जो जिनराजका मत सो जहां ताई तिष्ठै अर जहां ताई सूर्य रात्रि संबंधी सकल अन्धकारको हरै बहुरि जहां ताई पर्वतनिकरि अंकित जो लोक ताहि तीनो वात धरै तहां ताई यह श्रावकाचार शास्त्र अभ्यास किया संता ज्ञानीजननिकै आनंद करहु, ऐसे आचार्यने आशीर्वाद दियाहै ॥ ९ ॥

इति ग्रंथकर्तुः प्रशस्तिः।

भाषाकारकी प्रशस्ति ।

रागादिक हानि जहां वर्त्तै वर्द्धमानरूप
तातैं ज्ञानजनित प्रमोद बढ़वारीहै ।
सहित प्रमाद त्रसहिंसा आदि पाप मल
धोय धोय अधिक विशुद्धिता मन्हारीहै ॥
ऐसैं दर्शनादि थान एकादश श्रावककै
तामैं एक भी जो नर धारै दृगधारी है ।
साधुपद चाह जाकै नांहीं उर मोगदाह
"भागचंद" ताकी बार बार बलिहारी है ॥ १ ॥
गोपाचलके निकट सिंधिया नृपति कटकवर,
जैनी जन बहु बसैं जहां जिनभक्तिभारभर ।
तिनमैं तेरहपंथ गोष्ठि राजत विशिष्ट अति
पार्श्वनाथजिनधाम रच्यो जिन शुभ उतंग अति ॥
तहँ देशवचनिकामय भली "भागचंद" रचना करिय ।
जयवंत होउ सतसंग यह जा प्रसाद बुधि विस्तरिय ॥ २ ॥
शब्द अर्थ जो न्यून तहँ सोधहु सुधी सुजान ।
मोहि अल्पश्रुत जानिकै हंसहु न सगुन निधान ॥ ३ ॥
साधर्मिजनकी प्रेरणा वा त्रिलक्षण अनुराग ।
उभयहेतुवश मैं लिख्यो विमति अर्थ हि त्याग ॥ ४

भजूं देव सर्वज्ञ अज्ञजनभ्रमतमनाशक,
ध्याऊं सिद्धसमूह ध्यान जिस स्वपरप्रकाशक ।
आचारज मुनिराज तने पदवारिज वंदूं
उपाध्याय गुण गाय पापतरुमूल निकंदूं ॥
पुनि सर्व साधु यह लोकमें तहँ नितप्रति चितवन करूं।
यह मंगल उत्तम शरण लखि बार बार जिन चित धरूं॥५॥
संवतसर उगणीससौ द्वादश ऊपरि धार ।
अष्टाह्निक आषाढ़की पूर्ण वचनिका सार ॥ ६ ॥

इति श्री आचार्य अमितगतिकृत श्रावकाचारकी
वचनिका समाप्त भई ।

* * *
